निवेदन

प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत 'द डेवेलपमेंट आव हिन्दी लिटरेचर इन द फर्स्ट क्वार्टर आव द ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी' [The Development of Hindi Literature in the First Quarter of the Twentieth Century) नामक थीसिस का अविकल अनुवाद होते हुए भी प्रस्तुत ग्रंथ में थोड़े से स्थलों पर रूपातर की कठिनाई के कारण कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिए गए हैं।

अनुवाद के संबंध में मुझे पारिभाषिक शब्दों के गढ़ने में बड़ी कठिनाई हुई और अत्यधिक परिश्रम के पश्चात् भी मुझे डर है कि कितने ही शब्द समुचित और उपयुक्त अर्थद्योतक नहीं बन सके हैं। उदाहरण के लिए चरित्र के सबंध में 'टाइप' (Type) का रूपांतर मैंने 'प्रकार-विशेष' किया है, परंतु इससे स्वय मुझे ही सतोष नहीं है। किन्तु और किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में इसी से संतोष कर लेना पड़ा है। ऐसे ही अन्य कितने ही पारिभाषिक शब्द सतोषजनक नहीं बन सके हैं। उनके लिए मैं हिन्दी पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ और साहित्यिकों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे शीघ्र ही आधुनिक आलोचना संबंधी पारिभाषिक शब्दावली की ओर ध्यान दें।

पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने और विशिष्ट स्थलों के अनुवाद में मुझे मेरे मित्र पंडित रामानन्द तिवारी, एम० ए०, से बहुत अधिक सहायता मिली। सच बात तो यह है कि बिना उनकी सहायता के इस कार्य का पूरा होना यदि असभव नहीं तो कठिन अवश्य था। स्वय व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने जो अपना अमूल्य समय मेरे लिए दिया और इतना अधिक श्रम उठाया उसके लिए मैं उनका चिर कृतज्ञ हूँ। इस अनुवाद में यदि कोई विशेषता है तो उसका सारा श्रेय तिवारी जी को ही है। गुरुवर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा और डाक्टर रामकुमार वर्मा ने पांडुलिपि को शोध कर इस पुस्तक का मूल्य और महत्व बहुत अधिक बढ़ा दिया। उनके स्नेह के लिए धन्यवाद देना मेरी धृष्टता होगी, परतु हम आभारी शिष्यों के पास और है ही क्या! बीसवीं शताब्दी की यही गुरु-दक्षिणा हो सकती है।

थीसिस प्रस्तुत करते समय मेरे परीक्षक राजा डा० श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर डा० श्यामसुंदर दास ने अपना अमूल्य समय देकर थीसिस की पांडुलिपि पढ़ी और अपने बहुमूल्य परामर्शों द्वारा मुझे बहुत सहायता दी। मई मास की कड़ी गर्मी में अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने जो कष्ट मेरे लिए उठाया उसके लिए मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ।

प्रूफ संशोधन और अनुक्रमणिका बनाने में मुझे गुरुवर पंडित प्रताप चंद्र चतुर्वेदी और श्री विश्वनाथ सिंह से बड़ी सहायता मिली और पंडित पारसनाथ मिश्र ने भी समय समय पर मेरी बड़ी सहायता की। मैं उनका चिर ऋणी हूँ। पुस्तक के प्रकाशन की योजना और मुद्रण की सुरुचिपूर्ण व्यवस्था के लिए मैं हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय तथा दीक्षित प्रेस के संचालक और प्रबंधक पंडित मगनकृष्ण दीक्षित का कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग
३० मार्च, १९४२

श्रीकृष्ण

परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ डा० श्रीकृष्ण लाल के मूल अँग्रेजी थीसिस का हिन्दी रूपान्तर है। इसी थीसिस पर डा० लाल को प्रयाग विश्वविद्यालय ने इस वर्ष डी० फ़िल्० की उपाधि दी है। थीसिस के परीक्षकों में रावराजा डा० श्यामबिहारी मिश्र तथा रायबहादुर डा० श्यामसुन्दर दास भी थे। इन दोनों ही परीक्षकों ने डा० लाल की इस कृति के संबंध में पूर्ण संतोष प्रकट किया था। एक परीक्षक का तो कहना था कि उन्होंने भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के अब तक जितने भी डी० फिल्० अथवा डी लिट्० के थीसिस परीक्षक के रूप में जाँचे हैं उन सब में इसे श्रेष्ठतम पाया।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०—१९०० ई०)' शीर्षक डी० फिल्० थीसिस के संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर के परिचय में मैंने इस कृति का उल्लेख किया था। यह संतोष का विषय है कि अब इस ग्रंथ के प्रकाशित हो जाने से हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल (१८५०—१९२५ ई०) का संबद्ध, विस्तृत, आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत हो गया है। आशा है कि डा० वार्ष्णेय और डा० लाल अपनी अपनी शताब्दियों के शेष अंश के अध्ययन को भी निकट भविष्य में पूर्ण करने का यत्न करेंगे।

डा० लाल के ग्रंथ को अंग्रेजी मूल तथा हिन्दी रूपान्तर दोनों ही में ध्यानपूर्वक पढ़ने का मुझे अवसर मिला। मैं निःसंकोच रूप से कह सकता हूँ कि वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के विकास का ऐसा सूक्ष्म, निष्पक्ष, तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रथम बार हुआ है। अन्य कालों के अध्ययन के लिए यह अध्ययन पथप्रदर्शक सिद्ध होगा। मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे एक विद्यार्थी के हाथ से ऐसा महत्वपूर्ण कार्य हो सका।

ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट-स्वरूप अँग्रेजी-हिन्दी तथा हिन्दी-अँग्रेजी पारिभाषिक शब्दकोष दिया गया है। विश्वास है कि हिन्दी में आधुनिक आलोचना-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में यह विशेष सहायक सिद्ध हो सकेगा।

हिन्दी विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग।

धीरेन्द्र वर्मा
चैत्र पूर्णिमा, सं० १९९९ वि०

श्रद्धेय डा० धीरेन्द्र वर्मा को

जिनके चरणों में बैठकर मैंने हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया
और जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन ने मुझे
साहित्य-सेवा में प्रवृत्त किया।

विषय-सूची

पहला अध्याय

भूमिका

आधुनिक हिन्दी साहित्य की विशेषताएँ

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल विकास और परिवर्तन का युग है। हमारे साहित्य के इतिहास में ऐसा एक भी युग न था जिसने इतने बहुमुखी विकास और इतनी प्रचुर प्रतिभा का परिचय दिया हो। इस काल में प्रत्येक विभाग का विकास और प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हुए कि इसे साहित्यिक क्रांति का युग कह सकते हैं। इस काल की प्रमुख विशेषता साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों की विविधता है। उन्नीसवीं शताब्दी का पद्य-साहित्य शृंगारिक मुक्तक-काव्यों का एक वृहत् वन-खंड था जिसमें प्रबंध और गीति-काव्यों के कुसुमों का अभाव सा दिखाई पड़ता है। गद्य-साहित्य की दशा और भी शोचनीय थी। कुछ थोड़े से निबंधकार, जिनमें लगभग सभी किसी न किसी पत्रिका के संपादक थे, पत्रों में लिख लेते थे। उपन्यास क्षेत्र में 'चंद्रकांता' और 'गुलबकावली' जैसी कुछ पुस्तकें थीं। समालोचना 'आनंद-कादंबिनी' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के कुछ पृष्ठों तक ही सीमित थी। शिक्षा-प्रसार और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन की रुचि के फल-स्वरूप नाटक-साहित्य की सृष्टि हुई, किन्तु फिर भी मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गए। जो थे भी उनमें पद्यों की भरमार थी। उन्नीसवीं शताब्दी से जो भाषा की परंपरा प्राप्त हुई, उसका शब्द भंडार बहुत क्षीण था, उसमें विकृत, अप्रचलित एवं प्राचीन शब्दों की अधिकता थी। कला और विचार-प्रदर्शन के लिए समुचित शब्दों का एकांत अभाव

था। किन्तु पचीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वन खंड के स्थान पर महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यानक काव्य (Ballads), प्रेमाख्यानक काव्य (Metrical Romances), प्रबंध-काव्य, गीति-काव्य और गीतों (Songs) ने सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ हुई, समालोचना और निबंधों की अपूर्व उन्नति हुई। नाटकों की भी सतोषजनक उन्नति हुई, यद्यपि इनके विकास के लिए यह आधुनिक काल—साहित्यिक नियमों और विधानों का विरोधी काल—अत्यन्त अनुपयुक्त था, क्योंकि नाटकों की स्थिरता और प्रभाव इन्हीं विधानों पर निर्भर है। केवल पचीस वर्षों में ही भाषा इतनी समृद्ध और शक्तिशालिनी हो गई कि उसमें उत्कृष्ट श्रेणी के गद्य और पद्य सरलतापूर्वक ढाले जाने लगे। भाषा की असीम शक्ति प्रदर्शन के लिए केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। १९०० में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'बलो वर्द' में लिखा था :

> तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महराज।
> बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मोहताज।
> तुम्हें पकड़ कर देते हैं जो महा निर्दयी जन-सिरताज,
> धिक् उनको, उन पर हँसता है, बुरी तरह यह सकल समाज।

चौबीस वर्ष बाद १९२४ में सुमित्रानंदन पंत 'परिवर्तन' में लिखते हैं :

> अहे वासुकि सहस्र फन!
>
> लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर;
> छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर।
> शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,
> घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।
> मृत्यु तुम्हारा गरल-दंत, कंचुक कल्पांतर!
> अखिल विश्व ही विवर,
> वक्र—कुंडल,
> दिङ् मंडल।

[पल्लव—पृष्ठ १२०]

परंतु साहित्यिक रूपों की अनेकरूपता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण इस युग की आत्मा है। हिन्दी साहित्य का वीर गाथा-काल वीरता का युग था। उसमें वीर रस की उत्कृष्ट व्यंजना हुई। उसी प्रकार भक्ति काल और रीति काल में भक्ति और शृंगार की प्रधानता रही। हिन्दी साहित्य की यही तीन प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों में इन तीनों में किसी की प्रधानता न रही, फिर भी इस काल का साहित्य इन सभी प्रवृत्तियों की रचनाओं से परिपूर्ण है। वस्तुतः यह वीर युग न था फिर भी इसमें वीर-रस-पूर्ण काव्यों का अभाव न था। उदाहरण-स्वरूप माखनलाल चतुर्वेदी की 'जीवन-फूल' कविता देखिए :

आने दे दुख के मेघों को घोर घटा घिर आने दे,
जल ही नहीं, उपल भी उसको लगातार बरसाने दे।
कर कर के गंभीर गर्जना भारी शोर मचाने दे,
उससे कह दे गहरे झोंके तू जितने मन माने दे।
किन्तु कहे देता हूँ तुझसे सब जाऊँगा भूल,
तेरे चरणों पर ही अर्पित होगा जीवन-फूल।

[राष्ट्रीय वीणा, द्वितीय भाग—पृष्ठ २]

इन कविताओं में वीरत्व की भावना चंद और भूषण की कविताओं से कम नहीं है। परन्तु इस काल के वीरत्व की प्रकृति पिछले कालों की प्रकृति से भिन्न और कुछ बातों में उत्कृष्ट भी है। पृथ्वीराज, आल्हा, ऊदल, शिवाजी और छत्रसाल निस्संदेह महावीर थे, उन्होंने अनेक युद्ध किए और विजय पाई, परंतु जहाँ तक वीरत्व की भावना का संबंध है, आधुनिक सत्याग्रही, जिसका अटल निश्चय है :

भू-खंड बिछा, आकाश ओढ़, नयनोदक ले मोदक प्रहार,
ब्रह्मांड हथेली पर उछाल, अपना जीवन-धन ले निहार,
सुरपुर तज दे आराध्य कहे तो चल रौरव के नरक-द्वार।

[प्रोत्साहन-"भारतीय आत्मा," प्रभा, अगस्त १९२२]

यदि उनसे अधिक नहीं तो उसी कोटि का वीर है।

भक्ति भी इस काल की प्रधान भावना नहीं है, परन्तु भक्तिपूर्ण कविताएँ इस काल में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं और उनमें कुछ तो बहुत उच्च कोटि की हैं। उदाहरण के लिए :

डोलती नाव, प्रखर है धार
सँभालो जीवन खेवन-हार ।

['निराला", गीत, परिमल पृ० ८०]

अथवा

जीवन जगत के, विकास विश्व वेद के हो,
परम प्रकाश हो, स्वयं ही पूर्ण काम हो,
विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम,
खेद भय-रहित, अभेद अभिराम हो ।
कारण तुम्हीं थे, अब कर्म हो रहे हो तुम्हीं,
धर्म-कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो,
रमणीय आप महा मोदमय धाम सो भी,
रोम रोम रम रहे कैसे तुम राम हो ?

["प्रसाद" झरना—पृ० ४९]

कला और व्यंजना की दृष्टि से ये भक्तिपूर्ण उद्गार भक्तिकाल के पदों की समानता करते हैं, परंतु इनमें उस युग की हार्दिक सत्यता (Sincerity) और भाव-प्रवणता का अभाव है क्योंकि आधुनिक काल की भक्ति हार्दिक से कहीं अधिक मानसिक है ।

आधुनिक काल यद्यपि शृंगारिक नहीं है तथापि इसमें शृंगार रस की कविताओं की भरमार है । सुमित्रानंदन पंत की 'ग्रंथि' इस युग के उद्दाम यौवन का एक ज्वलंत उदाहरण है । उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित पद्य लिया जा सकता है :

प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, सरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी ।
कमल पर जो चारु दो खंजन प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को ।

[ग्रंथि—पृष्ठ १४]

यहाँ भक्ति और रीति काल की शृंगारिक कविताओं तथा आधुनिक काल की शृंगारिक कविताओं में अंतर स्पष्ट है। आधुनिक काल में उपमा और रूपकों की परंपरागत रूढ़ियों का निर्वाह नहीं है वरन् वे सब नवीन और स्वतंत्र हैं तथा प्रकृति से ली गई हैं। इस युग की शृंगार भावना भी रीतिकाल से भिन्न है। मतिराम के इस सवैया में :

> कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई,
> आँखिन मे अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई।
> को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसुकानि मिठाई!
> ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥

कवि की नायिका का रूप हम अपनी आँखों के सामने स्पष्ट देख सकते हैं। वह काल्पनिक नहीं वरन् सत्य है, उसका सौन्दर्य अतीन्द्रिय नहीं है; हम अपनी सामान्य इन्द्रियों से उसका अनुभव कर सकते हैं। किन्तु आधुनिक नायिका की केवल कल्पना की जा सकती है। "निराला" की एक नायिका देखिए :

> चंचल अंचल उसका लहराता था—
> खिंची सखी-सी वह समीर से
> गुप चुप बातें करता—
> कभी ज़ोर से बतलाता था;
> विकसित-कुसुम-सुशोभित असित सुवासित
> कुंचित कच बादल से काले काले
> उड़ते, लिपट उरोजों से जाते थे,
> मार मार थपकियाँ प्यार से इठलाते थे,
> झूम झूम कर कभी चूम लेते थे स्वर्ण-कपोल
> जल-तरंग सा रंग जमाते हुए सुनाते बोल। इत्यादि

[शृंगारमयी, माधुरी, जनवरी १९२४)

इस काल की शृंगार-भावना विशुद्ध बुद्धिवादिनी है। वीर, शृंगार और भक्ति के अतिरिक्त करुणा और प्रकृति-चित्रण से पूर्ण कवितायें भी इस काल में पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। किन्तु इन सभी कविताओं का आधार मानसिक है।

अस्तु, प्राचीन और आधुनिक साहित्य में यह अंतर है कि प्राचीन साहित्य की वर्णित वस्तुएँ अपने मूल रूप में अनुरंजक हैं, आधुनिक साहित्य में वर्णित वस्तुओं का महत्त्व बुद्धि पर प्रभाव डालने के लिए है। प्राचीन कवि वस्तुओं के बाह्य प्रभाव का अधिक महत्त्व देते थे, आधुनिक कवि वस्तुओं के प्रभाव से चित्त में उत्पन्न होने वाले भावों तथा उनके आधार पर कल्पना-प्रसूत रूपों को प्रधानता देते हैं। आधुनिक कवि को वस्तु के प्रस्तुत उपादानों के वर्णन मात्र से संतोष नहीं होता, वह वस्तु के स्पर्श से जाग्रत होने वाली सभी भावनाओं तथा उनके आधार पर मन कल्पित सभी दृश्यों का अवतारणा करना चाहता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र का यमुना-वर्णन तमाल, कमल कुमुदिनी, शैवाल इत्यादि का उत्प्रेक्षामूलक विशद वर्णन है, परन्तु 'निराला' की 'यमुना के प्रति' कविता में वृंदावन, वंशीवट इत्यादि के अंतर्गत वैभव का चिन्तन और उससे जाग्रत होने वाली दूरतम कल्पनाओं और गूढ़तम भावनाओं का समावेश है। वर्णित वस्तु कवि की कल्पना-कसौटी पर चढ़कर एक विचित्र रूप धारण कर लेती है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्राचीन साहित्य का झुकाव आधुनिक साहित्य की अपेक्षा यथार्थवाद (Realism) की ओर अधिक था। वास्तव में बात ठीक इसके विपरीत है। प्राचीन कवियों का प्रयोजन अधिकांश में भावों (Ideas) से था, सत्यों (Facts) से नहीं। ये भाव सत्य से बहुत दूर थे, फिर भी प्राचीन कवियों के लिए वे सत्य से भी अधिक मान्य थे। उदाहरण-स्वरूप प्रमदाओं के पदाघात से अशोक का विकसित होना ले लीजिए। यह बात सत्य से ही नहीं संभावना की श्रेणी से भी बहुत दूर है, फिर भी रीतिकवियों के लिए यह भाव सत्य से भी अधिक मान्य था। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के भावों की व्यंजना बड़े यथार्थवादी ढंग से की गई है। आधुनिक साहित्य ने इन भावों का बहिष्कार कर सत्यों को अपनाया, किन्तु इन सत्यों की व्यंजना शैली बुद्धिमूलक, कल्पना-प्रधान और आदर्शवादी है। आधुनिक साहित्य में बुद्धिवाद की भावना परिव्याप्त है, विषय और उपादानों का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। कला की सचेतन-व्यंजना-शैली और साहित्यिक आदर्शों, विधानों और रूढ़ियों के विरोध के कारण आधुनिक काल बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक है।

परिवर्तन के कारण

आधुनिक साहित्य की क्षिप्र प्रगति और विकास तथा इन क्रांतिकारी

परिवर्तनों के तीन मुख्य कारण हैं : (१) भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना (२) पश्चिमीय विचारों तथा भावों का आयात और (३) अँगरेजी साहित्य का प्रभाव।

भारत में अँगरेज़ी राज्य एक अभूतपूर्व घटना थी। अँगरेज़ों ने मुग़ल और पठानों की भाँति बड़ी-बड़ी सेनाएँ लेकर भारत पर धावा नहीं किया। वे जहाज़ों पर व्यापार का माल लादकर आए और उन्होंने भारत में साम्राज्य स्थापित कर लिया। स्वामी विवेकानन्द ने इस अद्भुत व्यापार का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है :

"विशाल राजप्रासाद, पृथ्वी को कंपित करने वाली अश्वारोहियों और पदातिकों की सेनाओं की घन पद-चाप, रण-भेरी, युद्ध-तूर्य तथा मारू बाजे और राज-सिंहासन के वैभवपूर्ण दृश्य—इन सबके पीछे इंगलैण्ड की वास्तविक सत्ता सदा वर्तमान है—वह इंगलैण्ड जिसके यंत्रालयों की चिमनियों के धूम्र-पटल ही उसकी रण-पताकायें हैं, जिसका व्यापारी-वर्ग ही उसकी रण-वाहिनी है, संसार के व्यापार-केन्द्र ही जिसके रण-क्षेत्र हैं।"*
अँगरेज़ी राज्य वस्तुतः व्यापारी-वर्ग का राज्य है और इसके फल-स्वरूप इस युग के समाज में वैश्य-वृत्ति और वैश्य-वर्ग का प्रभुत्व स्थापित होगया जिससे हिन्दी साहित्य में एक नवीन युग का आरंभ हुआ।

भारतवर्ष में जब ब्राह्मणों की प्रभुता थी, हमारे काव्यकार, वाल्मीकि और व्यास; हमारे शास्त्रकार और दार्शनिक, गौतम, कपिल, कणाद, वैयाकरण पाणिनि और अलंकार-शास्त्र के रचयिता भरत सभी ऋषि थे। स्वयं राजा जनक भी एक ऋषि थे। मौर्य-साम्राज्य की स्थापना होने पर क्षत्रियों की प्रभुता बढ़ने लगी और साथ ही साथ भोग-विलास और विभव-अभिमान की भी लिप्सा बढ चली और इसकी पूर्ति के लिये अनेक कलाओं और विज्ञानों का आविर्भाव और विकास हुआ। सम्राट् के वैभव और अभिमान निर्धन की कुटिया में कैसे समा सकते थे ! उनके लिए प्रासादों का निर्माण हुआ। कला-

---

* Behind the magnificant palaces, the heavy tramp of the feet of armies consisting of cavalry and infantry shaking the earth, the sounds of war trumpets, bugles and drums, and the splendid display of the royal throne—bhhind all these, there is always the virtual presence of England—that England, whose warflags are the chimney-factories, whose troops are the merchant men, whose battlefields are the market-places of the world

जयसिंह ने एक एक स्वर्णमुद्रा पुरस्कार में दी थी, वे आधुनिक साहित्यिकों को सतुष्ट न कर सके वरन् उपहास की सामग्री बन गए। फिर पश्चिमी सभ्यता के ससर्ग से दीन और दलितों के प्रति उदार भावना का उदय हुआ। समाज में स्त्रियों का आदर बढ़ने लगा। वे नायिका-भेद की प्रोषितपतिका और अभिसारिका न रहीं, वरन् उनमें सीता और द्रौपदी के उच्च चरित्र और पवित्र भावना की अवतारणा होने लगी।

पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से जिस स्वच्छदवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला, अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन से वह और भी अधिक पुष्ट और शक्तिमान् हो गया। शेक्सपियर के नाटक, स्कॉट के उपन्यास तथा शेली और कीट्स की कविताएँ स्वच्छदवाद की भावना से ओत-प्रोत थीं। शेक्सपियर की नायिकाओं—ऑफीलिया, मीराडा, पोर्शिया और जूलियट—ने भारतीय मस्तिष्क पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। अँगरेज़ी कविता, नाटक और उपन्यासों में नारीत्व की भावना रीतिकाल के नायिका-भेद से कहीं अधिक उच्च और पवित्र है। अगरेज़ी साहित्य के अध्ययन से रीतिकालीन परपरा और भावना के प्रति विरोध का भाव उदय होने लगा और प्राचीन साहित्यिक नियमों, विधानों और आदर्शों की अवहेलना होने लगी। हमारी रुचि प्राचीन सस्कृत साहित्य और अँगरेज़ी साहित्य की ओर मुड़ चली।

स्वच्छदवाद की प्रवृत्ति को पुष्ट करने के अतिरिक्त अँगरेज़ी साहित्य का प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य की शैली, काव्य-शास्त्र, रूप और उपादानों पर भी यथेष्ट मात्रा में पड़ा। उसने नवीन साहित्यिक रूपों के लिए नमूने और आदर्श उपस्थित किए, नए विषयों की ओर सकेत किया, हमारे शब्द भडार की वृद्धि की, समालोचना के लिए नए-नए सिद्धात दिए और कला की भावना को प्रोत्साहन प्रदान किया। परन्तु साथ ही उसने हिन्दी का अहित भी किया। कितने उत्साही युवक अँगरेज़ी साहित्य पढ़ पढ़ कर अनगिनती 'वादों' के दल-दल में फँस गए। कला कला के लिए' वाद ने तो हिन्दी में 'घासलेटी' साहित्य की सृष्टि की जिससे हिन्दी जनता और साहित्य दोनों का अहित हुआ। फिर इसी के प्रभाव से हमारा सयम का बाँध टूट गया और उच्छृखलता तथा प्रलाप की धारा में सारा साहित्य बह चला।

अँगरेज़ी साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी पर बँगला साहित्य का भी विशेष ऋण है। वास्तव में यह ऋण भी अँगरेज़ी साहित्य का ही है क्योंकि बँगला साहित्य ही अँगरेज़ी साहित्य से प्रभावित हुआ। अतर केवल इतना ही है कि वह ऋण अँगरेज़ी सिक्कों में नहीं वरन् भारतीय सिक्कों में था जिसके

कारण हमें विनिमय की झंझटों से छुटकारा मिल गया। विदेशी भावों तथा विचारों के अनुकरण के लिए उन विचारों का पूर्ण रूप से मनोनिवेश (Assimilation) और अपने वातावरण में रूपांतरित करना अत्यावश्यक होता है। बँगला साहित्य से हमें पाश्चात्य विचार मनोनिवेशित और रूपातरित होकर मिले। द्विजेन्द्रलाल के नाटकों में हमें पाश्चात्य नाटकीय विधानों का भारतीय वातावरण के अनुरूप रूपातर मिला, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीति-काव्यों में पाश्चात्य काव्य-कला का समावेश था और बंकिम चद्र के उपन्यासों में स्कॉट की कला भारतीय भूषा में मिली। इससे हिन्दी के लिये अनुकरण का मार्ग बहुत ही सुगम हो गया और हमारे लेखक बँगला का अनुकरण और अनुसरण करने लगे। इसी कारण हिन्दी इतने थोड़े समय में इतनी उन्नति कर सकी।

परिवर्तन की प्रक्रिया

आधुनिक काल का प्रारंभ १८३७ ईसवी से होता है जब कि दिल्ली में एक लिथोग्रैफिक प्रेस (Lithographic Press) की स्थापना हुई। इससे पहले भी कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज से कुछ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुई, परतु वे सख्या में बहुत कम थीं और उनका महत्त्व भी विशेष न था। १८३७ से हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन अबाध गति से चलता है। १८३७ के पश्चात् और भी कितने प्रेस खुले जिनमें धार्मिक ग्रथों के साथ ही साथ संस्कृत साहित्य के काव्य और नाटक भी सस्ते दामों निकलने लगे। अँगरेजी स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षित युवकों की सख्या भी क्रमशः बढती जा रही थी। इस प्रकार एक ओर हमारी प्राचीन शिक्षा और साहित्य का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के सपर्क से सामाजिक और राजनीतिक स्वातन्त्र्य की भावना जड़ जमा रही थी। ज्ञान के उदय से लोगों में चेतना आ रही थी और फलतः परिवर्तन की भावना जाग्रत होने लगी। प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति को अपनी वर्तमान दशा का अनुभव होने लगा और वह जीवन तथा साहित्य के प्रत्येक विभाग में परिवर्तन और विकास के लिए व्याकुल हो उठा।

इन नवीन परिस्थितियों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य मूलतः एक गोष्ठी-साहित्य (Drawing-room-Literature) था जिसे कुछ इने-गिने साहित्यिक ही समझ सकते थे। कवि

अधिकांश मुक्तक काव्यों में समस्या-पूर्तियाँ करते थे जो कवि-सम्मेलनों और कवि-दरबारों में पढ़ी जाती थीं। नाटक, संस्कृत नाटकीय विधानों का अनुसरण करते थे जिनसे कुछ थोड़े से व्यक्ति ही आनंद उठा सकते थे। निबंध और समालोचना भी विशिष्ट श्रेणी के लिए ही होते थे। कविता की भाषा ब्रज ही थी जिसे सब लोग अच्छी तरह समझ भी नहीं पाते थे। इस गोष्ठी साहित्य का भविष्य अंधकारपूर्ण था। ब्रजभाषा-कविता का प्रवाह तरंगिणी की भांति न था वरन् वह एक सीमित सरोवर के तुल्य था जिसका जल अब गँदला हो चला था और उसमें सड़े सेवार की दुर्गंध आने लगी थी। भाषा पर रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष का अत्याचार बढ़ता ही जा रहा था। वर्षा के लिए कभी रेलगाड़ी का रूपक सामने आता कभी वसंत के लिए 'लाट की अवाई' का रूपक बाँधा जाता। अनुप्रास और यमक के लिए शब्दों की खींचातानी की जाती। रस का कहीं नाम भी न रह गया, ऊहात्मक प्रसंग और 'दूर की कौड़ी' लाने का प्रयत्न बढ़ता जा रहा था। परन्तु इससे भी अधिक घातक दो और दोष थे जो ब्रजभाषा कविता को विनाश की ओर ले जा रहे थे। वे थे काव्य-विषय और साहित्यिक रूपों के प्रति सीमित दृष्टिकोण।

ब्रजभाषा कवियों का विषय तीन सौ वर्षों से केवल नायिका-भेद और रीति-आदर्शों तक ही सीमित था। उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों में प्रतिभा की कमी न थी क्योंकि इन सीमित विषयों पर भी नवीन भावनायें उनकी लेखनी से प्रसूत हो रही थीं। उदाहरण के लिए प्रतापनारायण मिश्र और श्रीधर पाठक के छंद देखिए :—

> बनि बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोलत 'नाहीं न 'हाँ'।
> तुम ही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ॥
> बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहाँ
> यह ब्यारि तबै बदलैगी कछु, पपिहा जब बोलिहैं 'पीव कहाँ'?

अथवा

> वारि-फुहार भरे बदरा, सोइ सोहत कुंजर से मतवारे।
> बीजुरी-जोति धुजा फहरै, घन-गर्जन-शब्द सोई हैं नगारे।
> रोर को घोर को ओर, न छोर, नरेसन की सी छटा छवि धारे।
> कामिन के मन को प्रिय पावस, आयो, प्रिये! नव मोहिनी वारे॥

[श्रीधर पाठक]

ये छंद रीतिकालीन महाकवियों के छंदों की तुलना में रखे जा सकते हैं, फिर भी व्रजभाषा-कविता का विषय-क्षेत्र इतना सीमित और संकीर्ण था कि इसमें प्रगति और विकास के लिये कोई स्थान न था। फिर कविगण प्रायः कवित्त, सवैया, दोहा, रोला और छप्पय के अतिरिक्त और किसी छंद का प्रयोग ही न करते थे और मुक्तकों के अतिरिक्त कोई अन्य काव्य-रूप भी उन्हें प्रिय न था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में साहित्य को गोष्ठी-साहित्य की सीमा से बाहर लाकर साधारण जनता की सामग्री बनाने के लिये एक आंदोलन चल पड़ा। इस आंदोलन में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का था। फलतः बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हिन्दी साहित्य को गोष्ठी-साहित्य के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकालने का प्रयास किया गया और उसे एक नए मार्ग और लय पर ले चलने का उद्योग होने लगा।

परंतु नया मार्ग ढूँढ़ निकालना भी साधारण काम न था। रास्ते सभी अनजाने थे। किसी ओर अंधाधुंध ढंग से बढ़ना भी खतरे से खाली न था। फूँक-फूँक कर पैर रखने की आवश्यकता थी। इस कठिन अवसर पर हमारे पथ-प्रदर्शकों ने बड़े साहस और उत्साह का परिचय दिया। व्रजभाषा के स्थान पर काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। संस्कृत, बँगला और अँगरेज़ी ग्रंथों का अनुवाद करके शब्दों की पूँजी बढ़ाई गई। अन्य साहित्यों के अध्ययन से भाव-क्षेत्र का विस्तार बढ़ाया गया, व्रजभाषा के विषय और उपादानों को छोड़ कर प्रकृति और मानव-जीवन से साहित्य के लिए नए विषय चुने गए और शैली तथा साहित्य-परंपरा के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग (Experiments) किए गए। हिन्दी साहित्य अपने नए मार्ग पर चल निकला।

परंतु इस अचानक परिवर्तन से साहित्य की व्यवस्था को भारी आघात पहुँचा; वह अव्यवस्थित हो गया और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इस नए मार्ग पर सभी लोग अपना अलग प्रयोग करने लगे। भाषा और शैली, रूप और छन्द, गति और परंपरा, विषय और उपादानों के लिए सब ने अपना नया रास्ता बनाना प्रारंभ किया। सभी 'अपना अपना राग और अपनी-अपनी डफली' में मस्त हो गए। साहित्य में अराजकता-सी फैल गई। १९०० से १९०८ तक आठ वर्षों का समय आधुनिक साहित्य में अराजकता का काल है।

इस अराजकता-काल में गद्य-साहित्य की विशेष अवनति हुई। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। गद्य की भाषा एक दम अव्यवस्थित हो गई। व्याकरण की अशुद्धियाँ लगभग प्रत्येक पृष्ठ में होती थीं। बँगला, मराठी, सस्कृत और अँगरेज़ी से पुस्तकों पर पुस्तकें अनुवादित हो रही थीं। मौलिक रचनाओं का अभाव था। गद्य की जो नई भाषा बनने जा रही थी, उसके लिए कोई आदर्श हमारे सामने न था। सुदर गद्य लिखने के लिए अभ्यास और आदर्श लेखकों के अनुकरण की अत्यत आवश्यकता होती है, इसी कारण इस काल में (१६००-१६०८) और इसके बाद भी कुछ वर्षों तक गद्य में कोई सुदर मौलिक रचना न हो सकी। बँगला और अँगरेज़ी के अनुवादों द्वारा पूरा अभ्यास और अनुकरण हो जाने पर ही गद्य की सुदर रचनाएँ हो सकीं।

इस अराजकता काल में कविता क्षेत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना एक नवीन शैली का विकास था, जिसमें पद्य और गद्य का अद्भुत सम्मिश्रण था। कविताएँ सपूर्ण गद्यात्मक और इतिवृत्तात्मक थीं, केवल छदों की भूषा पहन-कर ये कविता कहलाने लगी थीं। कभी-कभी तो छद की भूषा रहने पर भी उन कविताओं की अनलकृत गद्य-शैली गद्य के भी कान काटती थी। १६०७ ई० में भी ऐसे उदाहरण पर्याप्त सख्या में मिल जाते हैं। सेठ गोविन्द-दास 'सरस्वती' (जनवरी १६०७) में लिखते हैं .

खेल खेलता खासे खासे,
नित उठ करता अजब तमासे।
देखा सूने भारतवासी,
बने हुए हैं भोग विलासी।
बस तुरंत कर्ज़न को भेजा
कटवाया बंगाल कलेजा।
चौंक उठे बंगाली भाई
तब उनको घर की सुधि आई।
रोये, पीटे, चिल्लाये भारी
सुखद स्वदेशी विधि विस्तारी।

इत्यादि

सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि जनता ने इस गद्य-रूप काव्य का भी अत्यत उत्साह से स्वागत किया। परतु इस शैली की भी अपनी उपयोगिता थी और इससे भी हिन्दी का हित हुआ। रीतिकाल में कविता ने जो लबी

उड़ान भरनी प्रारंभ कर दी थी उसे रोकने के लिए इसी प्रकार की कविता की आवश्यकता थी।

अराजकता-काल के पश्चात् साहित्यिक व्यवस्था का काल (१९०८-१९१९) आता है। इस समय समस्या यह थी कि साहित्य की व्यवस्था किस आदर्श पर की जाय। इस पर विद्वानों के दो भिन्न मत थे। कुछ प्राचीन संस्कृत साहित्य का आदर्श सामने रखना चाहते थे और अन्य पाश्चात्य आदर्शों के भक्त थे। इस मत-विभिन्नता के भी कारण थे। उस समय विद्यार्थियों को दो भिन्न प्रकार की शिक्षायें मिलती थीं—एक अँगरेज़ी स्कूलों और कॉलेजों में, दूसरी घर पर। उनके स्कूली इतिहासों में सूर्यवंशी और चंद्रवंशी राजाओं के यश का गान न था, राम-राज्य और महाभारत का विशेष वर्णन न था; उनके स्कूली भूगोलों में क्षीरसागर और दधिसमुद्र का उल्लेख तक न था, जल-वृष्टि का अधिकार इन्द्र के हाथों में न था, नागलोक, यमलोक आदि का कहीं पता नहीं था; उनके साहित्य-ग्रंथों में भौतिक जीवन की भावना भरी हुई थी। परन्तु घर पर वे माँ से पौराणिक महापुरुषों की कथायें सुना करते थे, रामायण और महाभारत की कहानी पढ़ते थे। इन विरोधी शिक्षाओं के फल-स्वरूप शिक्षित समाज में दो दल हो गए थे। एक दल पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य की भौतिक चमक-दमक से इतना प्रभावित हो उठा कि उसे भारतीय संस्कृति और साहित्य में कोई भी आदरणीय और अनुकरणीय वस्तु न मिली। यह दल पश्चिमी आदर्शों का पोषक था। दूसरी ओर अन्य दल पश्चिम के भौतिकवाद से इतना चिढ़ गया था कि उसे प्राचीन आदर्शों में असीम श्रद्धा हो गई थी। यह दल संस्कृत साहित्य का अनुकरण चाहता था।

परंतु कुछ अधिक विचारवान् पुरुष दोनों साहित्यों की अच्छी बातों का अनुकरण करना अच्छा समझते थे। श्रीधर पाठक ने एक ओर कालिदास के ऋतु-संहार का अनुवाद किया और दूसरी ओर गोल्डस्मिथ के 'ट्रैवलर' 'हरमिट' और 'डेज़र्टेड विलेज' का 'श्रांत पथिक', 'ऊजड़ ग्राम' तथा 'एकांत वासी योगी' के रूप में पद्य बद्ध अनुवाद किया। रामचंद्र शुक्ल भारतीय काव्य-शास्त्र और प्रकृति-वर्णन के प्रशंसक थे, और पाश्चात्य साहित्य का यथार्थवाद भी उन्हें प्रिय था। उनके 'शिशिर-पथिक' नामक काव्य पर पाश्चात्य यथार्थवाद की स्पष्ट छाप है। 'सरस्वती' के संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी, जिनका शिक्षित जनता पर अधिक प्रभाव था, संस्कृत और

अँगरेज़ी दोनों साहित्यों के शब्द और भाव भंडार लेकर हिन्दी की सेवा करने का उपदेश देते थे। वे लिखते हैं :

अँगरेज़ी ग्रंथ-समूह बहुत भारी है,
अति विस्तृत जलधि समान देह धारी है।
संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
उसका भी ज्ञानागार हृदय हारी है।
इन दोनों में से अर्थ-रत्न ले लीजे,
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेम-युत कीजे।

द्विवेदी ने अँगरेज़ी गद्य के आदर्श पर हिन्दी गद्य की व्यवस्था की। उन्होंने विराम-चिह्नों और पैराग्राफ बनाकर लिखने पर विशेष ध्यान दिया, व्याकरण की शुद्धि, भाषा की स्थिरता और शब्द-भंडार की वृद्धि पर ज़ोर दिया। गद्य के नमूनों के लिए अँगरेज़ी से बेकन के निबंधों और 'मिल के लिबर्टी' का हिन्दी अनुवाद भी किया। परन्तु द्विवेदी यदि गद्य में अँगरेज़ी साहित्य के अनुकरण पर ज़ोर देते थे, तो काव्य में ठेठ प्रतिवर्तनवादी (Revivalist) थे। वे संस्कृत साहित्य के आदर्शों पर काव्य की व्यवस्था के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं अपनी कविताओं में संस्कृत तत्सम शब्दों का व्यवहार किया, छंद भी अधिकांश वर्णिक लिखे और संस्कृत-काव्य परंपरा का अनुमोदन किया। कुमार-संभव और किरातार्जुनीय के कुछ अंशों का पद्य बद्ध अनुवाद करके उन्होंने युवक कवियों के लिए एक आदर्श उपस्थित किया। 'सरस्वती' के अंकों में वे महाभारत और पौराणिक आख्यानों पर सुंदर चित्र प्रकाशित करते थे और नवयुवक कवियों से उन चित्रों पर कविता लिखवाते थे। कवि गण भी प्राचीन संस्कृत काव्यों का अध्ययन कर उन विषयों पर कविता लिखते थे। इस प्रकार द्विवेदी ने होनहार नवयुवक कवियों को प्रोत्साहन देकर प्रतिवर्तनवादी बनाया। जनता को भी पश्चिमी भावों और संस्कारों से कोई आकर्षण न था, उसने भी इन कविताओं का सहर्ष और सोत्साह स्वागत किया। क्रमशः कविता में प्राचीन काव्य-परंपरा का अनुकरण होने लगा और कविताओं के विषय भी पुराणों और महाभारत से लिए जाने लगे। इस प्रकार साहित्यिक व्यवस्था-काल गद्य में अँगरेज़ी आदर्शों का पोषक रहा और काव्य में प्राचीन संस्कृत-आदर्शों का।

१९१६ के पश्चात् आधुनिक साहित्य का तीसरा काल आरंभ होता

है। इस काल में नवयुवकों का एक दल बढ रहा था जो पिछले काल के साहित्यिकों से कहीं अधिक बुद्धिवादी था। पिछले काल के साहित्यिक प्राचीन अंधभक्ति और पाश्चात्य सदेह-प्रवृत्ति के बीच में त्रिशकु के समान थे। पर नवीन दल अधभक्ति की सीमा पार कर चुका था और पश्चिमी बुद्धि-वाद का पोषक हो गया था। उस काल की प्रमुख विशेषता यह थी कि भारतीय प्राचीन संस्कृति और साहित्य की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और अँगरेज़ी सभी वस्तुओं पर असीम श्रद्धा रखते थे। मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स इनके सस्कृत साहित्य के शिक्षक और समालोचक थे, और अँगरेजी विद्वानों की सम्मतियाँ उनके लिए वेद-वाक्य थे। इन्हें शिक्षा भी इसी लिए दी गई थी। १८५३ में पार्लियामेंट के सामने सर चार्ल्स ट्रेवी-लियन ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था :

"हम लोग (अँगरेज) जो कुछ कर रहे हैं उसका उद्देश्य इस प्राचीन हिन्दू सस्था के उन्नायकों के साथ अनुचित उत्तेजनापूर्ण संघर्ष में प्रवेश करना नहीं है, वरन् इस देश के निवासियों को एक अत्यंत उत्कृष्ट ज्ञान-मदिर का द्वार उद्घाटित करने वाली बिल्कुल नई कुजी देना है। इस नई प्रणाली के बीजारोपण का प्रथम प्रयोजन भारतवासियों के मस्तिष्क से उनकी प्राचीन प्रणाली के प्रभाव को पूर्णतः उन्मूलित करना है। अधिकतर वे इस प्रणाली से परिचित भी नहीं होते। यह एक महान् सत्य है कि किसी देश की उदीयमान सतान कुछ ही वर्षों में सपूर्ण राष्ट्र बन जाती है और यदि हम जनता के चरित्र में कोई प्रभावशाली परिवर्तन करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि उन्हें बचपन से ही ऐसी शिक्षा दें कि वे आगे चलकर हमारी इच्छानुसार चलें; तब हमारा समस्त धन-व्यय सार्थक हो जायगा; हमें अपने मार्ग में परपरागत रूढियों से सघर्ष न करना होगा; (इस शिक्षा से) हमें कुछ ऐसे मस्तिष्क वाले मनुष्य मिल सकेंगे जिनसे हम अपना काम निकाल सकेंगे और हम प्रभावशाली और बुद्धिमान युवकों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर सकेंगे जो आगे चलकर हमारी सहायता के बिना ही हमारी प्रणाली के सक्रिय प्रचारक बनेंगे।"*

---

*What we are doing is not to enter into an unseemly and irritating conflict with the upholders of this ancient system (Hinduism), but to give an entirely new key to the natives *opening to them a very superior knowledge. The first effect of this introduction to a new system is to destroy*

विदेशी शासकों को अपने इस उद्देश्य में आशातीत सफलता मिली। अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से प्राचीन साहित्य और संस्कृति की अवहेलना होने लगी और युवकों का नवीन दल जीवन और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र और विभाग में पश्चिमी भाव, विचार और आदर्श का पोषक बना। इस शिक्षा का प्रभाव सबसे अधिक साहित्य और समाजनीति में दिखाई पड़ा।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशाब्द में युवकों का एक नवीन दल उठ खड़ा हुआ जो पश्चिमी साहित्य के समालोचना-सिद्धान्तों पर, उसकी कटी-छँटी और नपी-तुली रचनाओं तथा उसकी चित्र-कल्पना और नाद-शैली पर अत्यंत मुग्ध था। गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में 'कला कला के लिए' की पुकार स्वयं एक मोहन-मंत्र थी। फिर रूढ़ि और नियमों के बंधन से मुक्ति की भावना, जीवन के प्रति स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण, प्रत्येक प्रसंग पर बुद्धि और तर्क की दुहाई—सभी में एक नवीन आकर्षण था। अस्तु, उत्साही नवयुवकों ने पश्चिमी साहित्य का अंधानुकरण आरंभ कर दिया। १९१३ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नोबेल पुरस्कार विजय से इस ओर एक नवीन प्रोत्साहन मिला। इस काल के साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ थीं—(१) गद्य और पद्य दोनों में पश्चिमी आदर्शों का अनुकरण, (२) गीति-तत्व का प्राधान्य और (३) कला का उदय।

गीति तत्व के प्राधान्य और कला की महत्ता के मूल में केवल अँगरेजी साहित्य का प्रभाव ही नहीं था वरन् साहित्य का वातावरण और परिस्थितियाँ भी इस विकास के अनुकूल थीं। जिन कारणों से पश्चिमी साहित्य में कला और गीति तत्व की विजय हुई, वे कारण पाश्चात्य संस्कृति और वैज्ञानिक शिक्षा-प्रचार के फल-स्वरूप भारत में भी दिखाई देने लगे थे। नगरों का उदय होने लगा था, जहाँ का

---

entirely the influence of the ancient system upon their minds. In most instances they are never initiated in it. It is a great truth that the rising generation becomes the whole nation in the course of a few years, and that if we desire to make any effectual change in the character of the people, we must take them when they are young and train them in the way we would have them go, all of our money then will be well laid out, we shall have no prejudices to contend with, we shall have supplied minds to deal with and we shall raise up a class of influential intelligent youth who will in course of a few years become the active propagator of our system with little or no assistance from us.

जीवन—नागरिक जीवन—ग्राम्य जीवन से एकदम भिन्न था। भारतवासी ग्राम्य-जीवन के अभ्यस्त थे; परंतु स्कूल, कॉलेज, कचहरियाँ और कारखाने शहरों में थे, जिसके कारण उन्हें शहरों में रहना पड़ा। नगरों के व्यस्त जीवन ने वहाँ के निवासियों को व्यक्तिवादी बना दिया, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने ही सुख, दुःख और चिन्ता में लीन रहता है, दूसरों की चिन्ता के लिए उसे न अवकाश ही है न इच्छा। वैज्ञानिक उन्नति से हमारे घर—धूप और वर्षा से रक्षा करने वाले घर—छोटे-छोटे प्रासादों में परिणत हो गए जो हमारी आवश्यकताओं की ही नहीं, हमारे गौरव और अभिमान की भी पूर्ति करते थे। गृह हमारे सुख का केन्द्र बन गया। घर के बाहर के सामूहिक विनोदों के स्थान पर घर के विनोदों पर ही लोगों की रुचि बढ़ने लगी। होली और दिवाली के अवसर के सार्वजनिक विनोद और नृत्य निम्न श्रेणी की जनता के लिए रह गए, सभ्य और शान्ति प्रिय व्यक्ति घर के विनोदों तक ही सीमित रहने लगे। प्रकृति और बाह्य-जगत का सपर्क दिन पर दिन क्षीण होने लगा और नागरिक दृष्टिकोण क्रमशः व्यक्तिवादी होने लगा।

फिर सार्वजनिक-समानाधिकार की भावना भी बढ़ती जा रही थी। वर्ण-व्यवस्था और ऊँच-नीच की भावना की भूमि भारतवर्ष में सामाजिक और राज-नीतिक समानता एक अद्भुत घटना थी। अँगरेजी राज्य के आगमन के साथ ही साथ स्कूल और कॉलेजों ने बौद्धिक समानता और कचहरियों ने वैधानिक समानता की घोषणा की। क्रमशः समानता का भाव नगरों में फैल गया और नवयुवकों में व्यक्तिवाद का और भी अधिक विकास हुआ।

इस व्यक्तिवाद के विकास से साहित्य में गीति-तत्व का महत्त्व बढ़ने लगा। गद्य और पद्य दोनों में ही अंतर्भावना साहित्य का माध्यम बन गई। कवि अपने को काव्य जगत् का केन्द्र समझने लगा। इतिहास और पुराण को वह अपने कल्पना-चित्रों के निर्माण का साधन बनाने लगा। बुद्धिवाद के विकास और व्यक्तिगत महत्ता के कारण वीर-पूजा की भावना का लोप होने लगा। राम, कृष्ण और बुद्ध जो वीर-पूजा-युग में अवतार माने जाने लगे थे, अब महापुरुषों की श्रेणी में उतर आए। ब्रिटिश शासन की शांति और सुव्यवस्था से युद्धों का अंत हो गया जिसके फल स्वरूप वीरोचित गुणों का भी ह्रास होने लगा। ऐसी परिस्थिति में व्यक्तिवाद का विकास अनिवार्य था। साहित्य पर इसका अधिक प्रभाव पड़ा। वीरों (Heroes) के अभाव में हमने अपने ही को अपना 'आदर्श वीर' मान लिया, हम अपने ही विचारों

और भावनाओं की पूजा करने लगे। हिन्दी साहित्य में गीतिवाद का युग आ गया।

इसी प्रकार कला का उदय और महत्त्व भी आधुनिक जीवन की परि-स्थितियों के कारण हुआ। नागरिक जीवन में बाह्य आडम्बर भी बढ़ने लगा। मनुष्य का बाह्य रूप उसके आन्तरिक रूप के समान या उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। वेश की पूजा होने लगी। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा—बाह्य उपकरणों का महत्त्व बढ़ गया, लय और नाद, साहित्य-रूप और छंद भावों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाने लगे। यश और धन के उपार्जन के लिए भी साहित्य का बाह्य सौन्दर्य आकर्षक बनाना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। इसका स्वाभाविक परिणाम सचेतन कला का विकास था।

परन्तु कला के उदय का सबसे प्रबल कारण यह था कि अब साहित्य का सृजन सहजोद्रेक मात्र न रह गया। कवि या लेखक किसी पुस्तक से, प्रकृति के सुन्दर दृश्यों से अथवा अपने चिन्तन से सुंदर भाव और विचार लेकर, उसकी व्यंजना के लिए, उसे साहित्यिक रूप देने के लिए, किसी एकांत स्थान में बैठकर अथवा अपने कमरे में ही आधी रात तक जागकर शब्दों की नाप-तोल किया करता। भावों और विचारों को श्रेष्ठतम रूप में व्यक्त करने के लिए अनेक बार काटता और लिखता, प्रत्येक शब्द के नाद और लय पर विचार करता, उसके अर्थ में ध्वनि लाने का प्रयत्न करता। वह सचेतन कलाकार बन गया।

हिन्दी साहित्य के सभी विभागों—गद्य, पद्य और नाटक में इन विशेषताओं के दर्शन होते हैं। इस काल के पहले अधिकांश घटना-प्रधान उपन्यास लिखे जाते थे, अब कलापूर्ण चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान उपन्यास भी लिखे जाने लगे। कहानियों का महत्त्व इस काल में बहुत बढ़ गया और प्रेम-चंद, प्रसाद, सुदर्शन और कौशिक की सुंदर कलापूर्ण रचनाएँ आदर की दृष्टि से देखी जाने लगीं। गद्य में गद्य-गीत के दर्शन पहली बार इस काल में हुए जो शीघ्र ही प्रचलित हो गए। नाटकों में चरित्र-चित्रण और गीति-वाद की प्रधानता हो चली। छंदों में संवाद के स्थान पर सुंदर गीतों की अवतारणा होने लगी। परंतु इस काल में सबसे अधिक उन्नति कविता के क्षेत्र में हुई। एक ओर नवयुवक कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शेली और कीट्स के अनुकरण में चित्र-भाषा-शैली में सुंदर गीति-काव्यों की रचना करने लगे

और दूसरी ओर पिछले खेवे के कवि भी अपनी कला और कला-रूपों को सुंदर बनाने की चेष्टा करने लगे। प्रबंध-काव्यों में भावनाओं का नाटकीय चित्रण और गीतिमय व्यंजना होने लगी। नाटकीय और गीति-तत्त्वों के सम्मिश्रण से आख्यानक काव्य, खंडकाव्य, महाकाव्य आदि शैली और कला की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली और सुंदर हो गए, और भाषा भी अधिक परिष्कृत और प्रौढ़ हो चली।

अस्तु, उत्कृष्ट कोटि के साहित्य-प्रकाशन की दृष्टि से यह तृतीय काल (१९१७-१९२५) और विशेषतया इस काल के अंतिम तीन वर्ष आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतिभा की दृष्टि से यह काल केवल भक्तिकाल से पीछे रहता है। परंतु सुंदर रचनाओं का अभाव बहुत कुछ पुस्तकों की संख्या और विषयों की अनेकरूपता से दब जाता है। इस काल के अंतिम तीन या चार वर्षों में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद के सबसे अच्छे उपन्यास 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम', सर्वश्रेष्ठ नाटककार जयशंकर प्रसाद के श्रेष्ठ नाटक 'अजातशत्रु' और 'कामना', प्रसाद का करुण काव्य 'आँसू' और, सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के सुंदरतम गीति-काव्य प्रकाशित हुए। मैथिलीशरण गुप्त के सुंदर खंडकाव्य और आख्यानक काव्य 'पंचवटी', 'शक्ति', 'गुरुकुल' और उनके सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'साकेत' का अधिकांश भाग इसी काल की रचना है; माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी चौहान की देश-भक्ति और वीर रसपूर्ण कविताएँ भी इसी काल में लिखी गईं। प्रेमचंद, प्रसाद, सुदर्शन और कौशिक की उत्कृष्ट कहानियाँ भी इसी काल में प्रकाशित हुईं। रामचंद्र शुक्ल की सुंदर वैज्ञानिक समालोचनाएँ और श्यामसुंदर दास का 'साहित्यालोचन' इसी काल की रचनाएँ हैं। यह काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

सारांश यह है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य का विकास प्रयोग (Experiment) से प्रारंभ हो कर निश्चित सिद्धांतों की ओर; प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रतिवर्तन (Revival) से पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण, और रूपांतर की ओर; मुक्तक और प्रबंध-काव्यों से गीति-काव्यों की ओर; इतिवृत्तात्मक और असमर्थ कविता से प्रभावशाली और भावपूर्ण कविता की ओर; करुणा, वीर और प्रकृति-वर्णन के सहज़ाद्र... भावों से प्रारंभ होकर चित्र-भाषा-शैली में कलापूर्ण रचनाओं की ओर;

अलंकार, गुण और रस से ध्वनि और व्यंजना की ओर और साधारण प्रेम, वीरता और त्याग की भावना से मानव जीवन की उच्च वृत्तियों और भावनाओं की व्यंजना की ओर हुआ।

गतिवर्द्धक शक्तियाँ

आधुनिक हिन्दी साहित्य की क्षिप्र प्रगति और विकास में जितनी ही शक्तियों ने गतिवर्द्धन का कार्य किया। निस्सन्देह गतिवर्द्धक शक्तियों में सर्वप्रथम स्थान इंडियन नेशनल कांग्रेस का है जिसकी स्थापना बम्बई में १८८५ ई० में हुई। राजनीतिक क्षेत्र में यह भारतीयों की प्रथम जागृति थी और इसका अनुकरण अन्य क्षेत्रों में भी अनिवार्य था। कांग्रेस ने हमें अपनी वास्तविक दशा से परिचित कराया, हम अपनी पराधीनता का ज्ञान हुआ। गोपाल कृष्ण गोखले ने १८९५ में रायल कमीशन के सामने अपने एक वक्तव्य में कहा था, 'वर्तमान (राजनीतिक) व्यवस्था के प्रभाव से भारतीय जाति का विकास अवरुद्ध हो रहा है। हमें अपने जीवन भर एक हीनता के वातावरण में रहना पड़ता है।"* इस अनुभव से प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के हृदय में आत्माभिमान और चेतना जाग्रत हुई, वह देश और जाति की चिंता करने लगा और उनकी उन्नति के लिए साहित्य और समाज, धर्म और दर्शन सभी क्षेत्रों में भारतीय गौरव के पुनरुत्थान का प्रयास करने लगा।

राष्ट्रीय भावना की जागृति के साथ ही पाश्चात्य सभ्यता के उत्साहपूर्ण अनुकरण के प्रति विरोध आरंभ हुआ। स्वामी दयानंद और विवेकानंद ने धर्म और अध्यात्म में भारतवर्ष की श्रेष्ठता प्रमाणित की और बाल-गंगाधर तिलक ने राजनीति में भारतीय नीति का पोषण किया। उनके आदर्श पर साहित्य और समाज में भी भारतीयता की विजय-श्री अग्रसर हुई। बंग-विच्छेद के कारण असंतोष की जो लहर १९०५ में स्वदेशी आंदोलन के नाम से चल पड़ी उसने इस राष्ट्रीय भावना को सबसे अधिक शक्ति प्रदान की। इस आंदोलन से पहले जागृति की भावना केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थी, किन्तु अब वह मध्यम वर्ग के लोगों में भी फैलने लगी। १९०५ से पहले उच्च शिक्षित और सरकारी उच्च पदाधिकारी

---

* A kind of dwarfing or stunting of the Indian race is going on under the present system We must live all the days of our life in an atmosphere of inferiority.

हिन्दी को हेय समझ कर उसे अवहेलना की दृष्टि से देखते थे, परन्तु स्वदेशी आदोलन से इस वर्ग के अधिकाधिक व्यक्ति हिन्दी की ओर झुकने लगे। इस परिवर्तन के कारण हिन्दी का बहुत हित हुआ। इसके अतिरिक्त इस आदोलन के फल स्वरूप हमारी प्राचीन सस्कृति और ललित-कलाओं—चित्रकला, सगीत, वास्तुकला और स्थापत्यकला—का नवीन सस्कार हुआ। भातखडे और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने क्रमशः भारतीय सगीत और चित्र-कला का संस्कार किया। ललित-कलाओं का सर्वतोमुखी विकास होने लगा। इस कला और सस्कृति के सर्वतोमुखी विकास का प्रभाव हिन्दी जनता पर विशेष रूप से पड़ा जिससे हिन्दी साहित्य के विकास में बहुत सहायता मिली।

स्वदेशी आदोलन के पश्चात् महात्मा गाधी का १६२१ का सत्याग्रह-आदोलन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आदोलन था जिससे जनता की जागृति और साहित्य के विकास को सब से अधिक प्रेरणा मिली। इस आदोलन ने आशा और जागृति का सदेश देश के कोने-कोने तक पहुँचा दिया। राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि प्रचुर परिमाण में हुई और राष्ट्रीय गीत, काव्य, उपन्यास, नाटक और कहानियों की एक बाढ़ सी आगई।

दूसरी गतिवर्द्धक शक्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती का आर्य समाज था। हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार का यह सबसे अधिक प्रभावपूर्ण और शक्तिशाली साधन बना। पंजाब और पश्चिमी सयुक्तप्रात में उर्दू का आधिपत्य हटाकर हिन्दी-प्रसार का सारा श्रेय आर्य समाज ही को है। इस प्रकार इसके द्वारा हिन्दी का प्रभाव-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। हिन्दुओं की राष्ट्रीय जागृति में भी आर्य-समाज का बहुत बड़ा हाथ रहा। उन्हें इस बात का अनुभव होने लगा कि वे वैदिक ऋषियों तथा दर्शनकार और काव्य-कार महापुरुषों के वशधर हैं। वे अपने अतीत गौरव पर अभिमान करने लगे जिससे उन्हें भावी उन्नति की प्रेरणा मिली।

आर्य-समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण देन शुद्धि, विधवा-विवाह बाल-विवाह, वर्ण-व्यवस्था, पर्दा-पद्धति और अस्पृश्यता आदि अनेक सामाजिक समस्याओं को प्रकाश में लाना था। इन समस्याओं पर आर्य-समाज ने शास्त्रार्थ प्रारभ कर दिया और उपदेशकों तथा भजनीकों का एक वर्ग सामाजिक कुरीतियों का विरोध करने लगा। इससे एक ओर विविध समस्याओं के खडन-मंडन-मूलक उपदेश-साहित्य (Didactic

literature) की सृष्टि हुई और दूसरी ओर विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं के लिए विषय और उपादान मिले। उपदेश साहित्य ने हिन्दी में लेखकों और पाठकों की बहुत वृद्धि की। ये पाठक और लेखक उपदेश-साहित्य से प्रारम्भ कर हिन्दी लिखने और पढ़ने का अच्छा अभ्यास कर लेने पर साहित्यिक रचनाओं के पठन और लेखन में प्रवृत्त होने लगे। धार्मिक वाद-विवादों से जनता की आलोचना प्रवृत्ति जाग्रत हुई जिससे समालोचना साहित्य के विकास में यथेष्ट सहायता मिली।

कर्नल कनिंघम के अध्यवसाय से १८५७ में पुरातत्त्व विभाग की स्थापना हुई थी। राजगृह, तक्षशिला, बनारस, पहाड़पुर, हड़प्पा, मोहनजोदारो इत्यादि की खुदाई से भारत के अतीत गौरव का परिचय मिला। विद्वानों ने प्राचीन ग्रंथों, शिला लेखों, ताम्रपत्रों, मुद्राओं, मंदिरों, दुर्गों और स्तूपों के लेखों का अध्ययन किया। १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स द्वारा स्थापित बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद आरम्भ किए। १७६८ में सर मोनियर विलियम्स ने 'शकुंतला' का अनुवाद किया जिसकी प्रशंसा पश्चिमी विद्वानों ने मुक्तकंठ से की। फिर 'मेघदूत' का अनुवाद हुआ और जर्मनी के प्रसिद्ध कवि और नाटककार शिलर ने इस अपूर्व काव्य का अनुकरण कर कालिदास के प्रति अपनी असीम श्रद्धा प्रकट की। अन्य संस्कृत काव्यों और नाटकों के भी अनुवाद हुए और पश्चिम ने उसी प्रकार उनका स्वागत किया। इससे हमारे अतीत गौरव की महानता प्रमाणित हो गई और हमें अपनी उन्नत परंपरा और उत्कृष्ट साहित्य पर अभिमान होने लगा और शिक्षित वर्ग भारत के प्राचीन इतिहास संस्कृति और साहित्य के अनुशीलन में दत्तचित्त हुआ जिससे हिन्दी साहित्य के विकास में विशेष सहायता मिली।

१६०४ के रूस-जापान युद्ध और रूस पर जापान की विजय का भी हिन्दी-साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। रूस जैसी पश्चिमी शक्ति के विरुद्ध एक पूर्वी राष्ट्र की विजय का भारतीय मस्तिष्क पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। यह एक अद्भुत और उत्साहवर्द्धक घटना थी। पश्चिम के अनुकरण से जापान का जो उत्कर्ष हुआ वह भारत के लिए असंभव न था। भारत की आशापूर्ण दृष्टि जापान की ओर फिरी। इसके फल-स्वरूप हिन्दी में जापान संबंधी साहित्य की वृद्धि हुई।

१६१४–१८ का महायुद्ध एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना थी। इससे पहले

भारतवर्ष में अंतर्राष्ट्रीय भावना बिल्कुल न थी। अब तक भारत पश्चिम की राष्ट्रीयता से ही प्रभावित हुआ था परन्तु अब उसे इस बात का अनुभव होने लगा कि भारतवर्ष विशाल विश्व का एक अंग है और विश्व की प्रत्येक घटना उसके लिए भी महत्त्व रखती है। इस महायुद्ध का एक और प्रभाव यह पड़ा कि भारतवासियों की रुचि अँगरेजी के अतिरिक्त फ्रेंच, जर्मन और रूसी जनता और साहित्य की ओर भी बढ़ने लगी।

१८९३ ई० में श्यामसुन्दर दास के अथक परिश्रम से काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा ने उत्तर भारत में नागरी-प्रचार के लिए बहुत कार्य किया। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में साहित्य के अतिरिक्त इतिहास, भूगोल, सस्कृति, मनोविज्ञान और दर्शन आदि विषयों पर विचार-पूर्ण निबंध प्रकाशित हुए। १९०० ई० मे हिन्दी को कचहरियों में स्थान दिलाने का श्रेय सभा को ही है। १९०५ ई० में सभा ने रमेशचन्द्र दत्त के सभापतित्व में एक सभा का आयोजन किया जिसका मुख्य उद्देश्य उत्तर भारत में देवनागरी लिपि का प्रचार था। सभा का आयोजन सफल हुआ किन्तु उसका उद्देश्य पूर्ण न हो सका। फिर भी यह प्रयत्न व्यर्थ न गया। कई वर्षों के बाद कांग्रेस ने देवनागरी लिपि को स्वीकार कर लिया। इसका श्रेय भी सभा को ही है।

१९१० ई० में श्यामसुन्दर दास तथा अन्य सज्जनों के प्रयत्न से हिन्दी साहित्य सम्मेलन की आयोजना का प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन ने दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का स्तुत्य कार्य किया। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष सम्मेलन के अधिवेशन में हिन्दी साहित्य की स्थिति पर विचार होता रहा है और उसकी उन्नति के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय सोचे जाते रहे हैं।

अवरोधक शक्तियाँ

गतिवर्द्धक शक्तियों के साथ ही साथ कुछ अवरोधक शक्तियाँ भी थीं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की प्रगति में बाधाएँ उपस्थित कीं। आधुनिक काल में भारतवासियों का मानसिक विकास क्रमबद्ध नहीं हुआ वरन् पश्चिम की एक लहर से अचानक एक क्रांति सी आ गई जिसके कारण नवयुवकों का सारा दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो गया था। भूत और वर्तमान के बीच कोई सेतु न था वरन् एक खाई सी पड़ गई थी। अचानक युवकों का दल पश्चिमी ज्ञान प्राप्त करके अपने वृद्ध गुरुजनों को तुच्छ और हेय समझने लगा और वृद्ध-दल

भी नवयुवकों को सन्देह और ईर्ष्या की दृष्टि से देखने लगा। इस सन्देह और ईर्ष्या, अवहेलना तथा हीनता के दूषित वातावरण में साहित्य के विकास का अंकुर उगा था। फिर हिन्दी को अपनी प्रगति में निरन्तर विरोध और विपद का सामना करना पड़ा। सर्वप्रथम तो हिन्दी का अस्तित्व ही विवादजनक था। न्यायालय और शिक्षा-विभाग उर्दू के पक्षपाती थे। उर्दू और फ़ारसी के विद्वान् हिन्दी के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर रहे थे। यह तो बाहरी झगड़ा था, हिन्दी के भीतर भी ब्रजभाषा और खड़ी बोली का झगड़ा चल रहा था। इस निरन्तर विरोध और विषमता ने हिन्दी की प्रगति का अवरोध अवश्य किया परन्तु साथ ही साथ उसे शक्ति भी प्रदान की जिससे भविष्य में वह सभी कठिनाइयों का सामना कर सकी।

परन्तु सबसे बड़ी अवरोधक शक्ति इस काल की मानसिक अराजकता थी। विद्यार्थी स्कूलों में जो कुछ पढ़ता घर में उसके विपरीत देखता और सुनता था। स्कूल में उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की शिक्षा मिलती थी, घर में उसे एक आदमी का कठोर शासन मानना पड़ता, स्कूल में उसे स्त्रियों के समानाधिकार की शिक्षा मिलती, घर पर उन्हें परदों के पीछे रहकर पशु-जीवन बिताते देखना पड़ता। जीवन के सभी विभागों में स्कूली शिक्षा और घरेलू रीतियों का विरोध था। इस विरोध का फल यह हुआ कि उसके विचार तो कुछ और थे परन्तु कार्य कुछ और ही ढंग के होते थे, विचार और भावनाओं के बीच एक खाई सी खिंच गई थी। साहित्य में जब तक विचार और भावनाओं का सम्मिश्रण नहीं होता तब तक महान् कृतियों की सृष्टि नहीं हो सकती। इसी मानसिक अराजकता के कारण इस काल के साहित्य में महान् रचनाओं का अभाव है।

हिन्दी-प्रांत में छोटे-छोटे राज्यों के उन्मूलन से हिन्दी के संरक्षकों का अभाव हो गया। विज्ञान की अद्भुत उन्नति से आधुनिक संस्कृति की गति बहुत बढ़ गई। रेल, तार, जहाज और मुद्रण-यंत्र के आविष्कार से वर्तमान इतना विस्तृत हो गया है कि हमें भूत और भविष्य की चिंता करने का अवकाश ही नहीं मिलता, इसी कारण आधुनिक साहित्य में अमर काव्यों की रचना असंभव-सी हो गई। फिर जब कि लोगों की रुचि साहित्य की ओर बढ़ रही थी, उस समय देश में तीन और आंदोलन चल रहे थे। पहला आंदोलन सामाजिक था। आर्य समाज की स्थापना ने हिन्दूधर्म की नींव हिला दी थी। शास्त्रार्थ की चारों ओर धूम मच रही थी, शुद्धि सभायें

और विधवाश्रम खोले जा रहे थे। इनके प्रतिक्रिया-स्वरूप हिन्दू-समाज ने भी अपनी चहारदीवारी और सगठन शुरू कर दिया था। मुसलमान, जैन, ईसाई अपने-अपने अलग सगठन में लगे थे। इस धार्मिक सगठन के युग में हिन्दी की चिंता करने वाले बहुत कम बच रहे। दूसरी ओर काग्रेस का कार्यक्रम भी बढ़ता जा रहा था, राजनीतिक जागृति की लहर बढ़ती जा रही थी। परतु सबसे अधिक प्रभावशाली आर्थिक आदोलन था। हमारे देश में इसले पहले आर्थिक प्रश्न इतने जटिल रूप मे नहीं उठा था। मुसलमानों के शासन-काल मे अपने देश का रुपया देश में ही रहा; भोग-विलासिता राजा और नवाबों तक ही समिति थी, साधारण जनता इससे बहुत दूर थी। परतु अब देश का रुपया बाहर जाने लगा, जनता का रहन-सहन (Standard of living) भी ऊँचा हो चला। आवश्यकताओं की निरतर वृद्धि हो रही थी। परिणाम-स्वरूप हमारे भद्र-समाज को नौकरी की फाँसी लग गई और वे साहित्य की वृद्धि के लिए समय न निकाल सकते थे। इन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आदोलनों से हमें न तो इतना समय ही मिलता था, न इतनी मानसिक शाति ही रह गई थी कि हम साहित्यिक रचना में कृतकार्य होते।

विशेष

✓ इस परिवर्तन युग के सबसे महान् युग-प्रवर्तक पुरुष तथा नायक महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। १९०० से १९२५ के बीच में पद्य-रचना अथवा गद्य-शैली में ऐसा कोई भी साहित्यिक आदोलन नहीं जिस पर द्विवेदी जी का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ा हो। साहित्यिक रचना की दृष्टि से वे एक सफल अनुवादक थे। उनकी मौलिक रचनाओं का महत्त्व अधिक नहीं है, परतु वे एक महान् शक्ति के प्रतीक थे जिन्होंने हिन्दी साहित्य को बल-प्रदान किया और इस दृष्टि से उनका महत्त्व बहुत अधिक है। उन्होंने ही पहले-पहल 'कुमार-सभव-सार में कविता की विशुद्ध और टकसाली भाषा का सुदर उदाहरण उपस्थित किया, उन्होंने ही 'सरस्वती' में राजा रवि वर्मा और ब्रजभूषण रायचौधुरी इत्यादि के चित्र प्रकाशित कर युवक कवियों से उनपर कविताएँ लिखाकर उन्हें नवीन विषयों की ओर चलाया और साथ ही कविता के लिए प्रोत्साहन दिया; उन्होंने ही काव्य में सस्कृत साहित्य परंपरा की प्रतिष्ठा की। उनके एक लेख ने मैथिलीशरण गुप्त को

'साकेत' के लिए विषय दिया; उनके उत्साह-प्रदान ने कितने ही नए लेखक और कवि पैदा किए, उनकी गद्य-शैली ने अनेकों का निर्माण किया। उन्होंने भाषा की अस्थिरता दूर की तथा उसका व्याकरण शुद्ध कर उसे एक स्थिर रूप और व्याकरण दिया। विभक्तियों के प्रचार और 'पैराग्राफ-पद्धति' के प्रसार का श्रेय भी द्विवेदी जी को ही है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों के साहित्यिक विकास और प्रगति के मंत्र-दाता और पुरोहित द्विवेदी जी ही थे। यह युग वास्तव में 'द्विवेदी युग' था।

आधुनिक युग गद्य का युग कहा जाता है। निस्सन्देह इस युग में गद्य-साहित्य की अपूर्व और अत्यधिक उन्नति हुई। प्राचीन काल में पद्य-साहित्य गद्य साहित्य का कई गुना हुआ करता था, अब गद्य-साहित्य पद्य साहित्य से सैकड़ों गुना अधिक हो गया है, परन्तु अब भी साहित्य में पद्य की महत्ता गद्य से कहीं अधिक है। उदाहरण के लिए आधुनिक काल में नगरों में प्राचीन घी के दीये किसी भी घर में नहीं जलाए जाते, सब जगह बिजली का प्रचार दीयों से हजारों गुना अधिक हो गया है, फिर भी देव पूजा के लिए घी के ही दीपक जलाए जाते हैं, बिजली के बल्ब नहीं। पद्य का भी साहित्य में यही स्थान है। गद्य-गीतों के प्रचार से पद्य साहित्य की प्रभुता विपद्ग्रस्त अवश्य है, परन्तु गद्य-गीत कविता का स्थान न अब तक ले सके हैं और न भविष्य में कोई आशा है। आधुनिक युग में पद्य-साहित्य की उतनी ही प्रतिष्ठा और मर्यादा है जितनी भक्ति और रीति काल में थी।

प्रतिभा की दृष्टि से भी आधुनिक युग कविता का युग है। गद्य में प्रेमचंद को छोड़कर आधुनिक काल में कोई भी महान् कृतिकार पैदा नहीं हुआ जब कि कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानंदन पंत जैसे महाकवि हैं। प्रसाद उत्कृष्ट नाटककार और कहानी लेखक भी हैं, परंतु पहले वे कवि हैं बाद में और कुछ।

साहित्यिक रूपों की दृष्टि से गद्य साहित्य पद्य-साहित्य से अवश्य आगे है। गद्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, समालोचना, निबंध, उपयोगी साहित्य इत्यादि की अद्भुत और अभूतपूर्व उन्नति हुई, परंतु यदि साहित्य की महत्ता उदात्त भावों और विचारों की बहुलता, प्रभाव क्षेत्र की व्यापकता और व्यंजना की हार्दिक सत्यता पर निर्भर है तो यह युग गद्य से अधिक कविता का युग है।

दूसरा अध्याय

कविता

वृत्ति

हिन्दी साहित्य के प्रथम पच्चीस वर्षों में हिन्दी कविता का विकास स्वच्छंदवाद (Romanticism) का सर्वांगीण विकास है। इस विकास-युग के दो चरण हैं। प्रथम चरण में स्वच्छंदवाद अपने मूलरूप में प्राचीन साहित्य की रूढ़िगत परंपरा और उसके सीमित दृष्टिकोण के प्रति एक उत्साहपूर्ण विरोध था। रीति-काव्य का क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण था। काव्य की भाषा ब्रज थी; यह केवल ब्रज प्रांत—आगरा और मथुरा के आसपास—की बोली थी, अंबाला से रायपुर और राजपूताना से भागलपुर तक विस्तृत अखिल हिन्दी प्रांत की सामान्य भाषा न थी। उसमें भी उस समय की जीवित ब्रजभाषा काव्य की भाषा न थी, वरन् सूर तथा अन्य अष्टछाप कवियों की साहित्यिक ब्रजभाषा ही कविता का माध्यम थी। कविता का विषय नायिका-भेद और रीति-ग्रंथों तक ही सीमित था। रीति-कवि नर-नारियों को केवल नायक और नायिका के रूप में ही देखते थे, इससे अधिक देखने और जानने की उन्हें इच्छा भी न थी। उनके लिए भगवान् कृष्ण से लेकर भिखारी तक सभी नायक थे और राधा से लेकर धोबिन तक प्रत्येक स्त्री नायिका थी। भूषण और लाल जैसे कुछ गिने-चुने कवियों को छोड़ कर उनमें से किसी ने एक क्षण के लिए भी यह न सोचा कि उसी काल में राणा प्रताप जैसे वीर भी हुए थे जिन्होंने अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए सम्राट् अकबर की विशाल शक्ति के विरुद्ध आजीवन युद्ध किया, उन्होंने कभी स्वप्न में भी न

जाना कि उनके बीच में छत्रपति शिवाजी भी थे जिन्होंने मराठों की बिखरी हुई शक्ति का सगठन कर तत्कालीन मुगल सम्राट् औरंगज़ेब के दाँत खट्टे कर दिए, गुरु गोविंद सिंह की शंख ध्वनि उनके कानों तक न पहुँच सकी और न वे दुर्गादास और छत्रसाल की महत्ता का ही अनुभव कर सके। अर्जुन और भीम के वीर-कृत्य कर्ण और दधीचि की उदारता, हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर की सत्यवादिता वे एक दम भूल गए। उन्हें केवल प्रेमी और प्रेमिकाओं की चचल आँखमिचौनी और नायक-नायिकाओं के लीलामय हाव-भाव ही याद रहे। उनका मनोविज्ञान स्त्री-पुरुषों की तुच्छ प्रवृत्तियों और अश्लील भावनाओं तक ही सीमित था, उनकी कवि-कल्पना किसी कल्पित व्रज की कुज-गलियों की भूल-भुलैयों में ही चक्कर काटती रही।

यह सीमित दृष्टिकोण, छन्दों के बंधन, अलकारों की परपरा और काव्य की रूढ़ियों के कारण और भी सकुचित हो गया था। कवित्त, सवैया और दोहा ही रीति-कवियों के प्रिय छद थे, अन्य असख्य छदों के दर्शन केवल केशवदास की 'रामचद्रिका' में ही हो सकते थे। यमक, अनुप्रास और तुक ही सत्कविता के माप-दड थे और मुक्तक ही काव्य का एक मात्र रूप था। खडकाव्य, महाकाव्य, आख्यानक गीति और गीतिकाव्य आदि अन्य काव्य-रूपों को कोई स्थान न मिला। काव्य के इस सीमित दृष्टिकोण का कारण यह था कि उस काल की कविता राजसभाओं की एक शोभा मात्र थी। कवि अपने सरक्षक राजाओं की प्रसन्नता को ही काव्य-रचना की चरम सीमा समझते थे। उस समय के राजा-नवाबों का दृष्टिकोण भी बहुत सकीर्ण था। वे अपने 'हरम' और दरबारी जीवन के अतिरिक्त और कुछ जानते ही न थे। अतएव उनकी सरक्षता में रहने वाले कवियों से नायिका-भेद के अतिरिक्त और आशा ही क्या की जा सकती थी! उन्नीसवीं शताब्दी के अतिम काल में मुद्रण-यन्त्र के प्रचार और छोटे छोटे राज्यों के लोप हो जाने के कारण कविता का केन्द्र राजसभाओं से उठकर शिक्षित जनता में आ गया। मासिक और साप्ताहिक पत्र समसामयिक साहित्य साधारण जनता तक पहुँचाने लगे। पुस्तकें सस्ती हो गई, अतः साहित्यिकों के नवीन विचार और सुन्दर भाव जनता तक सुगमतापूर्वक पहुँचने लगे। शिक्षा-प्रसार के साथ कविता का क्षेत्र भी विस्तृत होने लगा। जनता राजा और नवाबों की तरह न थी और न उसका दृष्टिकोण 'हरम' तक ही सीमित था। वह राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानती थी, भीम और अर्जुन,

कर्ण और दधीचि, हरिश्चंद्र और युधिष्ठिर को आदर्श पुरुषों की भाँति स्मरण करती थी और राणा प्रताप और शिवाजी की पुण्य स्मृति के प्रति श्रद्धा रखती थी। उसे नायक-नायिकाओं के लीलामय हाव-भाव को मनोरंजन का साधन बनाने का न अवकाश ही था, न इच्छा ही थी। आधुनिक कवि जो स्वयं शिक्षित जनता के व्यक्ति थे, इस बात का अनुभव करने लगे कि उनके पूर्ववर्ती कवि पथ-भ्रान्त हो गए थे। इन्होंने उनके संकुचित दृष्टिकोण का विरोध किया। कालिदास और भवभूति, वाल्मीकि और व्यास के संस्कृत काव्यों के अनुशीलन से उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि मनुष्य केवल नायक ही नहीं है और न उसका समस्त जीवन नायिकाओं के हास-विलास तक ही सीमित है। मनुष्य समाज का एक जीवित व्यक्ति है, वह अपने कर्तव्य पालन के लिए अपनी प्रियतमा पत्नी का परित्याग कर सकता है और निर्वासन की यातनाओं को सहर्ष सहन कर सकता है। अस्तु, आधुनिक कवि, जिन्हें मानव-जीवन को समझना और उसकी भावपूर्ण व्यजना करना अभीष्ट था, रीति-कवियों में संकुचित दृष्टिकोण का विरोध और वहिष्कार करने लगे।

स्वच्छंदवाद का प्रथम चरण (१६००-१६१६) 'सैद्धांतिक स्वच्छंदवाद' (Theoretical Romanticism) का काल था जिसका सिद्धांत उन्नीसवीं शताब्दी की कविता के संकुचित दृष्टिकोण के प्रति असंतोष और उसकी अतिशय नियम-बद्धता, रूढ़िगत परंपरा और साहित्यिक पांडित्य के प्रति विरोध था। इस विरोध के दो पक्ष थे। प्रथम पक्ष में प्रकृति और मानव-जीवन को उनके संकीर्ण वातावरण से मुक्त करना आवश्यक था और फिर नवीन विचार और संस्कृति के आलोक में काव्य के क्षितिज को विस्तीर्ण करना था। रीति-कवियों ने प्रकृति को शृङ्गार का उद्दीपन मात्र बना रखा था, उसका सौंदर्य और वैभव उन्हें अगोचर सा बना रहा। हेमवती उषा, जो हमारे वैदिक पूर्वजों को आनंद-विभोर कर देती थी, उन कवियों को मुग्ध न कर सकी; पत्रों के मर्मर-संगीत तथा निर्झरिणी के कल-कल गान में उन्हें कोई आकर्षण न था। उद्दीपक प्रकृति ही उनके लिए एकमात्र प्रकृति थी। आधुनिक कवियों को इस उद्दीपक प्रकृति से संतोष न हुआ, वे प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव करने लगे। अतः रीतिकालीन परंपरा से भिन्न नायक-नायिकाओं से स्वतंत्र ऋतु-वर्णन का प्रयत्न किया जाने लगा। विरहिणियों के वैरी पावस का एक आधुनिक वर्णन देखिए :

वर्षा आई वर्षा आई—जलदों ने जल-नदी बहाई,
देखो घोर घटा नभ छाई—बूँदों की है झपी लगाई।

× × × ×

इन्द्र धनुष की छटा निराली, वीरबहूटी लाली लाली,
शोभामयी हुई हरियाली—सबका चित्त लुभाने वाली। इत्यादि

[वर्षा—बालचद्र शर्मा, सरस्वती, जुलाई १९०६]

आगे चलकर ऋतुओं के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य रूपों का भी विशद चित्रण किया गया।

परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात मानव-जीवन को रीतिकालीन सकुचित दृष्टिकोण से बाहर निकालना था। अब मनुष्य केवल नायक मात्र न था जो नायिकाओं के हाव-भाव और हास-विलास में ही जीवन बिता देता, अब उसे एक योद्धा, देशभक्त, वीर कृषक और सत्यवादी के रूप में आना पड़ा। वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अपने माता-पिता और पुत्र-पुत्री से भी स्नेह करता है। वह प्रणयी भी है, परतु अब उसका प्रेम कहीं अधिक विशुद्ध, व्यापक और उच्च भावना से परिपूर्ण है। 'प्रेम-पथिक' में 'प्रसाद' ने लिखा है।

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रांत-भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

केवल प्रेम ही नहीं वरन् मानव-जीवन की अन्य वृत्तियाँ और भावनाएँ—वीरता, विरक्ति इत्यादि—विशुद्ध और उच्च भावनापूर्ण हो गई।

सैद्धातिक स्वच्छदवाद का दूसरा पक्ष रीति-परपरा की अतिशय नियम-बद्धता और साहित्यिक पाडित्य का विरोध था। यह विरोध कविता के सभी बाह्य-उपादानों—भाषा, छद, साहित्यिक रूप और परिभाषा—में प्रत्यक्ष हुआ। कविता की भाषा ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली हो गई। सभी प्रकार के वृत्त—मात्रिक, वर्णिक, मुक्तक, तथा उर्दू बह्र, बँगला पयार और अँगरेज़ी 'सॉनेट' भी प्रयुक्त होने लगे और उनके अत्यानुप्रास-क्रम का भी अनुकरण होने लगा। केवल मुक्तक-काव्यों के स्थान पर महाकाव्य, खडकाव्य, गीति-काव्य इत्यादि भी सफलतापूर्वक लिखे जाने लगे। रीति-कवि तुक

और अलंकारों को ही सत्कविता का आवश्यक अंग समझते थे, उनकी कविता में रस, ध्वनि और वक्रोक्ति का अभाव रहता था। स्वच्छंदवादियों ने इसका विरोध किया। उन्होंने महत् काव्य की भावना की पुनः प्रतिष्ठा की और सहजोद्रेक और भावना को काव्य में उच्च स्थान दिया। यह निस्संदेह सत्य है कि भाषा की असमर्थता के कारण अधिकाश कवि उच्च कोटि की काव्य-रचना में सफल न हो सके, क्योंकि उनकी समस्त शक्ति विशुद्ध भाषा लिखने में ही लग गई—विशुद्ध भाषा में इतिवृत्तात्मक काव्य-रचना ही उनकी चरम सफलता थी—फिर भी जहाँ तहाँ हमें उच्च विचार और भावों से परिपूर्ण वास्तविक सत्कविता के दर्शन हो जाते हैं।

स्वच्छदवाद का दूसरा चरण केवल एक साहित्यिक आदोलन मात्र न था, वरन् वह कलात्मक और दार्शनिक आदोलन भी था। इसमें विश्व की वेदना, सृष्टि का रहस्य, उदात्त भावना तथा प्रेम और वीरता को अपनाने की तीव्र आकाक्षा, अलभ्य श्रेय से उद्भूत एकात वेदना और अनत निराशा आदि विशिष्ट दार्शनिक वृत्तियों का प्रदर्शन था। यह द्वितीय आदोलन १६१४ के आस पास मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाडेय, राय कृष्णदास, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की स्फुट कविताओं से आरभ होता है, किन्तु इसका वास्तविक प्रारभ १६१८ से मानना चाहिए जब से 'प्रसाद', सुमित्रा-नदन पत और 'निराला' की नवीन शैली की कविताओं का प्रकाशन होता है।

इस स्वच्छदवाद आदोलन के तीन पक्ष हैं—दार्शनिक, कलात्मक और साहित्यिक। यह आदोलन तत्त्व-ज्ञान के अर्थ में दार्शनिक नहीं है और न पद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के भक्ति-आदोलन के ही भाँति है। इसकी दार्शनिकता की प्रमुख विशेषता पिछले काल के सामान्य दृष्टिकोण के विपरीत दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रदर्शन मात्र है। इस दार्शनिक दृष्टिकोण ने मानवीय अनुभूति की परिधि को बहुत ही विस्तृत कर दिया जिसकी अभिव्यजना सर्वचेतनवादी कविताओं (Pantheistic Poetry) में मिलती है। कवि को समस्त सृष्टि में—पशु, पक्षी, जड़ और अचेतन वस्तुओं में—एक अव्यक्त चेतना का प्रवाह दिखाई देता है, प्रत्येक स्थान में जीवन का आभास-सा मिलता है। कवि कभी मधुप-बालिका से प्रार्थना करता है :

> सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि! मुझे भी अपने मीठे गान।
> कुसुम के चुने कटोरों से, करा दो ना कुछ कुछ मधु-पान।

[पल्लव—मधुकरी पृष्ठ ३५]

और कभी किरणों से प्रश्न करता है :

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज ?
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण - सरसिज - किंजल्क समान
उड़ाती हो परमाणु - पराग । इत्यादि ।

[झरना—किरण, पृष्ठ १४]

सर्वचेतनवादी कविता के अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टिकोण अनन्त की खोज के लिए भी भावना उत्पन्न करता है। कवि को जगत् की समस्त वस्तुएँ स-सीम दिखाई देती हैं, वह स-सीम से ऊबकर अ-सीम के दर्शन के लिए व्यग्र हो उठता है। किन्तु अ-सीम है कहाँ ? कवि घबड़ाकर कह उठता है :

चला जा रहा हूँ पर तेरा अन्त नहीं मिलता प्यारे !
मेरे प्रियतम तू ही आकर अपना भेद बता जा रे। इत्यादि

[अगाध की गोद में—रामनाथ 'सुमन']

भावनाओं का दैवीकरण (Deification) और वेदनामय खिन्नता (Painful Melancholy) दार्शनिक स्वच्छन्दवाद के दो अन्य प्रमुख लक्षण हैं। पहले का प्रतिनिधि उदाहरण 'सुमन' का उद्वेलित यौवन है :

हे जीवन के स्वप्न ! मधुरिमा के निर्मम आगार !
भ्रांति के सार ! सृष्टि के द्वार !
कल्पना के गौरव आह्वान ! मूक-प्राणों के मदक प्राण !
इस निर्दोष वसन्त-निशा में शिशिर-बीच क्यों घोले हो ?
हे प्रथम-मिलन के कंपन ! विधवा के अव्यक्त निवेदन !
शत-शत-मदनों के मदन ! दुखों के सदन !
वासना के छींटे क्यों देते हो ? इत्यादि ।

और दूसरे का प्रतिनिधि उदाहरण कवि 'प्रसाद' का 'आँसू' है।

द्वितीय स्वच्छन्दवाद एक कलात्मक आन्दोलन भी है। कला की भावना भारतवर्ष के लिए नई नहीं है, यद्यपि यह शब्द नया है और पश्चिम से लिया

गया है। कालिदास के 'मेघदूत', जयदेव के 'गीत-गोविन्द', विद्यापति के पदों, बिहारी के दोहों तथा मतिराम और पद्माकर के सवैयों में कला है। रीति-काव्य स्वयं एक कलात्मक आंदोलन था। किन्तु रीतिकालीन और आधुनिक कलात्मक आंदोलनों में महान् अंतर है। प्राचीन कलात्मक आंदोलन प्रतिष्ठित रूढ़ियों और परंपराओं का परिपालन मात्र था, परंतु आधुनिक कला एकांत रूप से व्यक्तिगत प्रतिभा की व्यंजना है। रीतिकाल में प्राचीन आचार्यों द्वारा समादृत किसी गुण-विशेष अथवा अलंकार का सफल निर्वाह ही कवि कला की चरम सफलता समझी जाती थी। बिहारी के निम्न दोहे में असंगति अलंकार की अद्भुत व्यंजना है :

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत।
परत गाँठ दुरजन हिये, नई दई यह रीत।

कला की दृष्टि से यह एक पूर्णतः सफल रचना है और असंगति अलंकार के स्पष्ट और सफल निरूपण में हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। इसी प्रकार रस-लीन का यह प्रसिद्ध दोहा :

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।

उपमा और यथासंख्य अलंकार के निरूपण में अनुपमेय है। कला का रूप और सौन्दर्य प्रतिष्ठित परंपराओं तथा नियमों के सफल निर्वाह पर ही निर्भर था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में भी कला का यही आदर्श रहा। मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ-वध' में इसी कला का सुंदर रूप मिलता है। यथा :

टंकार ही निर्घोष था, शर-वृष्टि ही जल-वृष्टि थी,
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युद्-दृष्टि थी,
गांडीव रोहित।रूप था. रथ ही सशक्त समीर था,
उस काल अर्जुन वीर वर अद्भुत जलद गंभीर था।

किन्तु स्वच्छंदवाद आंदोलन के द्वितीय चरण में प्रतिष्ठित रूढ़ियों, परंपराओं और नियमों को विदा दे दी गई और कला व्यक्तिगत प्रतिभा का अभिव्यंजना

मात्र हो गई। कविता के संगीत और चित्रांकण में अभिव्यक्त होने वाली कल्पना-शक्ति आधुनिक कवि की काव्य कला की कसौटी है। भाषा की अर्थ और नाद व्यंजना की सहायता से कवि दृश्य रूपों की सृष्टि करता है। अब केवल कुछ अलकारों द्वारा ही किसी वस्तु का वर्णन करना कला नहीं है, वरन् काव्य-जगत् की वस्तुओं को स्वप्न-चित्रों के समान पाठकों के सामने उपस्थित कर देना ही कला की सफलता है। आधुनिक काव्य एक जाग्रत स्वप्न है।

प्रतिष्ठित रूढियों और परपराओं पर व्यक्तिगत प्रतिभा की विजय का एक परिणाम यह हुआ कि अब कविता मे विविधरूपता के दर्शन होने लगे। बिहारी, मतिराम और रसलीन के दोहों की सृष्टि एक ही मानसिक यन्त्रालय में हुई जान पड़ती है, यद्यपि उनकी कोटि और विशेषताओं मे अतर है। एक ही साँचे में ढले हुए कवित्तों और सवैयों से पाठकों का जी ऊब जाता है। परंतु आधुनिक काल में एक कवि की रचनाओं में ही विविध-रूपता मिलती है। 'प्रसाद' के 'झरना' ग्रथ में अनेक कविताओं का समूह है जिसमें प्रत्येक एक दूसरे से भिन्न है। सुमित्रानदन पंत की 'परिवर्तन' नामक एक ही कविता में दो छंद एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि दोनों एक ही कवि की रचना है, यह कहना कठिन हो जाता है।

द्वितीय स्वच्छदवाद आदोलन का तीसरा पक्ष इसका साहित्यिक रूप है। भाषा-शैली (Diction), छंद, काव्य-रूप और कविता की परिभाषा—इन सभी क्षेत्रों में महान् परिवर्तन हो गया है। कविता की भाषा बीसवीं शताब्दी के प्रारभ में ही ब्रज से खड़ी बोली हो गई। प्रथम स्वच्छदवाद आदोलन में खड़ी बोली-कविता में ही भाषा की विविध शैलियों का प्रयोग हुआ। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' में विशुद्ध सस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग किया। यथा .

> सघन-उद्यम दुर्जय वत्स का,
> कुटिलता अघ-संज्ञक सर्प की,
> विकट घोटक की अपकारिता,
> हरि-निपातन-यत्न अरिष्ट का।

और चौपदों में मुहावरेदार बोल-चाल की भाषा प्रकट की। यथा :

> संकटों की सच करे परवाह क्या?
> हाय मंझा अब सुधारों का खिया।

तब भला वह मूसलों से क्या डरे;
जब किसी ने ओखली में सिर दिया।

किन्तु मैथिलीशरण गुप्त और गोपालशरण सिंह की शुद्ध खड़ी बोली ही काव्य की प्रतिष्ठित भाषा मानी गई। उदाहरण-स्वरूप 'किसान' की भाषा देखिए:

ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा,
शून्य मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा।
कभी दौड़ने लग जाते हम, रह जाते फिर मुग्ध खड़े,
उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहंग बड़े।

किन्तु द्वितीय चरण में कवि भाषा में सीधे-सादे शब्दों का बहिष्कार-सा करने लगे। शीघ्र ही एक समृद्ध भाषा शैली का विकास होने लगा जिसमें संस्कृत तत्सम तथा तथा ध्वनि-व्यंजक शब्दों की अधिकता थी। यह चमत्कार-पूर्ण और आलोकमय विशेषणों तथा चित्रमय और ध्वन्यात्मक शब्दों का युग था। उदाहरण के लिए सुमित्रानदन पत का एक छद लीजिए:

अँगड़ाते तन में,
अलसित पलकों से स्वर्ण-स्वप्न नित
सजनि! देखती हो तुम विस्मित
नव, अलभ्य, अज्ञात।

[वीणा—अँगड़ाते तम से]

इसमें 'तम' का विशेषण 'अँगड़ाते', 'पलक' का 'अलसित' और 'स्वप्न' का 'स्वर्ण', 'नव', अलभ्य' और 'अज्ञात' है। इस चार पक्तियों के छंद में छः विशेषण हैं। 'अँगड़ाते' शब्द में व्यंजना है और इससे एक चित्र-सा सामने आ जाता है। एक उदाहरण 'निराला' की 'यमुना के प्रति' रचना से लीजिए:

वह सहसा सजीव कम्पन-द्रुत
सुरभि-समीर, अधीर वितान,
वह सहसा स्तंभित वक्षस्थल
टलमल पद, प्रदीप निर्वाण;
गुप्त-रहस्य-सृजन-अतिशय श्रम,
वह श्रम-श्रम से संचित ज्ञान,

इस एक छंद में पहला चरण १५ मात्रा का दूसरे और तीसरे १६ मात्रा के, चौथा २७ मात्रा का, पाँचवें और छठे १३ मात्रा के और अंतिम दो चरण २४ मात्रा के हैं। कवि ने एक ही छंद के अतर्गत पदों में मात्राओं का अंतर पूर्ण स्वतंत्रता से किया है। यह प्रतिष्ठित विधानों के प्रति विद्रोह है। सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' में विद्रोह की भावना और भी प्रबल है। उन्होंने अपनी 'अधिवास', 'जुही की कली', 'शेफालिका' और 'संध्या-सुदरी' आदि कविताओं में सबसे पहले मुक्त छद का प्रयोग किया। यह प्राचीन रूढ़ियों और नियमों के प्रति विद्रोह का युग था और इस मुक्त छंद ने उन रूढ़ियों से पूर्ण मुक्ति की घोषणा कर दी।

काव्य-रूप की दृष्टि से स्वच्छंदवाद आदोलन का द्वितीय चरण प्रधान रूप से गीतिवाद का युग था। भावों की संगीतात्मक व्यजना के अर्थ में गीति-काव्य भारत में और विशेष रूप से हिन्दी में बहुत प्रचलित रहा है। भक्तिकाल इसी प्रकार के गीति-काव्य का युग था। किन्तु आधुनिक गीति-काव्य पश्चिमी शैली का गीति है; यह संगीतमय भाषा में रचित एक अभ्यांतरिक काव्य (Subjec.iue peetry) है। यह प्रधानतः आधुनिक सार्वजनिक-समानाधिकार-वाद का साहित्य है या दूसरे शब्दों में, यह आधुनिक व्यक्तिवाद का साहित्य है। इसके समस्त भावावेगों में कवि के व्यक्तित्व का स्पष्ट दर्शन होता है। इसके परिणाम-स्वरूप आधुनिक गीति-काव्यों का केन्द्र 'मैं' (उत्तम पुरुष) हो गया है। प्राचीन भारत में भक्त कवियों के आत्म-निवेदन को छोड़कर इस प्रकार का आत्माभिव्यंजन एक निषिद्ध कार्य समझा जाता था, परतु समय के फेर से वही कविता मे महत्त्वपूर्ण वस्तु समझी जा रही है। प्राचीन वीर आदर्श और वीर-पूजा की भावना सदा के लिए विदा हो गई, अब प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र का स्वयं ही नायक हो गया है। अस्तु, वह अपने को ही अपनी कविता का केन्द्र मानता और समझता है।

इस काल की कविता में रस और अलकार का स्थान ध्वनि और व्यंजना ने ले लिया। भारतीय साहित्य में कविता की कसौटी के पाँच स्वतंत्र रूप मिलते हैं। भरत और उनके अनुयायी रस को काव्य का प्राण मानते हैं; आनदवर्धनाचार्य और मम्मटाचार्य ध्वनि को काव्य का आदर्श बतलाते हैं; दडी और भामह अलंकारों को काव्य का एक मात्र आभूषण समझते हैं; कुंतक वक्रोक्ति को और वामन रीति को काव्य की कसौटी मानते हैं। रीतिकाल में अलकार काव्य का आदर्श माना जाता था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक

स्खलित वसन-सा तनु सा तनु अभराग,
भग्न, उदास, व्यथित अभिमान।

[पल्लव—पृष्ठ ५४]

यह पूरा छद चमत्कारपूर्ण तथा आलोकमय विशेषणों से भरा है। 'स्खलित', 'अधीर', 'टलमल' इत्यादि शब्द चित्रात्मक और व्यजनापूर्ण हैं। केवल एक शब्द से ही पूरा चित्र आँखों के सामने आ जाता है। ऐसे शब्द भाषा के लिए एकदम नए थे। शब्द कोष में वे चाहे वर्तमान हों, परन्तु प्रचलित न थे। छायावादी कवियों ने इस प्रकार के शब्दों की खोज की और ऐसे ही नवीन शब्दों का निर्माण कर उनका प्रचार किया। इस स्वच्छदवादी कविता की नई भाषा में विशेषणों और भाववाचक सज्ञाओं की अधिकता है।

इस काल में छदों में भी महान् परिवर्तन हुए। स्वच्छदवाद आदोलन के प्रथम चरण में कवियों ने हिन्दी, सस्कृत, उर्दू, बँगला और अँगरेजी के विविध छदों का प्रयोग किया, परतु इसके साथ वे उन छदों के प्रतिष्ठित नियमों और परपराओं का भी पालन करते रहे। उन्होंने उनमें कुछ परिवर्तन अवश्य किए, किन्तु वे अधिकाश किसी प्रतिष्ठित रूढ़ि अथवा सिद्धात के अनुकूल थे। वे प्रतिष्ठित रूढ़ियों और नियमों से अपने को स्वतत्र न कर सके थे। परतु द्वितीय चरण में प्राचीन नियम और विधान भाव-व्यजना में बाधक समझे गए और कवियों ने समादृत नियमों की अवहेलना कर विषय और भाव के अनुकूल छदों का प्रयोग प्रारभ कर दिया। सुमित्रा-नदन पत ने एक ही छद में पदों की मात्रा में भिन्नता ला दी। यथा :

यह अमूल्य मोती का साज,
इस सुवर्णमय, सरस परों में
(शुचि-स्वभाव से भरे सरों में)
तुमको पहना जगत देख ले,—यह स्वर्गीय-प्रकाश।
मन्द विद्युत्-सा हँसकर,
वज्र-सा उर में धँसकर,
गरज, गगन के गान! गरज गंभीर स्वरों में,
भर अपना संदेश उरों में, औ अधरों में। इत्यादि।

इस एक छंद में पहला चरण १५ मात्रा का दूसरे और तीसरे १६ मात्रा के, चौथा २७ मात्रा का, पाँचवें और छठे १३ मात्रा के और अंतिम दो चरण २४ मात्रा के हैं। कवि ने एक ही छद के अतर्गत पदों में मात्राओं का अतर पूर्ण स्वतन्त्रता से किया है। यह प्रतिष्ठित विधानों के प्रति विद्रोह है। सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' में विद्रोह की भावना और भी प्रबल है। उन्होंने अपनी 'अधिवास', 'जुही की कली', 'शेफालिका' और 'सध्या-सुदरी' आदि कविताओं में सबसे पहले मुक्त छंद का प्रयोग किया। यह प्राचीन रूढ़ियों और नियमों के प्रति विद्रोह का युग था और इस मुक्त छंद ने उन रूढ़ियों से पूर्ण मुक्ति की घोषणा कर दी।

काव्य-रूप की दृष्टि से स्वच्छंदवाद आंदोलन का द्वितीय चरण प्रधान रूप से गीतिवाद का युग था। भावों की संगीतात्मक व्यजना के अर्थ में गीति-काव्य भारत में और विशेष रूप से हिन्दी में बहुत प्रचलित रहा है। भक्तिकाल इसी प्रकार के गीति-काव्य का युग था। किन्तु आधुनिक गीति-काव्य पश्चिमी शैली का गीति है; यह संगीतमय भाषा में रचित एक आध्यांतरिक काव्य (Subjec.iue poetry) है। यह प्रधानतः आधुनिक सार्वजनिक-समानाधिकार-वाद का साहित्य है या दूसरे शब्दों में, यह आधुनिक व्यक्तिवाद का साहित्य है। इसके समस्त भावावेगों में कवि के व्यक्तित्व का स्पष्ट दर्शन होता है। इसके परिणाम-स्वरूप आधुनिक गीति-काव्यो का केन्द्र 'मैं' (उत्तम पुरुष) हो गया है। प्राचीन भारत में भक्त कवियों के आत्म-निवेदन को छोड़कर इस प्रकार का आत्माभिव्यंजन एक निषिद्ध कार्य समझा जाता था, परतु समय के फेर से वही कविता में महत्त्वपूर्ण वस्तु समझी जा रही है। प्राचीन वीर आदर्श और वीर-पूजा की भावना सदा के लिए विदा हो गई, अब प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र का स्वय ही नायक हो गया है। अस्तु, वह अपने को ही अपनी कविता का केन्द्र मानता और समझता है।

इस काल की कविता में रस और अलकार का स्थान ध्वनि और व्यंजना ने ले लिया। भारतीय साहित्य में कविता की कसौटी के पाँच स्वतंत्र रूप मिलते हैं। भरत और उनके अनुयायी रस को काव्य का प्राण मानते हैं, आनंदवर्धनाचार्य और मम्मटाचार्य ध्वनि को काव्य का आदर्श बतलाते हैं; दडी और भामह अलंकारों को काव्य का एक मात्र आभूषण समझते हैं; कुंतक वक्रोक्ति को और वामन रीति को काव्य की कसौटी मानते हैं। रीतिकाल में अलकार काव्य का आदर्श माना जाता था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक

(क) ईश्वरावतार—राम और कृष्ण

राम और कृष्ण भारतीय साहित्य के सर्वप्रधान विषय रहे हैं। हिन्दी का भक्तिकाल तो इन्हीं दोनों ईश्वरावतारों के गुण-गान का युग है। राम और कृष्ण मूलतः मनुष्य रूप में चित्रित किए गए हैं। 'रामायण' में वाल्मीकि ने राम को और 'महाभारत' में व्यास ने कृष्ण को मानव माना है, निस्संदेह, उनमें जितने गुण जितने अधिक परिमाण में मिलते हैं उतने दूसरों में भी नहीं मिलते। पौराणिक काल में इन महापुरुषों पर ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की गई और भक्तिकाल में तो ये ही ईश्वर हो गए। रामानंद और तुलसीदास ने राम का और वल्लभाचार्य, सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने कृष्ण का ब्रह्म-रूप में प्रचार किया। परन्तु आधुनिक काल में वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार और बुद्धिवाद के प्राधान्य से जब अंधभक्ति के स्थान पर तार्किक बुद्धि का प्रभाव बढ़ा तब शिक्षित और विचारवान् पुरुषों को ईश्वर के अवतारवाद में अविश्वास होने लगा। वे इसे समझ ही नहीं सकते थे कि रावण और कंस के विनाश के लिए ईश्वर को मानव-रूप धारण करने की भी कोई आवश्यकता थी जब कि एक दुर्घटना मात्र से उन्हीं जैसे लाखों राक्षस एक क्षण में भू-गर्भ में विलीन हो सकते थे। आर्य समाज अवतारवाद के विरुद्ध झंडा उठाए हुए था। इसका फल साहित्य पर भी पड़ा और अयोध्यासिंह उपाध्याय और रामचरित उपध्याय ने कृष्ण और राम को यथासंभव मानव-चरित्र के रूप में चित्रित किया।

अयोध्यासिंह ने 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण को एक आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया। बंगाल के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक बंकिमचंद्र चटर्जी ने 'कृष्ण-चरित्र' नामक पुस्तक में यह भली भाँति प्रदर्शित कर दिया है कि किस प्रकार कृष्ण के स्वाभाविक और मानुषिक कार्य अतिमानुषिक रूप में परिवर्तित किए गए। 'प्रिय-प्रवास' के कवि ने कृष्ण के प्रसिद्ध अतिमानुषिक कार्यों को एक देश और समाज-सेवक के स्वाभाविक और मानुषिक कार्यों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'प्रिय-प्रवास' की भूमिका में कवि ने स्वयं लिखा है, "मैंने श्री कृष्णचंद्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ मैं श्रीमद्भगवद्गीता का यह श्लोक मानता हूँ, 'यद् यद् विभूतिमत् सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्त-देवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।' अतएव जो महापुरुष है उसका अवतार होना निश्चित है।" परंतु पुराणों के कृष्ण से ईश्वरत्व निकाल कर

उनकी आदर्श मानव-रूप में पुनः सृष्टि करना साधारण काम न था। 'प्रिय-प्रवास' में कवि ने यही कठिन कार्य पूरा कर दिखाया है। कृष्ण के अति-मानुषिक कार्य यहाँ स्वाभाविक रूप में वर्णित हैं। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण का गोवर्द्धन-धारण प्रसंग ले लीजिए। 'प्रिय-प्रवास' में कवि ने उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है : एक बार व्रज में घनघोर वृष्टि हुई। लगातार सात दिन तक मूसलाधार वृष्टि होती रही। व्रज जलमय हो गया। मनुष्य अपने गोधन के साथ उस जल की बाढ़ में डूबने उतराने लगे। सभी रक्षा के लिए 'त्राहि त्राहि' करने लगे। इस विपत्ति में श्रीकृष्ण ने अपने असीम साहस, बल और कौशल से सभी मनुष्यों और गौओं की प्राण-रक्षा कर उन्हें गोवर्द्धन पर्वत की सुरक्षित कदराओं में पहुँचाया।

> **अमण ही करते सबने उन्हें,**
> **सकल काल लखा सप्रसन्नता।**
> **रजनि भी उनकी कटती रही,**
> **स-विधि-रक्षण में व्रज-लोक के।**
> **लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,**
> **व्रज-धराधिप के प्रिय-पुत्र का;**
> **सकल लोग लगे कहने उसे**
> **रख लिया उँगली पर श्याम ने।**

[प्रिय-प्रवास—पृष्ठ १५६]

इस चित्रण पर किसी भी आधुनिक मनुष्य को आपत्ति नहीं हो सकती। 'प्रिय-प्रवास' की महत्ता श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व के विपरीत उनके आदर्श मानव-चरित्र-चित्रण में है।

'राम चरित-चिन्तामणि' में रामचरित उपाध्याय को अयोध्यासिंह उपाध्याय की भाँति राम के आदर्श-चित्रण के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा। राम-चरित्र में अलौकिक घटनाएँ हैं ही नहीं। वाल्मीकि ने राम को मानव-चरित्र के रूप में चित्रित किया है, उनमें ईश्वरत्व का आरोप नहीं किया। परन्तु रामचरित उपाध्याय ने अपने महाकाव्य में 'रामायण' की कथा को एक भिन्न रूप देने का प्रयत्न किया है. इसमें उन्होंने कथानक को राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। परंतु इस दृष्टिकोण से राम, सीता,

राम और कृष्ण का इतना प्रचार हुआ कि देवी देवताओं की कथा की ओर कवियों का ध्यान भी न गया। राम और कृष्ण के पीछे ये इतने मस्त हुए कि और किसी ओर ध्यान देने का उन्हें न अवकाश ही था और न इच्छा ही थी। राम काव्य में हनुमान और सुग्रीव के रूप में देवता और देव-सम्भव वीरों का भी कुछ स्थान मिल गया था परन्तु कृष्ण-काव्य में उनके लिए कोई स्थान न था। ब्रज को डुबाने के लिए इन्द्र की असफल और अनधिकार चेष्टा ने कृष्ण भक्तों को देवताओं का विरोधी बना दिया था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पहले काव्य में देवी देवताओं का बहिष्कार-सा होता रहा। बीसवीं शताब्दी में प्राचीन संस्कृत साहित्य के पुन प्रचार से उन्हें साहित्य में स्थान तो अवश्य मिलने लगा, परन्तु पाश्चात्य संस्कृति के संसर्ग से जनता को इन अमानुषिक और अतिमानुषिक चरित्रों के अस्तित्व में ही अविश्वास होने लगा। आधुनिक स्कूली भूगोल की पुस्तकों में स्वर्गलोक, पाताललोक, नागलोक इत्यादि का विवरण नहीं मिलता और न क्षीरसागर और दधिसमुद्र का ही वर्णन मिलता है। इसका फल यह हुआ कि देवी और देवताओं को जो, हजार वर्षों से काव्य लोक से निर्वासित थे, आधुनिक काव्य में आने की आज्ञा तो अवश्य मिली परन्तु उनके अस्तित्व में किसी को विश्वास न रहा। फिर भी महाभारत और पुराणों की अनेक दैवी कथाएँ हिन्दी पद्य में रूपांतरित हुई। परन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम है। इस क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त की 'शक्ति' सबसे सुंदर रचना है जो पौराणिक कथा के आधार पर लिखी गई। देवगण महिषासुर के अत्याचार से घबड़ा कर क्षीरसागर में विष्णु भगवान् के पास जाते हैं, वहाँ विष्णु के शरीर से एक तेज निकलता है और साथ ही अन्य देवताओं के शरीर से भी वैसा ही तेज निकलता है, और ये सब एकाकार होकर शक्ति को जन्म देते हैं जो सब देवताओं के अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो महिषासुर का वध करके देवताओं का दुख दूर करती है। निकट निरीक्षण से जान पड़ेगा कि यह पौराणिक कथा एक रूपक मात्र है जिसमें एक चिरंतन सत्य की व्यंजना है कि किस प्रकार भले मनुष्यों के एकत्र प्रयत्न के दुर्गुणों का नाश होता है। पौराणिक कथाओं में कुछ कथाएँ इसी प्रकार की रूपक मात्र हैं जिनमें मानव जीवन का चिरंतन सत्य देव और राक्षस की कल्पित कहानियों में निहित है। इन कहानियों का महत्त्व कभी कम नहीं होता। आधुनिक शुष्क बुद्धिवाद के युग में भी वे काव्य का विषय बन सकती हैं और बनती रहेंगी।

(ग) महावीर

आधुनिक काल में अनेक काव्य प्राचीन आदर्श महापुरुषों और महावीरों को नायक बना कर लिखे गए। ये महावीर कुछ तो ऐतिहासिक युग से पहले के हैं और शेष ऐतिहासिक युग के हैं।

ऐतिहासिक युग से पहले महावीरों की अधिकांश कथाएँ पुराणों और महाभारत से ली गई हैं और वे सभी वीर धार्मिक वीरों की श्रेणी में आते हैं। हरिश्चंद्र, दधीचि, शिवि इत्यादि धर्म के नाम पर मर कर अमर हो गए हैं। इनकी कथाएँ पुराणों में संचित हैं। श्यामलाल पाठक का 'कंस-वध' (१६२१), 'कुसुम' का 'कीचक-वध' (१६२१) और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'गंगावतरण' (१६२३) इत्यादि काव्य इन धार्मिक महावीरों की कथाएँ हैं। इन काव्यों में मौलिकता बहुत ही कम है और इनके कथानक, चरित्र-चित्रण इत्यादि सभी कुछ पुराणों के आधार पर हैं। कवियों के दृष्टिकोण, काव्य-परंपरा और भावनाओं के चित्रण में कोई नवीनता नहीं। 'सरस्वती' में पौराणिक कथाओं पर अनेक चित्र छपे, और उन पर कवियों ने कविताएँ रचीं। ये रचनाएँ भी अधिकाश पौराणिक कथाओं के रूपातर मात्र थे।

पौराणिक रचनाओं में मैथिलीशरण गुप्त के 'शकुंतला' का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें मौलिकता नहीं है, केवल कालिदास के अमर नाटक का कथानक अनेक मात्रिक और वर्णिक छंदों में नए ढंग से लिखा गया है। इस काव्य में विशद वर्णन और सुंदर चित्र भरे परे पड़े हैं। उदाहरण के लिए एक पर्याप्त होगा :

> थे चांचल्यविहीन लोचन खुले सौंदर्य के सद्म यों,
> पीते थे मकरंद भृंग सुख से पा के खिले पद्म ज्यों।
> था ऐसा वपु वंदनीय उसका स्वर्गीय शोभा सना,
> मानों लेकर सार भाग शशि का हो मार द्वारा बना!

इसमें वही पौराणिक काल की भाषा-शैली, वही पुरानी उपमाएँ, रूपक और उत्प्रेक्षा तथा जीवन के प्रति वही प्राचीन दृष्टिकोण मिलता है। प्राचीन संस्कृत-काव्यों और पौराणिक कथाओं को खड़ी बोली का नया वेश दे दिया गया है। परंतु इस वेश-भूषा के भीतर जो कलेवर और आत्मा छिपी है वह प्राचीन पौराणिक काल की ही है।

आधुनिक कविता के मानवीय विषयों में सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष ऐतिहासिक युग—प्राचीन, मध्य और वर्तमान युग—के महावीरों का गौरव-गान है। मैथिलीशरण गुप्त का 'रंग में भंग' (१९०९), लाला भगवानदीन का 'वीर-पंचरत्न' (१९०९-१९१४), सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य विजय' (१९१४), गोकुलचंद शर्मा का 'प्रणवीर प्रताप' (१९१५), मैथिलीशरण गुप्त का 'विकट भट' (१९१५) और गुरुकुल' (१९२९), रामकुमार वर्मा का 'वीर हमीर' (१९२२) और श्रीनाथ सिंह की 'सती पद्मिनी' (१९१५) इत्यादि इस काल की कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इसमें 'मौर्य-विजय' का कथानक चद्रगुप्त मौर्य और ग्रीक सेनापति सिल्यूकस पर उसकी विजय से संबंध रखता है।

ऐतिहासिक युग के महावीरों के प्रति आकर्षण का बहुत कुछ श्रेय पुरातत्व विभाग (Archæological Department) और कर्नल टाड के राजस्थान' को है। 'राजस्थान' में हमें एक अद्भुत वीरता के युग, और युद्ध-परंपरा तथा वीर-स्वभाव-संयुक्त एक वीर जाति के दर्शन हुए। इसकी अनेक कथाओं ने पाठकों को विस्मय-विमुग्ध कर दिया। राजपूतों के अद्भुत चरित्र में अनुपम वीरत्व और अलौकिक भावनाओं का सुंदर सम्मिश्रण मिलता है। आधुनिक खोजों से यह प्रमाणित होता है कि टाड वर्णित राजस्थान' की अनेक कहानियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं, फिर भी इससे 'राजस्थान' का महत्त्व कम नहीं होता, क्योंकि यद्यपि इसमें ऐतिहासिक तथ्यों की अशुद्धियाँ हैं, फिर भी उसमें राजपूत संस्कृति और वीरत्व की विशुद्ध आत्मा के दर्शन होते हैं।

धार्मिक प्रवृत्तिवालों को पौराणिक कथाएँ विशेष रुचिकर थीं, परंतु साधारण जनता को सती पद्मिनी की कथा, उसकी वीरता और जौहर, वीर हमीर का कठिन युद्ध और महाराणा प्रताप की अतिमानुषिक वीरता की कथाएँ, राम और कृष्ण की कथाओं से भी बढ़कर आकर्षक थीं। पौराणिक काल के महावीर और प्राचीन ऐतिहासिक युग के सम्राट् और योद्धा, राजपूतों से वीरता या चरित्र बल में कम न थे। स्कंदगुप्त, समुद्रगुप्त और पुष्यमित्र, हमीर और दुर्गादास से कहीं अधिक वीर थे; अशोक और चद्रगुप्त विक्रमादित्य कहीं अधिक प्रतापी थे, अर्जुन और परशुराम अलौकिक शक्तिसंपन्न थे; रघु, नहुष और ययाति त्रैलोक्य-विजेता सम्राट् थे; परंतु उनकी कथाओं और गौरव-गान में वह आकर्षण न था, जितना इन राजपूती कथाओं में था। इसका कारण यह है कि मनुष्य जीवन के असामान्य और अद्भुत

पक्ष की ओर अधिक आकर्षित होता है। राजपूतों में एक ऐसी असामान्यता और विलक्षणता थी जो और कहीं दुर्लभ है।

राजपूत वीरों का चित्रण आधुनिक काव्य में अद्भुत युद्ध-वीरों के रूप में हुआ है जो अपने वचन और कार्य में, अपनी चाल-ढाल और वेश-भूषा में एक अद्भुत वीरत्व का परिचय देते हैं। मृत्यु का तो वे मित्र की भाँति आलिंगन करते हैं। देखिए राणा प्रताप हल्दीघाटी में अपने साथियों को किस प्रकार उत्साहित और उत्तेजित करते हैं :

पैदा हुआ संसार में इक रोज़ मरेगा,
मरना तो मुक़द्दम है न टारे से टरेगा:
फिर इससे भला मौक़ा कहो कौन पड़ेगा,
राजपुती की क्या गोट का पौ रोज़ अड़ेगा ?
पांसे करो तलवार तबर तीर से यारो !
रण-खेल मरद का है नरद शत्रु की मारो। इत्यादि

मृत्यु-व्यवसायी युद्ध इन राजपूतों के लिए केवल एक खेल था। मृत्यु से डरना तो उन्होंने सीखा ही नहीं। जहाँ कहीं मान-अभिमान पर आँच आई वे मरने मारने के लिए प्रस्तुत हो गए। 'रंग में भंग' में हाड़ा कुंभ चित्तौर में बूँदी के नक़ली क़िले की रक्षा के लिए मेवाड़ के राना की बहुत बड़ी सेना से अकेले लड़ने लगते हैं और इस असंभव युद्ध में लड़ते लड़ते वीर-गति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार निश्चय मृत्यु का आलिंगन करना बहुत बड़ी मूर्खता है, वे अपनी प्राणरक्षा करके बूँदी के असली क़िले की रक्षा में पर्याप्त सहायता दे सकते थे; परंतु इस प्रकार की मूर्खता भी राजपूतों को ही शोभा देती है जो अपनी आन पर मर मिटने वाले थे। शांतिपूर्वक विचार करने पर कोई भी हाड़ा कुंभ के इस त्याग को महान् नहीं कहेगा, परंतु जब वे प्रभावशाली शब्दों में कहते हैं :

तोड़ने दूँ क्या इसे नक़ली क़िला मैं मान के ?
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु-मूर्ति को जड़ जान के ?
भ्रान्त जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से,
देखते भगवान को धीमान उसमें ध्यान से।
है न कुछ चित्तौर यह बूँदी इसे अब मानिए,
मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।

कौन।मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे?
मृत्यु माता की अगत में सहन हो सकती किसे?

तब ये शब्द आकाशवाणी की भाँति पवित्र और स्वर्गीय जान पड़ते हैं। अपने विश्वास के लिए प्राण देना सर्वदा महान् है, चाहे वह विश्वास कितना ही तुच्छ और भ्रांतिपूर्ण क्यों न हो।

कार्य में ही नहीं, राजपूतों के वचन में भी वीरता, निर्भीकता और अभिमान का पुट रहता है। 'विकट भट' में जोधपुर के महाराज विजयसिंह ने जब खास दरबार में पोकरण वाले देवीसिंह से पूछा

देवीसिंह जी!
कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे?

तब वीर देवीसिंह ने पहले तो इधर उधर का उत्तर दिया परन्तु विवश किए जाने पर कहा :

"पृथ्वीनाथ! जो मैं रूठ जाऊँ" कहा वीर ने,
"जोधपुर की तो फिर बात क्या, यह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही—
मैं यों नव-कोटी मारवाड़ को उलट दूँ।"

देवीसिंह के इस वचन में आत्म-प्रशंसा और मिथ्याभिमान की गंध मिलती है। परन्तु जब हम उसका युद्ध-कौशल और वीरत्व देखते हैं, जब वह अकेले ही विजयसिंह की सेना को रोक लेता है, तब ये शब्द उतने ही सत्य और गंभीर जान पड़ते हैं जितनी उसकी वीरता। फिर राजपूतों के चाल ढाल और हाव भाव में भी वीरता और अभिमान की वही झलक मिलती है। 'विकट भट' में देवीसिंह का वीर वंशज सवाईसिंह कितनी शान से विजयसिंह के दरबार में आता है :

निर्भय मृगेन्द्र यथा करता प्रवेश है
वन में ज्यों डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों
मोर के भभूके-सा प्रविष्ट हुआ साहसी
बालवीर मन्द मन्द धीर गति से, धरा
मानों धँसी जा रही थी, बदन गँभीर था,

उठता शरीर मानों अंग में न आता था,
वक्षस्थल देख के कपाट खुले आते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजपूत पूर्णरूप से वीर योद्धा थे। वीरता के वे मूर्तिमान् प्रतीक थे। उनका बाह्य और अंतर, उनके जीवन का वातावरण, सभी कुछ वीरत्व और शौर्य से भरा था। इस वीर जाति की तुलना इस संसार में दुर्लभ है। वे युद्ध से पैर पीछे नहीं रखते थे, अपनी शान, प्रतिष्ठा और गौरव के लिए मर मिटना उनके लिए साधारण काम था।

राजपूत-स्त्रियाँ भी पुरुषों से कम वीर न थीं। उन्होंने अद्भुत शौर्य और वीरता से अनेक युद्ध किए और कितनी बार शत्रुओं को परास्त किया। फिर नाश की निकट-संभावना देखकर उनका जौहर व्रत तो वीरता की चरम सीमा है। 'वीर क्षत्राणी' में लाला भगवानदीन ने इन राजपूत क्षत्राणियों की वीरता का गान गाया है।

राजपूत वीरों की विशेषता यह थी कि वे व्यक्तिगत वीर थे, केवल अपनी ही मान, प्रतिष्ठा और गौरव के लिए मर मिटने वाले थे। परंतु आधुनिक काल के वीर राष्ट्रीयता और जातीयता की भावना पर मर मिटने वाले हैं। इन्हें व्यक्तिगत मान-अपमान का तनिक भी ध्यान नहीं। फिर ये वीर, राजपूतों की भाँति शस्त्र लेकर संग्राम में जूझने वाले नहीं, वरन् मानसिक योद्धा हैं, जो दृढ़ व्रत, अहिंसा और त्याग की भावना को शस्त्र बनाकर युद्ध करते हैं। वे अपने प्रतिद्वंद्वी को मारना नहीं चाहते, केवल उसे ठीक रास्ते पर लाना चाहते हैं, उसे यह बतलाना चाहते हैं कि उन्हें अपना जन्मसिद्ध अधिकार मिलना चाहिए। साधारण भाषा में इसे पागलपन कहते हैं, परंतु यह पागलपन ही उनकी विशेषता है। मोहनलाल महतो इन पागलों का अभिनंदन करते हैं :

फटी हुई माता की आँचल को बढ़कर सीने वाले!
तुम्हें बधाई है ऐ पागल! मरकर भी जीने वाले।

मैथिलीशरण गुप्त ने इन विलक्षण मानसिक वीरों का एक बहुत ही सुंदर चित्र रूपक के द्वारा अपनी 'यात्री' नामक कविता में प्रस्तुत किया है :

मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में,
हिंस्र जंतु लगे हुए हैं प्राणियों की घात में।

महाराज तो विरले ही होते हैं। अस्तु, अब तक काव्य का विषय असामान्य और असाधारण मानवता ही रही है। आधुनिक काल की एक यह विशेषता है कि इस काल में सामान्य मानवता को भी काव्य में स्थान मिला। स्वच्छंद-वाद आंदोलन के द्वितीय चरण में जब कला की व्यंजना के लिए कविता में चित्रांकण को स्थान मिला तब चित्र के लिए वस्तु खोजने के लिए कवियों ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। प्रकृति में तो उन्होंने उसके असामान्य रूप को अपनाया परतु मानव-लोक में सामान्य मानवता पर उनकी दृष्टि पड़ी। पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से हमारे कवि यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे थे। अब तक वे काव्य लोक को इस मानव लोक से बहुत ऊँचे, कहीं स्वर्गलोक के पास, समझते थे, इसी कारण वे सदा ऊँची उड़ान भरा करते थे; परतु अब उनकी दृष्टि अपने चारों ओर भी पड़ने लगी। इसके फल-स्वरूप सामान्य मानवता को पहले पहल काव्य में उचित स्थान मिला।

सामान्य मानवता पर प्रथम महत्त्वपूर्ण कविता महावीर प्रसाद द्विवेदी रचित बीस आल्हा छंदों में कल्लू अल्हैत की जीवनी थी जो 'सरस्वती' (जनवरी १९०६) में 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' के नाम से प्रकाशित हुई:

अचकनु पहिरि बूट हम डाँटा बाबू बनेन देखाव सेखाव,
लागेन आवै जाय सभन माँ, कपड़ु फूट तब पना पताव।
जब तक हमरे तन माँ तनिकौ रहा गाँउ के रस का अँसु,
तब तक हम अखबार किताबैं खिस खिस कीन उजागर अंसु। इत्यादि

महावीर प्रसाद द्विवेदी से भी बहुत पहिले बालमुकुंद गुप्त ने सामान्य मानवता को विषय बनाकर कितनी ही हास्यपूर्ण कविताएँ लिखी थीं। उनकी 'विश विरहिणी' ने अपने पति को जो पत्र लिखा था उसका एक अंश निम्नलिखित है:

जो प्यारे छुट्टी नहिं पाओ, तो यह सब चीज़ें भिजवाओ।
चमचम पौडर, सुन्दर सारी लाल दुपट्टा ज़र्द किनारी।
हिन्दू बिस्कुट साबुन पोमेटम, तेल सफाचट औ अरबीराम।
हम तुम जिनको करते प्यार, वह तसवीरें भेजो चार।
दो या चार ताश हों ऐसे, उस दिन तुम कहते थे जैसे। इत्यादि
हास्य-लेखक, व्यंग्य-लेखक और सुधारवादी लेखक ही पहले पहल

सामान्य मानवता की ओर आकर्षित हुए। हास्यमय कविताएँ, व्यंग्यात्मक और सुधारवादी काव्य उपदेश-काव्य (Didactic Poetry) के अंतर्गत आते हैं, क्योंकि इनके पीछे कवि का उद्देश्य छिपा रहता है। परंतु इन तीनों की शैली भिन्न होती है।

हास्य का क्षेत्र मुख्यतया साधारण मनुष्यों तक ही सीमित है। जब कोई साधारण मनुष्य किसी प्रकार का असंगत कार्य करता है, जिससे उसे मानवता की श्रेणी से च्युत होना पड़े, तब वह मनुष्य हास्य का आलंबन होता है। हास्य-लेखक के संसार में सभी विलक्षण जीव होते हैं जो असंगत कार्य किया करते हैं। अस्तु, ईश्वरीप्रसाद शर्मा जब अपनी 'महंत रामायण' में लिखते हैं :

चित्रकूट के घाट पर भइ लंठन की भीर।
बाबा खड़े चला रहे, नैन सैन के तीर।

तब बाबा जी पर हँसी आए बिना नहीं रहती, क्योंकि उनका 'नैन सैन के तीर' चलाना इतना असंगत कार्य है कि वे बाबा जी की पदवी से च्युत हो जाते हैं। इसी प्रकार जब 'मियाँ मिट्ठू' आत्मप्रशंसा करते हैं :

अजी मैं हूँ सब का सिरताज, न रखता शंका और न लाज।
बिगाड़ूँ रोज़ पराया काम, रहूँ बेकाम दाहिने बाम॥
फोड़ लूँ आँख, कटा लूँ नाक, छींक दूँ और जमाऊँ धाक। इत्यादि

अथवा जब 'लंठ-शिरोमणि' ललकारते हैं :

खोली जो जुबान है खिलाफ में हमारे
हम मारे लात जूतों के कचूमर निकारेंगे,
फोरेंगे तुम्हारी खोपड़ी को खंड-खंड करि
होस को सम्हालो नहिं दाँत तोरि डारेंगे।
पोल मत खोलना हमारी कबौं भूल करि,
हमहूँ तिहारे काज बहुत सँवारेंगे.
फूँसि फूँसि खायेंगे अपार धन चन्दा करि,
खाइ आप कछुक तुम्हारी जेब डारेंगे।

तब उनका कार्य मानवता से इतना हीन जान पड़ता है कि वे हास्यास्पद हो जाते हैं।

व्यंग्य लेखकों का क्षेत्र ठीक साधारण मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। वे कभी कभी असामन्य और असाधारण मानवों पर भी व्यंग्य करते हैं। परन्तु प्रायः साधारण मनुष्य ही उनके शिकार होते हैं। व्यंग्य में हास्य का पुट मिला रहता है, परन्तु इस हास्य के अंतर में ईर्ष्या और द्वेष की भी छाया रहती है। अस्तु, जब नाथूराम 'शंकर' ब्राह्मणों के प्रति लिखते हैं :

> टेके पर लेकर वैतरणी ढकर वादी मूँछ,
> चादर यार्ड्स किल के द्वारा, बिना गाय की पूँछ,
>
> मरों को पार उतारूँगा,
> किसी से कभी न हारूँगा।
>
> [अनुराग-रत्न, पृ०—२३६]

तब उनके इस व्यंग्य हास्य में ईर्ष्या और द्वेष की भी गंध मिलती है। इसीलिए इसे व्यंग्यात्मक काव्य कहेंगे। इसी प्रकार जब कवि भगवान कृष्ण से कहता है :

> भवक भुजा दो भूतकाल के सजिए वर्तमान के साज
> फैशन फेर इण्डिया भर के गोरे गाड बनो ब्रजराज।
> गौर वर्ण वृषभानसुता का काढ़ो काले तन पर तोप,
> नाथ ! उतारो मोर मुकुट को, सिर पै सजो साहिबी टोप।
> पौडर चन्दन पोंछ लपेटो, आनन की छवि ज्योति जगाय,
> अंजन अँखियों में मत आँजो, आला ऐनक लेहु लगाय। इत्यादि
>
> [अनुराग-रत्न, पृ०—२२७]

तब उसके व्यंग्य हास्य में द्वेष का पुट मिला रहता है जो एक आर्यसमाजी हिन्दू देवी देवताओं के प्रति पोषण करता है। 'शंकर' का 'गर्भ-रण्डा-रहस्य' हिन्दूधर्म पर एक बहुत ही प्रभावशाली व्यंग्य काव्य है। इसमें कवि ने एक गर्भ में ही विधवा हुई बालिका का जीवन-चरित्र चित्रित किया है और साथ ही हिन्दू माता और पिता, धर्मगुरु और पुरोहित, देवी और

देवताओं पर व्यंग्य हास्य की व्यंजना की है। संपूर्ण काव्य हिन्दूधर्म पर एक सुदर व्यंग्य है।

सुधारवादी काव्यों का क्षेत्र समाज है। इनमें हास्य और व्यंग्य कुछ भी नहीं मिलता, वरन् इनका रूप पद्यात्मक कहानियों का सा होता है जिनमें किसी सामाजिक कुरीति का दुःखद फल अतिशयोक्ति के रूप में चित्रित होता है। कहानी के चरित्र-नायक सामान्य मानवता से लिए जाते हैं। कहानी अधिकांश बहुत ही सरल होती है। इन उपदेश काव्यों में सैयद अमीर अली 'मीर' के 'बूढ़े का ब्याह' का बहुत प्रचार है। इसमें घनीराम ने वृद्धावस्था में एक बालिका से विवाह किया जिसका दुःखद फल बहुत ही सरल परतु प्रभावशाली शब्दों में चित्रित किया गया है। सरलता ही इन काव्यों की मुख्य विशेषता है। अत में कवि शिक्षा देता है:

> सार कथा का भाई सोचो यही ध्यान में आता है,
> बिना बिचारे और लोभ वश जो करता पछताता है।
> बुरी चाल अनमेल ब्याह की अनुचित शास्त्र बताते हैं,
> जिन देशों में यह प्रचलित है वे अवनत हो जाते हैं।

एक ओर हास्य, व्यंग्य और उपदेश के द्वारा सामान्य मानवता के सुधार का प्रयत्न हो रहा था, दूसरी ओर कवि दीन-दलितों के करुण क्रदन से व्याकुल होकर उनसे सहानुभूति प्रकट कर रहा था। राणा प्रताप, शिवाजी इत्यादि के गौरव-गान के बीच यह करुण क्रंदन कुछ बेसुरा सा जान पड़ता है, किन्तु दीन-दलितों की पुकार तो कवि को सुननी ही पड़ती है। अस्तु, नाथूराम 'शकर' दीनों से सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं:

> दिन में भूनी मोठ मसूर चबा लेते हैं,
> दो दो रूखे रोट रात को खा लेते हैं;
> सत्तू दलिया दाब उदर में भर लेते हैं,
> गाजर मूली पाय कलेवा कर लेते हैं।
> छप्पर में बिन बाँस घुने ऐरंड पड़े हैं।
> बरतन का क्या काम घने घट-खंड पड़े हैं:
> खाट कहाँ है सात फटे से टाट पड़े हैं,
> चक्की पीसे कौन बिना भिड़ पाट पड़े हैं। इत्यादि

इन कवियों की करुणा मानव-सृष्टि तक ही सीमित न रही, वरन् पशु, पक्षी और जड़ वस्तुओं तक के लिए भी प्रवाहित होती रही। इसीलिए रूपनारायण पांडेय ने 'दलित कुसुम' और 'वन विहंगम' के लिए भी आँसू बहाए हैं।

छायावाद की प्रगति से जब शब्द-चित्रण की प्रणाली चल निकली तब कवियों ने सामान्य मानवता से लेकर कितने ही सुंदर चित्र उपस्थित किए। 'निराला' ने भिक्षुक का बहुत ही सुंदर चित्र चित्रित किया और मोहनलाल महतो ने 'पिला जा तू' नामक कविता में पनिहारिन का सुंदर चित्र खींचा :

ऐ पनिहारिन ! लिए छलकता हुआ घड़ा पतली कटि पर,
मंथर गति से कहाँ चली चंचल नयनों को नीचे कर। इत्यादि

परंतु इस क्षेत्र में गुरुभक्त सिंह ने सुंदरतम रचनाएँ की। अँगरेजी कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति इन्होंने भी सामान्य मानवता के कुछ बहुत ही चित्ताकर्षक चित्र खींचे। 'कृषक-वधूटी' में किसान बहू का एक सुंदर चित्र देखिए :

कृषक-वधूटी खेत काटती हँस हँस कर लेकर हँसिया,
गाती गीत 'सुना दो मोहन प्रेम भरी अपनी बँसिया'।
भर भर अंक उठाकर रख रख बालें दानों भरी हुईं,
पवन वेग से अंचल उड़ता प्यारी मानों परी हुई। इत्यादि

[कुसुम-कुंज—पृ० ३४]

और 'नाविक-वधू' नामक कविता में एक सरलहृदया स्त्री का यथार्थ चित्रण बड़ा ही मनोहर है। रात हो गई फिर भी उसके पति अभी नदी से नहीं लौटे। स्त्री के हृदय में आशंकाएँ उठ रही हैं। वह कहती है :

फँसे कहाँ दलदल में जाकर, कौन भँवर में है नैया !
बर सुहाग औ माँग हमारी, रखना हे गंगा मैया ! इत्यादि

[कुसुम-कुंज—पृ० ११]

(२) प्रेम

काव्य के विषय की दृष्टि से प्रेम मानव के ही अंतर्गत आना चाहिए, परंतु साहित्य में इसका महत्त्व इतना अधिक हो गया है कि अब यह एक स्वतंत्र विषय के रूप में स्थान पाता है। संस्कृत-साहित्य में प्रेम प्रायः नाटकों

आधुनिक काल में प्रेम के दो स्वरूप मिलते हैं। 'ग्रंथि' और 'प्रेम पथिक' में प्रेम प्रथम-दर्शन से ही उत्पन्न होता है जब कि यह प्रथम दर्शन कहीं सुंदर स्वच्छंद प्रकृति के वातावरण में होता है। 'ग्रंथि' का नायक अपनी नौका सहित डूब गया है और उसे एक बालिका ने डूबते से बचाया। नायक ने चेतना प्राप्त करने पर पूर्ण चंद्र के अपूर्व प्रकाश में चंद्रमुखी बालिका को देखा और वहीं प्रेम का उदय हुआ। इसी प्रकार 'प्रेम पथिक' में भी दो बाल हृदयों में प्रेम का अंकुर प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में पल्लवित हो उठा। यह प्रेम चिरंतन प्रेम का रूप धारण करता है और इसका प्रभाव प्रायः अमिट हुआ करता है। मिलन के बाद विरह होने पर प्रेमी-युगल रोते हैं, दुख भोगते हैं, प्रेम को, समाज को, संसार को, और ईश्वर तक को कोसते हैं, परंतु प्रेमिका को भूल जाना या प्रेम का ही अंत कर देना उन्हें कष्टप्रद प्रतीत होता है। यह प्रेम स्थिर है, रोना और दुःख भोगना ही इसकी विशेषता है। 'प्रसाद' का आँसू इसी स्थिर प्रेम-जन्य दुःख भोग और अश्रु-स्राव का काव्य है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप रामनरेश त्रिपाठी के काव्यों में मिलता है जहाँ प्रेम का प्रारंभ विवाह से होता है। 'मिलन' का आनंदकुमार और 'पथिक' का नायक पथिक अपनी प्रियतमा पत्नी से अतिशय प्रेम करते हैं और इसी प्रेम से उन्होंने प्रकृति से, अपनी मातृभूमि से और संपूर्ण विश्व से प्रेम करना सीखा। प्रेम यहाँ गतिशील है और एक स्थान से चल कर निरंतर बढ़ता ही जाता है और अंत में विश्व-प्रेम तक पहुँच जाता है। प्रेम का यह गतिशील रूप आधुनिक काव्य में बहुत कम पाया जाता है और प्रायः सर्वत्र स्थिर प्रेम का ही शासन और मान है।

(३) प्रकृति

काव्य के विषय की दृष्टि से मानव के पश्चात् प्रकृति का स्थान है। भारतीय संस्कृति, दर्शन, और काव्य में प्रकृति का विशेष आदर है। प्राचीन संस्कृत काव्यों में प्रकृति-वर्णन भरा पड़ा है। परंतु मुसलमानों के आगमन के पश्चात् कवियों का प्रकृति के प्रति उत्साह लोप-सा होने लगा। वे साधारणः संस्कृत कवियों के आधार पर सूची-गणना करना ही प्रकृति-वर्णन समझने लगे थे। काव्य में नायिका-भेद के प्रचार से प्रकृति केवल उद्दीपन विभाव के रूप में परिवर्तित हो गई। रीतिकालीन कवि नायिकाओं में इतने तल्लीन रहते थे कि उन्हें अपने चारों ओर देखने का अवकाश भी न था। परंपरा-पालन

के लिए वे ऋतु-वर्णन अवश्य करते थे किन्तु उसमें वास्तविक प्रकृति का चित्र न होता, केवल परंपरागत उपादानों का अस्पष्ट और कहीं कहीं अशुद्ध विवरण मात्र मिलता था। बीसवीं शताब्दी में इस संकुचित दृष्टिकोण का विरोध किया गया। आधुनिक कवियों को नायिकाओं से अवकाश मिलने लगा और वे अपने चारों ओर देख भाल कर प्रकृति का यथार्थ और विशद चित्रण करने लगे। रामचद्र शुक्ल का एक यथार्थवादी चित्रण देखिए :

> युग भुजा उर बीच समेटि कै,
> लखहु आवत गैयनि फेरि कै।
> कँपत कंबल बीच अहीर हैं,
> भरत भूलि गई सब तान है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'प्रिय-प्रवास' का प्रारंभ संध्या समय के एक सुंदर यथार्थ चित्रण से करते हैं :

> दिवस का अवसान समीप था,
> गगन था कुछ लोहित हो चला।
> तरु-शिखा पर थी अवराजती,
> कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।
> विपिन बीच विहंगम वृंद का,
> कलनिनाद समुत्थित था हुआ।
> ध्वनिमयी-विविधा विहगावली,
> उड़ रही नभ-मंडल मध्य थी।

इन चित्रों में प्रकृति का यथार्थ और विशद चित्रण मिलता है।

स्वच्छंदवाद के द्वितीय उत्थान-काल में छायावादी कविता में प्रकृति का एक दूसरा ही रूप मिलता है। यह भौतिक-सत्तावाद का युग था। नगरों में सोने की वृष्टि-सी हुआ करती थी और सभी लोग—नागरिक और ग्रामवासी—जो कोई भी लूट कर सकते थे, उसी ओर दौड़ रहे थे। कोई किसी को बात न पूछता, कोई किसी का साथी न था। भाई, बंधु, पड़ोसी—सभी स्वर्ण-मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ने में मस्त थे। इस भागती हुई

आधुनिक काल में प्रेम के दो स्वरूप मिलते हैं। 'ग्रंथि' और 'प्रेम-पथिक' में प्रेम प्रथम-दर्शन में ही उत्पन्न होता है जब कि यह प्रथम दर्शन कहीं सुदर स्वच्छद प्रकृति के वातावरण में होता है। 'ग्रंथि' का नायक अपनी नौका सहित डूब गया है और उसे एक बालिका ने डूबते से बचाया। नायक ने चेतना प्राप्त करने पर पूर्ण चद्र के अपूर्व प्रकाश में चद्रमुखी बालिका को देखा और वहीं प्रेम का उदय हुआ। इसी प्रकार 'प्रेम-पथिक' में भी दो बाल हृदयों मे प्रेम का अकुर प्रकृति के स्वच्छद वातावरण में पल्लवित हो उठा। यह प्रेम चिरतन प्रेम का रूप धारण करता है और इसका प्रभाव प्राय अमिट हुआ करता है। मिलन के बाद विरह होने पर प्रेमी-युगल रोते हैं, दुख भोगते हैं, प्रेम को, समाज को, ससार को, और ईश्वर तक को कोसते हैं, परतु प्रेमिका को भूल जाना या प्रेम का ही अंत कर देना उन्हें कष्टप्रद प्रतीत होता है। यह प्रेम स्थिर है, रोना और दुःख भोगना ही इसकी विशेषता है। 'प्रसाद' का आँसू इसी स्थिर प्रेम जन्य दुःख भोग और अश्रु-स्राव का काव्य है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप रामनरेश त्रिपाठी के काव्यों में मिलता है जहाँ प्रम का प्रारभ विवाह से होता है। 'मिलन' का आनदकुमार और 'पथिक' का नायक पथिक अपनी प्रियतमा पत्नी से अतिशय प्रेम करते हैं और इसी प्रेम से उन्होंने प्रकृति से, अपनी मातृभूमि से और सपूर्ण विश्व से प्रेम करना सीखा। प्रेम यहाँ गतिशील है और एक स्थान से चल कर निरतर बढ़ता ही जाता है और अत में विश्व-प्रेम तक पहुँच जाता है। प्रेम का यह गतिशील रूप आधुनिक काव्य में बहुत कम पाया जाता है और प्रायः सर्वत्र स्थिर प्रेम का ही शासन और मान है।

(२) प्रकृति

काव्य के विषय की दृष्टि से मानव के पश्चात् प्रकृति का स्थान है। भारतीय सस्कृति, दर्शन, और काव्य में प्रकृति का विशेष आदर है। प्राचीन सस्कृत काव्यों में प्रकृति-वर्णन भरा पड़ा है। परतु मुसलमानों के आगमन के पश्चात् कवियों का प्रकृति के प्रति उत्साह लोप-सा होने लगा। वे साधारणः सस्कृत कवियों के आधार पर सूची-गणना करना ही प्रकृति-वर्णन समझने लगे थे। काव्य में नायिका-भेद के प्रचार से प्रकृति केवल उद्दीपन विभाव के रूप में परिवर्तित हो गई। रीतिकालीन कवि नायिकाओं में इतने तल्लीन रहते थे कि उन्हें अपने चारों ओर देखने का अवकाश भी न था। परपरा-पालन

के लिए वे ऋतु-वर्णन अवश्य करते थे किन्तु उसमें वास्तविक प्रकृति का चित्र न होता, केवल परंपरागत उपादानों का अस्पष्ट और कहीं कहीं अशुद्ध विवरण मात्र मिलता था। बीसवीं शताब्दी में इस संकुचित दृष्टिकोण का विरोध किया गया। आधुनिक कवियों को नायिकाओं से अवकाश मिलने लगा और वे अपने चारों ओर देख भाल कर प्रकृति का यथार्थ और विशद चित्रण करने लगे। रामचंद्र शुक्ल का एक यथार्थवादी चित्रण देखिए :

युग भुजा उर बीच समेटि कै,
लखहु आवत गैयनि फेरि कै।
कँपत कंबल बीच अहीर हैं,
भरत भूलि गई सब तान है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'प्रिय-प्रवास' का प्रारंभ संध्या समय के एक सुंदर यथार्थ चित्रण से करते हैं :

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अवराजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।
विपिन बीच विहंगम वृंद का,
कलनिनाद समुत्थित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा विहगावली,
उड़ रही नभ-मंडल मध्य थी।

इन चित्रों में प्रकृति का यथार्थ और विशद चित्रण मिलता है।

स्वच्छंदवाद के द्वितीय उत्थान-काल में छायावादी कविता में प्रकृति का एक दूसरा ही रूप मिलता है। यह भौतिक-सत्तावाद का युग था। नगरों में सोने की वृष्टि-सी हुआ करती थी और सभी लोग—नागरिक और ग्रामवासी—जो कोई भी लूट कर सकते थे, उसी ओर दौड़ रहे थे। कोई किसी को बात न पूछता, कोई किसी का साथी न था। भाई, बंधु, पड़ोसी—सभी स्वर्ण-मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ने में मस्त थे। इस भागती हुई

दुनिया में, बंधु-प्रेम और विश्व प्रेम के लिए व्याकुल निरीह कवि का कोई साथी न था, उसके लिए सारा संसार मरुस्थल के समान सूना था। इस विपत्ति-काल में उसका एक मात्र साथी, उसके अप्रकाश्य-व्रणों का बंधु, केवल प्रकृति ही हो सकती थी, और वह प्रकृति की ओर मुड़ा भी। परंतु आधुनिक कवि 'उत्तर रामचरित' और 'शकुन्तला' की सीता और शकुंतला की भांति प्रकृति से घुल मिल कर अपने को भूल नहीं सकता था। आखिर वह बीसवीं शताब्दी का व्यक्तिवादी मानव ठहरा, उसमें सीता की सी अंध-भक्ति, और शिशुओं की सी कोमलता और सरलता न थी। उसने प्रकृति को साथी अवश्य माना परंतु उसका प्रकृति-प्रेम बुद्धिमूलक ही रहा। उसे उषा की दिव्य स्वर्ण-प्रभा और निर्झरिणी के कल-कल-गान से ही संतोष न हुआ, उसने उनके पीछे एक ऐसी मूर्ति की कल्पना की जिससे उसका साम्य था। बुद्धिवादी मानव का जड़ प्रकृति से क्या साम्य! उसे तो एक अपने ही जैसे सचेतन और जीवित व्यक्ति की आवश्यकता थी। अतएव पल्लवों में उसने एक अस्फुटयौवना बालिका का रूप पाया, निर्झरिणी में एक अपनी ही धुन में मस्त कलस्वर में गाती हुई नायिका को पहचाना, उसने समस्त प्रकृति को सचेतन रूप में देखा। अनेक छायावादी कवि और समालोचक प्रकृति का चेतन स्वरूप देख कर चौंक उठते हैं और उसमें आत्मा-परमात्मा संबंधी आध्यात्मिक भावनाओं का आरोप करने लगते हैं, परंतु वास्तव में इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण में आध्यात्मिकता की गंध भी नहीं है।

आधुनिक काल में अनेक प्रकार के प्रकृति-चित्रणों का अंतर उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाएगा। लाला भगवानदीन ने, जो रीति-शैली के कवि थे, 'मेघ-स्वागत' नामक कविता में अनेक अलंकारों तथा द्वि-अर्थक शब्दों के प्रयोग से मेघ को ब्रह्म, ब्रह्मा, हनुमान, राम, और कृष्ण सब से 'कछुक-प्रबल ही' सिद्ध किया है। 'मेघ-स्वागत' में मेघों का कोई चित्रण नहीं, उनके उमड़-घुमड़ का, उनके मूसलाधार वृष्टि का, उनके गंभीर गर्जन का कुछ भी संकेत नहीं। लाला जी को मेघों से कुछ काम नहीं, वे तो शब्दों के चमत्कार पर, श्लेष और विरोधाभास पर मुग्ध हैं। जब कि सुमित्रानंदन पंत मेघों के स्वागत में विभोर होकर कह उठते हैं :

> गरज, गगन के गान! गरज गंभीर-स्वरों में
> भर अपना संदेश उरों में, औ अधरों में,

बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा संताप, पाप जग का क्षणभर में।

और 'निराला' भी बादल-राग में अलाप उठते हैं :

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग-अमर! अंबर में भर निज रोर!

उस समय लाला भगवानदीन प्रतीप अलंकार की सहायता से एक शब्दजाल की रचना कर मेघों का स्वागत करते हैं :

वे सदल बाँधि अंबुधि तरे, तुम बिन श्रम सागर तरत,
हे घनवर! तुम श्रीराम ते कछुक प्रबल ही लखि परत।

रीति-कवियों की प्रकृति-चित्रण की यही प्रणाली थी। प्रथम स्वच्छंदवादी काल में कवियों के दृष्टिकोण में कुछ अंतर हुआ। वे अलंकार को छोड़ प्रकृति के यथार्थ चित्रण की ओर झुके। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'प्रिय-प्रवास' में मेघों का चित्र खींचते हैं :

सरस - सुंदर सावन - मास था,
घन रहे नभ में घिर-घूमते।
विलसती बहुधा जिनमें रही,
छविवती उड़ती बक-मालिका।
घहरता गिरि-सानु समीप था,
बरसता छिति छू नव वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले,
गगन में रचता बहु-चित्र था।
नव-प्रभा परमोज्वल-लीक सो,
गतिमती कुटिला-फणिनी-समा।
दमकती दुरती घन-अंक में,
विपुलकेलि-कला-खनि दामिनी। इत्यादि

यहाँ मेघों की तुलना राम और कृष्ण से नहीं की गई, वरन् इसमें यथार्थ चित्रण का एक सफल प्रयास पाया जाता है। अलंकारों का इसमें बहिष्कार

नहीं है, किन्तु ये चित्र-चित्रण में सहायक होकर आए हैं, केवल काव्य-शैली के आभूषण रूप में नहीं।

स्वच्छंदवाद के द्वितीय चरण में जयशंकर प्रसाद मेघों का चित्रण इस प्रकार करते हैं :

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलंब,
सुखी सो रहे थे इतने दिन! कैसे? हे नीरव! निकुरंब।
बरस पड़े क्यों आज अचानक, सरसिज-कानन का संकोच?
अरे, जलद में भी यह ज्वाला! झुके हुए क्यों किसका सोच?
किस निष्ठुर ठंडे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ-समान?
पिघल रहे किसकी गर्मी से हे करुणा के जीवन-प्रान?
चपला की व्याकुलता लेकर, चातक का ले करुण विलाप
तारा आँसू पोंछ गगन के रोते हो किस दुख से आप? इत्यादि

ऐसा जान पड़ता है कि कवि अपने किसी पुराने साथी से मिला है और उससे अनेक प्रश्न कर डालता है। प्रकृति का सीधा-सादा यथार्थ चित्रण जैसा अयोध्यासिंह उपाध्याय ने दिया है, वह तो इसमें नहीं मिलता, परंतु इन प्रश्नों के भीतर कुछ ऐसी ध्वनि है, इन प्रश्नों की चित्र भाषा से कुछ ऐसा अर्थ निकलता है कि कवि के साथी का परिचय पाठकों को मिल जाता है। छायावादी कवि प्रकृति में सचेतन साथी की खोज करता है और अपनी कल्पना द्वारा उसे वैसा ही बना भी लेता है।

(क) प्रकृति-चित्रण की त्रिविध शैलियाँ

आधुनिक काल में प्रकृति का चित्रण अनेक शैलियों में हुआ। कवि अपनी-अपनी विशेष भावनाएँ लेकर प्रकृति-निरीक्षण के लिए निकले और अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार उन्होंने प्रकृति का चित्र खींचा। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में कवियों की प्रायः दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं। प्रथम, प्रकृति के परंपरागत रूपों का वर्णन था, जैसे ऋतुओं का वर्णन, प्रभात-वर्णन, समुद्र-तट वर्णन इत्यादि। इस प्रकार का प्रकृति-वर्णन भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। महाकाव्यों का तो यह एक प्रधान लक्षण समझा जाता था कि उसमें ऋतु-वर्णन, नगर-वर्णन, प्रभात-वर्णन इत्यादि प्रकृति के विविध परंपरागत रूपों का वर्णन हो। नाटकों तक में इस

प्रकार के वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, जैसे 'उत्तर रामचरित' में दंडकारण्य का वर्णन। षट्ऋतु-वर्णन और बारहमासा की प्रणाली का हिन्दी में भी बहुत प्रचार था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में जब खड़ी बोली-भाषा का कोई आदर्श न था और भाषा इतनी अशक्त और असमृद्ध थी कि उसमें विविध विषयों पर कविता लिखना सरल कार्य न था, उस समय कवि प्रायः इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन के पद्य लिखा करते थे। कालिदास के 'ऋतु-संहार' के आधार पर ऋतु-वर्णन की एक नई प्रणाली चल निकली थी। मैथिलीशरण गुप्त, गिरधर शर्मा, लोचनप्रसाद पांडेय, सत्यनारायण कविरत्न, कन्हैयालाल पोद्दार इत्यादि अनेक कवि इस प्रकार ऋतु-वर्णन अथवा प्रभात-वर्णन इत्यादि लिखा करते थे। मैथिली-शरण गुप्त का 'निदाघ-वर्णन' (सरस्वती, जुलाई १९०७) इस दिशा में एक स्तुत्य प्रयास था।

प्रकृति-वर्णन की दूसरी प्रवृत्ति प्रकृति-निरीक्षण से उत्पन्न आनंद का सहजोद्रेक था। जिस प्रकार बालक किसी नई और सुंदर वस्तु को देखकर आनंद में मग्न हो स्वाभाविक सरलता से अपनी प्रसन्नता प्रकट करता है, उसी प्रकार कुछ सरल और भावुक-हृदय कवि प्रकृति का अलौकिक सौन्दर्य देखकर मुग्ध भाव से उमड़ पड़े। 'काश्मीर-सुखमा' में श्रीधर पाठक का सहज आनंदोद्रेक बड़ा ही अद्भुत है :

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छबि छिन छिन धारति॥
विमल-अंबु-सर मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन मन वारति॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुंदर।
यहि अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरंदर॥ इत्यादि

ऐसा जान पड़ता है कि कवि आनंद-विभोर हो गया है। विद्याभूषण 'विभु' के "चित्रकूट-चित्रण" ('९२८) में कवि के आनंदोद्रेक की धारा-सी उमड़ पड़ी है। कवि तितली को देखकर मुग्ध हो जाता है और आनंद-विभोर होकर कह उठता है :

हे सौंदर्यागार ! रूप-खनि ! सुखमा-सार ! मनोहारी !
हे उपवन की अतुलित शोभा ! हे सजीव-छवि-तनु-धारी !

दिव्य-दूतियो ! भव्य-भूतियो ! विधि-विचित्र कृति चपलाग्रो !
विचरणशीला-कमल पँखुरियो ! प्रेम-पुतलियो ! पहलाओ ॥ इत्यादि

अँगरेजी कवि वर्ड्सवर्थ जिस प्रकार इन्द्रधनुष देखकर हर्षोद्रेक से पागल हो उठता था, हिन्दी के आधुनिक भावुक कवि भी प्रकृति का सौन्दर्य देखकर उन्मत्त हो उठते हैं। सुमित्रानंदन पंत ने लिखा है :

छवि की चपल अँगुलियों से छू मेरे हृत्तंत्री के तार,
कौन आज यह मादक-अस्फुट-राग कर रहा है गुंजार ?

प्रकृति का सौन्दर्य कवि के हृदय में 'मादक-अस्फुट-राग' का गुंजार करता है और वह एकदम गीतियों में फूट पड़ता है। वह पावस-प्रभात का विविध-राग-रंजित आकाश देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है, चिरंतन कल-नादिनी स्रोतस्विनी की लघु लहरियों पर विस्मित होता है, और निर्झरिणी के 'टलमल' पर बलिहारी जाता है। इस शैली की सर्वोत्तम कविता सुमित्रा-नंदन पंत के 'उच्छ्वास' में मिलती है जब कवि पर्वत-प्रदेश पर पावस ऋतु का अपूर्व चित्रण करता है :

पावस-ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश,
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल।

× × ×

—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अंबर !

धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल !
—यों जलद-यान में विचर, विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

इस बुद्धिवाद के युग में जब कि मनुष्यों के मस्तिष्क में न जाने कितने विचार उठा करते हैं, इस प्रकार की कविताएँ बहुत ही कम हैं।

प्रकृति-वर्णन की तीसरी शैली मानवीय भावनाओं और कार्यों की भूमिका अथवा पृष्ठभूमि (Background) के रूप में मिलती है। प्रबंध-काव्यकारों ने प्रायः इसी प्रकार का प्रकृति-चित्रण किया है। 'प्रिय-प्रवास' का प्रायः प्रत्येक अध्याय प्रकृति-वर्णन से प्रारंभ होता है। प्रथम अध्याय में संध्या का वर्णन है, द्वितीय में निशीथ से पहले ही प्रकृति का, तृतीय में निशीथ का और इसी प्रकार अन्य अध्यायों में भी है। 'पचवटी', मिलन', 'बुद्ध-चरित' इत्यादि में इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन भरे पड़े हैं जो मानवीय कार्यों और भावनाओं की पृष्ठभूमि हैं। 'पथिक' का प्रथम अध्याय पूरा प्रकृति-वर्णन ही है। 'प्रेम-पथिक' और 'ग्रंथि' में प्रकृति नायक नायिकाओं के स्वच्छंद प्रेम की भूमिका के रूप में चित्रित की गई है।

इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन के दो पक्ष हैं। मानवीय कार्यों और भावनाओं पर स्थान, समय और वातावरण का प्रभाव बहुत पड़ता है, अतएव, रामचंद्र शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय प्रकृति का चित्रण स्थान, समय और वातावरण के रूप में करते हैं। 'मिलन' में कवि उस समय और स्थान का वर्णन करता है जब और जहाँ से आनंदकुमार और विजया मिलन की ओर चले थे :

घोर निशीथ, गँभीर तमावृत, शांत दिशा, आकाश,—
नीरव तारागण करते थे झिलमिल अलप-प्रकाश।
प्रकृति मौन, सचराचर निद्रित, अति निस्तब्ध समीर,
जाग्रत वन में लता-विनिर्मित केवल एक कुटीर। इत्यादि

इसी प्रकार 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण के ग्वालवालों और गौओं के संग व्रज लौटने के वर्णन के पहले कवि संध्या का विशद वर्णन करता है। कहीं कहीं कोई चरित्र-विशेष प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसका वर्णन करने लगता

है, और कहीं कहीं चरित्र भी प्रकृति का एक अंग बन जाता है। 'पथिक' में नायक प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसके आनंद पर ही अपना जीवन निछावर करना चाहता है :

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-विरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद-माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर, ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ, यही चाहता मन है॥

इसी प्रकार 'साकेत' सीता चित्रकूट में प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर गा उठती हैं :

मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

इस प्रकार का प्रकृति-वर्णन भी संस्कृत कवियों की परंपरा में था। महाकाव्यों और नाटकों में प्रकृति-वर्णन पृष्ठभूमि के रूप में ही आता था। 'प्रेम पथिक' और 'ग्रंथि' में प्रकृति प्रेम के उद्दीपक और वर्द्धक के रूप में चित्रित है और प्रेमियों की अनेक मानसिक भावनाओं की पृष्ठभूमि है। 'प्रेम-पथिक' में प्रेम की पृष्ठभूमि में प्रकृति का चित्रण देखिए :

छोटे छोटे कुंज तलहटी गिरि कानन की शस्य भरी
भर देती थी हरियाली ही हम दोनों के हृदयों में।
कलनादिनी प्रवीना तटिनी पूर्ण प्रवाह बहाती थी,
प्रेम-चन्द्र प्रतिबिम्ब कलेजे में लेकर खेला करती।
व्योम अष्टमी का जो तारों से रहता था भरा हुआ,
उसके तारे भी चुक जाते जब गिनते थे हम दोनों। इत्यादि

प्रकृति-वर्णन की चौथी शैली प्रकृति को उपमा और रूपक के रूप में प्रस्तुत करना है। किसी वस्तु या पुरुष का वर्णन करने के लिए उपमाओं और रूपकों की विशेष आवश्यकता होती है और इस प्रकार की उपमाओं और रूपकों का अक्षय भंडार प्रकृति में है। कालिदास की उपमाएँ सर्वदा प्रकृति के सुंदर दृश्यों से ली गई होती थीं। आधुनिक काल में प्रकृति-वर्णन के प्रचार से इस शैली का पुनर्विकास हुआ। 'निराला' अपनी 'तुम और मैं' नामक कविता में इसी शैली का प्रयोग करते हैं :

तुम गंध-कुसुम-कोमल पराग,
मैं मृगदुति मलय-समीर,

× × ×

तुम आशा के मधुमास और मैं पिक-कल-कूजन तान।

[परिमल, पृष्ठ—८६]

और जंगबहादुर सिंह 'तिरस्कृत प्रेम' में लिखते हैं :

उमड़ घुमड़ कर हृदय-गगन में, दुख के बादल उठते हैं।
अश्रु-वृष्टि में, धैर्य-सदन की पुष्ट-भित्ति जर्जरित हुई।

[माधुरी, अप्रैल १९२३]

परंतु इस शैली के प्रकृति-वर्णन में जयशंकर प्रसाद का सर्वोच्च स्थान है। कालिदास की भाँति उन्होंने प्रकृति के अक्षय भंडार से उपमा और रूपकों की सृष्टि की। 'प्रेम-पथिक' में एक सुंदर दृश्य देखिए :

खेल खेल कर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ।
खिलता था नव प्रणयानिल से नंदन-कानन का अरविन्द।
विमल हृदय आकाश-मार्ग में अरुण विभा दिखलाता था,
फैल रही थी नव-जीवन-सी वसंत की सुखमय संध्या।
खेल रही थी नव सरवर में तरी पवन-अनुकूल लिए
सम्मोहन वंशी बजती थी, नव तमाल के कुंजों में। इत्यादि

और 'आँसू' में तो ऐसे उदाहरणों की भरमार है। दो उदाहरण देखिए :

शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए,
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए।
बस गई एक बसती है, स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है, मेरे इस नील-निलय में।

'जुही की कली' 'शेफालिका' इत्यादि कविताओं में 'निराला' ने प्रकृति के वासनामय सौन्दर्य का चित्रण किया है। कवि ने प्रकृति की नायक नायिकाओं को भी विषय-रस-संलग्न चित्रित किया। 'जुही की कली' में 'मलयानिल' और 'जुही की कली' का रति-वर्णन है। इस रति का स्थान प्रकृति का पर्यंक

है और नायक नायिका भी प्रकृति की ही वस्तुएँ हैं। 'शेफालिका' में कवि शेफाली के वासनामय सौन्दर्य का वर्णन करता है :

> बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से
> यौवन उभार ने
> पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालि के।
> मूक आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
> व्याकुल विकास पर
> झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के। इत्यादि

यह शैली भी प्राचीन संस्कृत और हिन्दी कवियों की परंपरा में थी। कालिदास ने 'कुमार-संभव' में प्रकृति के वासनामय सौन्दर्य का चित्र खींचा है :

> फूल रूप एक ही पात्र में भरा हुआ था मधु मकरंद,
> भ्रमरी के पीने के पीछे पिया भ्रमरवर ने सानंद।
> छूने से जिस मृगी प्रिया के सुख वश हुए विलोचन मंद,
> एक सींग से उसे खुजाया कृष्णसार मृग ने सानंद।

[महावीर प्रसाद द्विवेदी का अनुवाद

रीति-कवि तो वासनामय शृंगार का व्यापार ही करते थे। परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में व्रजभाषा की वासनामय कविता का विरोध करने वालों ने ही प्रकृति में इस प्रकार के नायक नायि[का] ढूँढ निकाले और एकबार फिर उसी वासनामय कविता की ल[हर] चल पड़ी।

परंतु प्रकृति के वासनामय सौंदर्य का चित्रण १९२५ तक बहुत [कम] हुआ है। 'प्रसाद' और 'निराला' ने बाद को इस प्रकार की कितनी [ही] कविताएँ लिखीं परंतु १९२५ तक अन्य छायावादी कवियों और [स्वयं] 'निराला' ने प्रकृति में आध्यात्मिक भावना का आरोप किया। उन्ह[ोंने] प्रकृति में सौन्दर्य पाया और सौन्दर्य को मानव रूप में प्रतीक की भाँ[ति] अंकित करने का प्रयत्न किया और अपनी सौन्दर्य-भावना के अनुरूप ना[री] रूप में चित्रित किया। परंतु जीवन में स्त्रियों का पुरुषों से केवल प्रण[य] संबंध ही नहीं और संबंध भी है, वे देवी हैं, मा हैं, सखा है और पुत्री भी।

परतु प्रकृति को कवि पुत्री रूप में नहीं देख सके उन्होंने उसे केवल दो रूप दिए—एक मा का देवी रूप में और दूसरा सजनी का। 'वीणा' में सुमित्रानदन पंत ने प्रकृति को 'मा' कहा है :

क्या हिम का अकरुण आघात
सह लेगा इसका मृदु गात।
यही निबल कलिका लतिका का
मा ! क्या वंश बढ़ावेगी ?
मधुप-बालिका का क्या यह ही
मा ! मानस बहलावेगी ? इत्यादि।

और इसी प्रकार अनेक स्थानों पर प्रकृति को सजनी रूप में भी संबोधित किया है। किन्तु इस ढग के प्रकृति-चित्रण का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण अंग वह आध्यात्मिक अनुभव है जिसमें कवि को प्रकृति में सर्वत्र दैवी-सौन्दर्य का दर्शन होता है। राय कृष्णदास निर्झर के सगीत से अपना सबंध स्थापित करते हैं :

मैं इस झरने निर्झर में प्रियवर ! सुनती हूं वह गान,
कौन गान ? जिसकी तानों से परिपूरित हैं मेरे प्राण।
कौन प्राण ? जिनको निशिवासर, रहता एक तुम्हारा ध्यान;
कौन ध्यान ? जीवन-सरसिज को जो सदैव रखते अम्लान।

और उसी प्रकार 'मौन निमंत्रण' (पल्लव, पृष्ठ ४६ से ४६ तक) में सुमित्रानंदन पत को जान पड़ता है कि कोई उन्हें प्रकृति के द्वारा मौन-निमंत्रण दे रहा है।

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर-उर के-से मृदु-उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन ! इत्यादि

प्रकृति-चित्रण का अंतिम और सब से महत्त्वपूर्ण पक्ष कवियों का, अभ्यांतरिक (Subjective) दृष्टिकोण है। कवि बादलों को देखकर;

अथवा निर्झर का कल-कल संगीत सुनकर आनंद विभोर हो प्रश्न करने लगता है, और उनसे कोई उत्तर न पा, अपनी कल्पना के सहारे उनका उत्तर देता है। इस प्रकार वह प्रकृति पर अनेक चित्र अंकित कर डालता है। सियारामशरण गुप्त 'वीणा' के संगीत से विमुग्ध होकर पूछते हैं :

हे वीणे ! बता कहाँ पाया
इस दारु खण्ड में मन-माया,
यह मंजु मधुर रव चित्त चोर?

और उससे कोई उत्तर न पाने पर स्वयं अनुमान करते हैं :

कोई मुग्धा तापस - बाला,
मानों उत्फुल्ल सुमन माला,
निज कर-कंजों से कच सँभाल,
जल देती थी तेरे तल में,
प्रतिदिन प्रभात के कलकल में,
क्या उसका यह माधुर्य-जाल
झंकार रूप में है रसाल?
संकुचित विलज्जित से नव नव,
तेरी उन्नशाखा के पल्लव,
पिक कूजन सुन कर मोद मान,
हो लोट पोट उस सुस्वर पर,
करते थे मधुर मधुर मर्मर,
क्या यह पंचम का हर्ष-गान
था किया तभी आकंठ-पान? इत्यादि

यह प्रकृति का आध्यातरिक चित्रण है। स्वच्छदवाद के द्वितीय चरण में इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण का बहुत प्रचार था। अस्तु, 'प्रसाद' ने 'किरण', 'बादल', 'निर्झर-गान', 'स्वप्न', 'शिशु' इत्यादि, सियारामशरण ने 'दूरागत तान', 'किरण', 'घट', 'वीणा', 'पथ' इत्यादि; सुमित्रानंदन पंत ने 'छाया', 'पल्लव', 'आँसू', 'बादल' इत्यादि और 'निराला' ने 'यमुना के प्रति' इत्यादि में इसी शैली का प्रकृति-चित्रण किया। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से

आधुनिक काव्य की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ इसी शैली के अंतर्गत आती हैं। यहाँ कवि अपनी कल्पना का आश्रय लेकर चित्रमय और व्यंजनापूर्ण दृश्यों की अवतारणा करता है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, आधुनिक काल में छायावादी कवियों ने प्रकृति में सचेतन साथी खोजने का प्रयत्न किया और अपनी विविध मानसिक प्रवृत्तियों के साथ प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में प्रवेश किया। अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार ही उन्होंने प्रकृति को अनेक रूपों में मूर्तिमान् पाया। अस्तु, सुमित्रानंदन पंत आश्चर्य-चकित हो 'बाल-विहगिनी' से प्रश्न करते हैं :

प्रथम-रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि! पाया यह स्वर्गिक गाना?

और जयशंकर प्रसाद निर्झर के मधुर स्रोत से कठिन गिरि का विदारित होना देख चमत्कृत हो कह उठते हैं :

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी,
न है उत्पात, छटा है छहरी।
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी।

और सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला" को यमुना की लहरों में अतीत के गौरव-गान सुनाई पड़ते हैं :

यमुने! तेरी इन लहरों में किन अधरों की आकुल तान,
पथिक-प्रिया सी जगा रही है, किस अतीत के गौरव-गान।

इस प्रकार छायावादी कवियों ने अपनी चित्तवृत्ति के अनुरूप प्रकृति का चित्रण किया। परंतु प्रकृति के आभ्यांतरिक चित्रण का सुंदरतम रूप तो हमें तब मिलता है जब कि कविगण किसी प्राकृतिक वस्तु के रूप, भाव और वातावरण को लेकर एक सुंदर मानव-रूप की सृष्टि करते हैं। उदाहरण के लिए 'निराला' की 'सन्ध्या-सुंदरी' की अनुपम सृष्टि देखिए :

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सध्या सुंदरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराचल मे चचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर, –
किन्तु गंभीर,—नहीं है उनमे हास विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले काले बालों मे,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह,
छाँह सी अम्बर पथ मे चली। इत्यादि।
[परिमल, पृ०—१३५-१३६]

इस परी सी सध्या की कोमल, अलस, गभीर आभा भरी है। इसमें प्रतीक रूप में सध्या की सभी विशेषताएँ हैं केवल बाहरी रूप रेखा एक मानवी की है। सुमित्रानदन पत का 'पल्लव' भी एक ऐसी ही रचना है जिसमें मानव-जीवन के वातावरण में कोमल पल्लवों की सभी विशेषताएँ प्रतीक रूप में विद्यमान हैं।

(४) राष्ट्र अथवा जन्म-भूमि

१९ वीं शताब्दी के पहले भारतीय साहित्य में जन्मभूमि अथवा राष्ट्र पर कोई कविता नहीं थी। भारत में आधुनिक युग जैसी राष्ट्र की भावना कभी थी नहीं। जन्म-भूमि अथवा मातृभूमि नाम की वस्तु तो थी अवश्य, परतु हम अपने गाँव को ही जन्मभूमि मानते थे। भारतवर्ष को जन्मभूमि मानना हमने पश्चिम से सीखा। भारतवासी तो केवल दो ही बातें समझते थे—व्यक्ति और मानव। समाज नाम की एक और भी वस्तु हमारे यहाँ थी, परंतु वह राष्ट्र अथवा जन्म-भूमि से बहुत दूर थी। इसीलिए भारत में राष्ट्रीय साहित्य का नितात अभाव था।

हिन्दी में राष्ट्रीय कविता के जन्मदाता हरिश्चद्र हैं। श्रीधर पाठक, सत्य-नारायण कविरत्न, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि कवियों ने हरिश्चद्र के पश्चात् राष्ट्रीय भावनापूर्ण कविताएँ रचीं। इंडियन नेशनल कांग्रेस और आर्य समाज के कारण राष्ट्रीय भावना का प्रचार हो चला था और व्रजभाषा की शृंगारिक कविताओं के स्थान पर इनका प्रचार बढ़ रहा था।

हिन्दी में राष्ट्रीय कविताएँ चार प्रकार की हैं। इसका पहला और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष मातृभूमि का दैवीकरण है। हिन्दूधर्म में समय समय पर अनेक देवी देवताओं की सृष्टि और आविष्कार होता रहा है। कभी राम और कृष्ण ब्रह्म माने गए, कभी हनुमान्, जामवंत और सुग्रीव को देवता-रूप मिला। बात यह है कि हिन्दूधर्म वास्तव में अज्ञेयवादी (Agnostic) है; वह ब्रह्म को 'नेति' और मानवीय बुद्धि के परे मानता है। ईश्वर की नकारात्मक (Negative) उपाधि और गुणों (Attributes) की गिनती तो उसे कंठस्थ है, परंतु उसका निश्चयात्मक (Positive) गुण बुद्धि से अगम्य है। हिन्दूधर्म में ईश्वर पर किसी भी नाम, रूप और गुण का आरोप किया जा सकता है और किया भी गया है। वह मीराँ का 'गिरधर नागर' है तो वल्लभाचार्य का 'बाल-गोपाल,' तुलसीदास का 'स्वामी' है तो हित हरिवंश का 'राधा-वल्लभ'। इसका परिणाम यह हुआ कि समय समय पर अनेक ब्रह्मत्व की सृष्टि और आविष्कार हुआ। हिन्दुओं के तेंतीस करोड़ देवताओं की सृष्टि इसी अज्ञेयवाद का फल है, जिसमें किसी भी शक्ति रूप, गुण और सौन्दर्य को देव रूप दिया गया। यह दैवीकरण की प्रवृत्ति अब तक चली आ रही है और आधुनिक काल में प्रकृति और मातृभूमि को देवी रूप प्राप्त हुआ। मैथिलीशरण गुप्त को मातृभूमि में सर्वेश की सगुण-मूर्ति के दर्शन होते हैं :

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण-मूर्ति सर्वेश की।

'विनयपत्रिका' और रामचरित मानस' में तुलसीदास ने जिस प्रकार राम के ब्रह्म-रूप की अनेक स्तोत्रों और छंदों में वन्दना की है, श्रीधर पाठक ने भी उसी प्रकार मातृभूमि के देवी-रूप की वंदना की है। तुलसीदास ने रामचद्र के लिए 'रामचरित-मानस' में लिखा है :

जय राम-रूप अनूप निर्गुण-सगुण-गुण प्रेरक सही,
दससीस-बाहु-प्रचंड-खंडन चाप-सर-मंडन मही।

नाम भरत से जिसने पाया, सचमुच ही क्या भारत हूँ मैं ?
हूँ या था चिन्तारत हूँ मैं । इत्यादि

कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है कि भारत को फिर समृद्धिशाली बनाए। ईश्वर के अतिरिक्त वह सभी देवी देवताओं की प्रार्थना करता है। एक स्थान पर कवि धन्वतरि—देवताओं के वैद्य—से प्रार्थना करता है कि मृत समान भारतमाता को जीवन-दान दे .

हरि ! हरि हे !
हे मेरे धन्वन्तरि हे !
तेरे हाथों में है अक्षय सुरस सुधा से भरा घड़ा !
और देश यह मरे पड़ा !

× × × ×

नाड़ी में कुछ सार नहीं, शोणित में संचार नहीं,
कब से यह अचेत है ऐसा, कुछ अन्तर का शोधन दे।
मोह मिटा उद्‍बोधन दे। इत्यादि

इसी प्रकार वह 'उषा' के भारत में उदय होने की और काली से अवतार लेने की प्रार्थना करता है।

रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, 'त्रिशूल' और अन्य कवियों ने भी भारत के अतीत गौरव का गान गाया। रामचरित्र उपाध्याय तो भारत की चमरावटी तक को अमरावती से श्रेष्ठ बतलाते हैं। अन्य कवियों

भगवानदीन पाठक उन्हीं के राग में राग मिलाकर कहते हैं :

वे वज्र के हृदय जो उसके लिए न तरसें,
वे नैन ही न हैं जो उसके लिए न बरसें,
पाई हुई प्रतिष्ठा पुरुषत्व की गँवाई,
ले जन्म जन्मभू से जिसने न लौ लगाई।

उसी प्रकार कानपुर के राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' के मुखपृष्ठ पर उसका उद्देश्य इस प्रकार अंकित रहता है :

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक-समान है।

राष्ट्रीय कविता का चौथा पक्ष सत्याग्रही वीरों के गाने के लिए गीतों का है, जिसमें सत्याग्रहियों को उत्साह और आशा का संदेश तथा त्याग और अहिंसा की शिक्षा दी गई है। राष्ट्रीय कविता का यह पक्ष सत्याग्रही वीरों के संबंध में पहले भी आ चुका है। माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल', माधव शुक्ल, बेचन शर्मा 'उग्र', राष्ट्रीय-पथिक', मंगलप्रसाद विश्वकर्मा और रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने इस प्रकार की रचनाएँ कीं। इस संबंध में मैथिलीशरण गुप्त ने बारडोली के वीर सत्याग्रहियों की विजय पर एक बड़ी सुंदर कविता लिखी है, जिसमें बारडोली की तुलना हल्दीघाटी और थर्मापोली से की गई है :

ओ विश्वस्त बारडोली ! ओ भारत की थर्मापोली !
नहीं नहीं फिर भी सशस्त्र थी ग्रीक-सैनिकों की टोली।
हल्दीघाटी के रण की भी वही पूर्व परिपाटी थी,
बढ़ बढ़ कर वैरी की सेना वीरवरों ने काटी थी।
पर तू है निःशस्त्र तपस्विनि ! फिर कैसे समता होगी ?
उपमा आप बनेगी तू यदि क्षोणी में क्षमता होगी। इत्यादि

ये सत्याग्रही वीर ही आधुनिक काल के राष्ट्रीय वीर हैं और इन्हीं का गान राष्ट्रीय कविता की संपत्ति है।

नाम भरत से जिसने पाया, सचमुच ही क्या भारत हूँ मैं?
[illegible] या था चिन्तारत हूँ मैं। इत्यादि

कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है कि भारत को फिर गौरवशाली बनाए। ईश्वर के अतिरिक्त वह सभी देवी देवताओं से भी प्रार्थना करता है। एक स्थान पर कवि धन्वतरि—देवताओं के वैद्य—से प्रार्थना करता है कि मृत समान भारतमाता को जीवन-दान दे.

हरि! हरि हे!
हे मेरे धन्वन्तरि हे!
तेरे हाथों में है अक्षय सुरस सुधा से भरा घड़ा!
और देश यह मरे पड़ा!

× × × ×

नाड़ी में कुछ सार नहीं, शोणित में संचार नहीं,
कब से यह अचेत है ऐसा, कुछ अन्तर का शोधन दे।
मोह मिटा उद्बोधन दे। इत्यादि

इसी प्रकार वह 'उषा' के भारत में उदय होने की और काली से अवतार लेने की प्रार्थना करता है।

रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, 'त्रिशूल' और अन्य कवियों ने भी भारत के अतीत गौरव का गान गाया। रामचरित्र उपाध्याय तो भारत की चमरावटी तक को अमरावती से श्रेष्ठ बतलाते हैं। अन्य कवियों ने भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य और उसकी उर्वरता तथा अन्य सुविधाओं का वर्णन करके उसकी महत्ता का प्रकाशन किया।

राष्ट्रीय कविता का तीसरा पक्ष मातृभूमि के प्रति प्रेम की भावना का वर्णन है। अँगरेजी कवि सर वाल्टर स्काट ने मातृभूमि के लिए लिखा था*

जीवित है कोई इस जग में मृत आत्मा ऐसा प्राणी,
कभी न जिसके मुख से निकली हो। यह गौरवमय वाणी,
'है यह ही मेरा स्वदेश, है यही हमारा मातृ-देश।'

---

*Breaths there the man with soul so dead
Who never to himself hath said—
'This is my own my native land'

भगवानदीन पाठक उन्हीं के राग में राग मिलाकर कहते हैं :

> वे वज्र के हृदय जो उसके लिए न तरसें,
> वे नैन ही न हैं जो उसके लिए न बरसें,
> पाई हुई प्रतिष्ठा पुरुषत्व की गँवाई,
> ले जन्म जन्मभू से जिसने न लौ लगाई।

उसी प्रकार कानपुर के राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' के मुखपृष्ठ पर उसका उद्देश्य इस प्रकार अंकित रहता है :

> जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
> वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक-समान है।

राष्ट्रीय कविता का चौथा पक्ष सत्याग्रही वीरों के गाने के लिए गीतों का है, जिसमें सत्याग्रहियों को उत्साह और आशा का संदेश तथा त्याग और अहिंसा की शिक्षा दी गई है। राष्ट्रीय कविता का यह पक्ष सत्याग्रही वीरों के संबंध में पहले भी आ चुका है। माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल', माधव शुक्ल, बेचन शर्मा 'उग्र', राष्ट्रीय-पथिक', मंगलप्रसाद विश्वकर्मा और रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने इस प्रकार की रचनाएँ कीं। इस संबंध में मैथिलीशरण गुप्त ने बारडोली के वीर सत्याग्रहियों की विजय पर एक बड़ी सुंदर कविता लिखी है, जिसमें बारडोली की तुलना हल्दीघाटी और थर्मापोली से की गई है :

> ओ विश्वस्त बारडोली ! ओ भारत की थर्मापोली !
> नहीं नहीं फिर भी सशस्त्र थी ग्रीक-सैनिकों की टोली।
> हल्दीघाटी के रण की भी वही पूर्व परिपाटी थी,
> बढ़ बढ़ कर वैरी की सेना वीरवरों ने काटी थी।
> पर तू है निःशस्त्र तपस्विनि ! फिर कैसे समता होगी ?
> उपमा आप बनेगी तू यदि क्षोणी में क्षमता होगी। इत्यादि

ये सत्याग्रही वीर ही आधुनिक काल के राष्ट्रीय वीर हैं और इन्हीं का गान राष्ट्रीय कविता की संपत्ति है।

(५) अन्य विषय

मानव, प्रकृति और राष्ट्र—इन तीन मुख्य विषयों के अतिरिक्त दो विषय—रहस्यवादी कविताएँ और नारी भी महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय हैं। रहस्यवाद एक जटिल विषय है और साधारणतः लोग इसे दर्शन का एक अग मान लेते हैं। परन्तु दर्शन और रहस्यवाद में उतना ही अंतर है जितना बुद्धिगम्य विचारों तथा जीवन के अनुभवों में है। रहस्यवाद का क्षेत्र अतिम सत्य अथवा अनत की खोज और फिर उस सत्य का अपने जीवन में अनुभव करने तक ही सीमित है। आत्मा और परमात्मा के विषय में गभीर मनन और विचार करना दर्शन का विषय है, रहस्यवाद का उससे कोई सबध नहीं। रहस्यवाद जीवन में अनेक प्रकार के विस्तृत अनुभवों का फल है।

भारतवर्ष में प्रत्येक दार्शनिक सिद्धात के साथ ही साथ उससे सबध रखने वाली कुछ रहस्यमयी भावनाओं और विश्वासों का भी प्रचार हुआ। योगदर्शन में विश्वास रखने वाले पुरुष को कुछ इस प्रकार के अनुभव होंगे जैसा कि कबीर का होता है :

> गगन गरजि बरसै अमिय बादल गहिर गँभीर,
> चहु दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।

और भक्ति में विश्वास रखने वाले उपनिषदों के दर्शन में विश्वास रखने वाले तथा बौद्ध-दर्शन में विश्वास रखने वाले पुरुषों के अनुभव इस से बहुत भिन्न होंगे। एक भक्त को वियोगी हरि के समान अनुभव होंगे :

> आये नैन पाहुने तेरे।
> द्वार खोलि कै प्रेम भौन को, करि पहुनई सवेरे।
> विरह बावरे इन पंथिन को फल इच्छा नहि कोई।
> जाहि देखि उमड़ै रस सागर, एक रूप पट सोई।   इत्यादि

और इसी प्रकार अन्य सिद्धातवादियों के भी भिन्न भिन्न अनुभव होंगे।

अस्तु, रहस्यवाद आध्यात्मिक अनुभूति की वह अवस्था है जिसमें साधक ईश्वर के अपरोक्ष साक्षात्कार का चरम प्रयत्न करता है। इसमें एक गभीर आध्यात्मिक सूक्ष्म दृष्टि और परिपक्व आत्मानुभूति के द्वारा समस्त ससार में व्याप्त एक ही दिव्य सत्ता के देखने की चेष्टा की जाती है।

आधुनिक काल में रहस्यवादी कविताएँ प्रायः तीन प्रकार की हैं। प्रथम प्रकार की रहस्यवादी कविताओं में भक्ति-सिद्धांत के आधार पर मानवीय भावनाओं की व्यंजना मिलती है। वियोगी हरि और माखनलाल चतुर्वेदी इस प्रकार के रहस्यवादी कवि हैं। चतुर्वेदी अपने 'आराध्यदेव' से कहते हैं :

किन बिगड़ी घड़ियों में झाँका, तुझे झाँकना पाप हुआ,
आग लगे वरदान निगोड़ा मुझ पर आकर शाप हुआ,
जाँच हुई नभ से भूतल तक का व्यापक माप हुआ,
कितनी बार समाकर भी छोटा हूँ यह संताप हुआ,
अरे अशेष! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना सा,
आ मेरे आराध्य खिला लूँ, मैं भी तुझे खिलौना सा।

और वियोगी हरि अपने 'आराध्यदेव' को मूर्ति बिसरा नहीं पाते :

कैसे वह मूरति बिसराऊँ ?
नैन पीउ-मय, पीउ नैनमय किमि दोउन बिलगाऊँ ?
श्याम-रूप-अंजन कोयन तें, क्यों करि धोय बहाऊँ ?
किमि वह उरझीली चितवनि, इन अँखियन से सुरझाऊँ ?

× × × ×

वह पद-पदुम पराग पान कै, कत विषयन लगि धाऊँ ?
पिय-अनुराग-नीर-निधि तजि हरि क्यों जग-कूप खनाऊँ ?

'निराला', मुकुटधर पांडेय और मैथिलीशरण गुप्त का रहस्यवाद उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर है, जो ईश्वर का सर्वव्यापी होना सिद्ध करता है। अस्तु 'निराला' 'भर देते हो' कविता में ईश्वर को सभी जगह व्याप्त देखते हैं :

भर देते हो
बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कंज बढ़ाकर
अंधकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को

करता है क्षण क्षण—
कुसुम-कपोलों पर यह घोल शिशिर-कण ;
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

कवि का क्षुब्ध हृदय आराध्यदेव की करुणा की किरणों से पुलकित हो जाता है। इसी प्रकार 'आँखमिचौनी' में मैथिलीशरण गुप्त अपने आराध्य से आँखमिचौनी खेलते हुए अनुभव करते हैं कि उसे पाना तो बहुत ही सरल कार्य है, क्योंकि वह तो सर्वत्र है, उसे कहीं भी पकड़ा जा सकता है। कवि प्रसन्न होकर कह उठता है :

पर जब तुम हो सभी कहीं तब मैं ही क्यों यों भटकूँ ?
चाहूँ जिधर उधर ही अपनी दाढ़ें तुम पर पटकूँ।

उसी प्रकार 'स्वयमागत' में कवि कहता है :

तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे हो कर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ?
द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं,
शेष सभी धक्के खाते हैं,
कैसे घुसने पाऊँ मैं ?

कवि अपनी बारी की प्रतीक्षा में है, परतु समय बीत गया और उसकी बारी नहीं आई। निराश होकर वह भाग्य को कोसते हुए क्षुब्ध हृदय से अपनी सूनी कुटिया में लौट आता है, परतु कुटिया का द्वार खोलते ही वह आश्चर्य-चकित रह जाता है, क्योंकि उसका आराध्य जिसके दर्शन के लिए वह दिन भर व्याकुल था और जिसकी आशा न रहने पर वह क्षुब्ध हो रहा था, स्वागत के लिए खड़ा हुआ कह रहा है :

अतिथि ! कहो क्या लाऊँ मैं ?

तीसरे प्रकार की रहस्यवादी कविताओं में बौद्ध दर्शन के दुःखवाद की अनुभूति का चित्रण मिलता है जो सूफी कवियों की विरह-भावना से मिलकर एक नया रूप धारण कर लेता है। जयशकर 'प्रसाद' और रामनाथ 'सुमन' का रहस्यवाद इसी विरह-भावना की अनुभूति से ओतप्रोत है। आत्मा परमात्मा

के 'विरह' में है इसी कारण उसकी वेदना का अंत नहीं। इस दुःख से छुटकारा पाना बिना उसके मिले असंभव है। कभी तो कवि सोचता है कि उसका आराध्य मान किए हुए है और वह व्याकुल होकर कह उठता है :

प्रियतम ! आओ, अवधि मान की भी होती जाने दो। ['सुमन']

और कभी उसको खोजते-खोजते थक कर निराश हो कह उठता है :

चला जा रहा हूँ पर तेरा अन्त नहीं मिलता प्यारे !
मेरे प्रियतम ! तूही आकर अपना भेद बता जा रे। ['सुमन']

और कभी उसके द्वार तक पहुँच कर द्वार बंद पाकर कहता है :

धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार।
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार॥
डरो न इतना, धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर इन आँखों से आँसू ढार॥ इत्यादि

[झरना, खोलो द्वार—पृष्ठ ७]

इस दुःख-समुद्र से पार कराने वाला केवल वही है, इसीलिए कवि उसी करुणामय की दुहाई देता है :

जीवन-तरी तीर पर ला दे।
करुणामय करुणा कर मुझ पर था दो दाँव चला दे।

१९२५ के पहले रहस्यवादी कविताएँ बहुत कम हैं। १९२५ के पश्चात् महादेवी वर्मा ने रहस्यवाद की अच्छी व्यंजना की। परंतु १९२५ तक तो मैथिलीशरण गुप्त, 'निराला', 'प्रसाद', 'सुमन', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और बदरीनाथ भट्ट के बिखरे पदों और कविताओं में ही जहाँ तहाँ रहस्यवाद की झलक मिलती है।

रहस्यवादी कविताओं के अतिरिक्त अन्योक्तियाँ, सूक्तियाँ और नीति के छंद भी आधुनिक काव्य में मिलते हैं, परंतु इनमें उत्कृष्ट कविता का अभाव है। 'अन्योक्ति-तरंगिणी' में ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने वीणा, रेल, कोकिल, भ्रमर इत्यादि कितनी ही वस्तुओं पर अन्योक्तियाँ लिखीं। श्यामनाथ शर्मा और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी कुछ बहुत ही सुंदर अन्योक्तियाँ लिखीं। राय

कृष्णदास के 'भावुक' में कुछ उत्कृष्ट अन्योक्तियाँ मिलती हैं। उनकी 'स्नेहा चार' नामक अन्योक्ति में फूल माली से प्रार्थना करता है :

मेरी इच्छा पर मत छोड़ो तुम हे मालाकार मुझे।

और 'राजहंस' में कवि पूछता है :

हे राजहंस ! यह कौन चाल ?

परन्तु उसका संकेत उस आत्मा की ओर है जो सांसारिक मोह माया में फँस कर ईश्वर को भूल जाता है।

रामचरित उपाध्याय ने सूक्तियाँ और नीति के पद्य पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं। उनकी 'सूक्ति मुक्तावली' इस प्रकार की कविताओं से भरपूर है, परन्तु अधिकांश उनमें तुकबंदी मात्र है, कवित्व की उनमें गंध भी नहीं है।

कविता का रूप और शैली

भारतीय साहित्य में साधारणतया तीन प्रकार के काव्य-रूपों का प्रचार है—(१) प्रबंध-काव्य, जिसके अंतर्गत महाकाव्य और खंडकाव्य की गणना है, (२) गीति-काव्य और (३) मुक्तक-काव्य। हिन्दी में वीरगाथाकाल प्रधान रूप से प्रबंध-काव्यों का युग था जिसमें अनेक 'रासो' ग्रंथों की रचना हुई। भक्तिकाल में गीति-काव्यों की प्रधानता रही, यद्यपि हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ प्रबंध-काव्य इसी काल की रचना है। रीतिकाल में मुक्तक-काव्य की बाढ़ सी आ गई। इस काल में प्रबंध-काव्य और गीति-काव्य भी लिखे गए, परन्तु बहुत कम और वे भी कविता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं थे। आधुनिक काल में इन तीनों रूपों की कविताएँ पर्याप्त मात्रा में लिखी गई और उनमें अनेक शैलियों का विकास हुआ।

(१) मुक्तक-काव्य

काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक में न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है न वह गेय ही है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का, अथवा किसी एक दृश्य का या प्रकृति के किसी पक्ष-विशेष का चित्र मात्र होता है, पूरे जीवन का चित्र नहीं होता। राजसभाओं और कवि-सम्मेलनों के लिए यह बहुत ही उपयुक्त होता है। रीतिकाल में यह दरबारों के लिए लिखा जाता था, उन्नीसवीं

शताब्दी में कवि-सम्मेलनों और कवि-दरबारों की यह शोभा थी और बीसवीं शताब्दी में मासिक और साप्ताहिक पत्रों में इसके दर्शन होते हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब कि खड़ी बोली बहुत ही अशक्त और अपरिपक्व थी, उसमें किसी भी काव्य रूप में किसी भी विषय पर गंभीर कविता हो ही नहीं सकती थी। ऐसी अवस्था में तो किसी साधारण विषय पर दो एक चुभती हुई बातें कह देना ही बहुत था और यही हुआ भी। कवियों ने अधिकाश ऋतुओं पर और अपने आस-पास की प्राकृतिक वस्तुओं पर सीधी-सादी भाषा में सरल मुक्तक रचनाएँ कीं, परंतु उनकी शैली प्रायः वर्णनात्मक थी। परतु ज्यों ज्यों भाषा सशक्त और परिपक्व होती गई त्यों त्यों विशुद्ध मुक्तकों की रचना उपयुक्त शैलियों मे होने लगी। मु-कों के लिए सबसे अधिक उपयुक्त शैली विविध अलंकारों का निरूपण ऊहात्मक तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ तथा व्यंग्यपूर्ण वक्रोक्तियाँ हैं। पिछली मुक्तक रचनाओं में इन सभी शैलियों के दर्शन होते हैं।

विविध अलकारों का निरूपण रीति-कवियों का अति प्रिय विषय था। आधुनिक कवियों ने इस शैली में उन्हीं का अनुसरण किया। नाथूराम 'शंकर' इसी शैली में लिखते हैं :

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है
कि श्याम घनमण्डल में दामिनी की धारा है;
यमिनी के अंक में कलाधर की कोर है
कि राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है
कि तेज ने तिमिर के हिये मे तीर मारा है,
काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है
कि ढाल पर खांडा कामदेव का दुधारा है।

इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त 'सुकेशी' में इसी शैली मे लिखते हैं :

मीन के समान यदि लोचन दखानिए तो
भृकुटी अवश्य ही तरंग के समान ये;
किंवा यदि लोचन सरोज से बखाने जाय
भृकुटी बनी तो भृंगराजी छविमान ये।

भृकुटी और लोचनों में इस सम्बन्धी देखा
दोनों एक दूसरे के भूषण प्रधान थे,
बाण के समान यदि लोचन ललाम थे तो
भृकुटी कमान के समान रूपवान थे॥
[सरस्वती, फरवरी १९०८]

गोपालशरण सिंह, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', वियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय और दुलारेलाल भार्गव तथा अन्य कवियों ने इस शैली में मुक्तक रचनाएँ कीं। गोपालशरण सिंह का 'ब्रज वर्णन' और 'वह छवि' इस ढंग की कविताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उदाहरण के लिए एक कवित्त लीजिए :

तेजधारियों में है कृशानु का भी नाम यश
किन्तु भानु सबसे महान तेजवान है।
पादपों में पारिजात, पर्वतों में हिमवान है,
नदियों में जाह्नवी मनोज्ञता की खान है ?
मोर सा मनोहर न कोई खग रूपवान,
फूल कौन दूसरा गुलाब के समान है ?
यद्यपि सभी हैं उपमान इन्हें मान चुके,
किन्तु उस छवि सा न कोई छविमान है।
[वह छवि - माधुरी १९२५]

'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' में शैली की कुछ सर्वोत्तम रचनाएँ मिलती हैं जो 'देव' और 'पद्माकर' के कवित्तों का समता करती हैं। वियोगी हरि की 'वीर सतसई', दुलारेलाल का 'दोहावली' और 'पूर्ण' के कवित्तों में इस शैली की सुदर रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं।

मुक्तकों का दूसरी शैली चमत्कारपूर्ण उक्ति और वक्रोक्ति की है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के चौपदे तथा छपदे और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के सवैए इसी शैली के अतर्गत आते हैं। 'हरिऔध' का 'आँख का आँसू' इस ढग की एक सुदर रचना है। उदाहरण के लिए देखिए :

आँख का आँसू ढलकता देखकर
जी तड़प करके हमारा रह गया।

भृकुटी और लोचनों में इस सम्बन्धी रेखा
दोनों एक दूसरे के भूषण प्रधान थे;
बाण के समान यदि लोचन ललाम हैं तो
भृकुटी कमान के समान रूपवान थे॥
[सरस्वती, फरवरी १९०८]

गोपालशरण सिंह, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', वियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय और दुलारेलाल भार्गव तथा अन्य कवियों ने इस शैली में मुक्तक रचनाएँ कीं। गोपालशरण सिंह का 'ब्रज-वर्णन' और 'वह छवि' इस ढंग की कविताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उदाहरण के लिए एक कवित्त लीजिए :

तेजधारियों में है कृशानु का भी नाम यश,
किन्तु भानु सबसे महान तेजवान है।
पादपों में पारिजात, पर्वतों में हिमवान है,
नदियों में जाह्नवी मनोज्ञता की खान है?
मोर सा मनोहर न कोई खग रूपवान,
फूल कौन दूसरा गुलाब के समान है?
यद्यपि सभी हैं उपमान इन्हें मान चुके,
किन्तु उस छवि सा न कोई छविमान है।
[वह छवि - माधुरी १९२५]

'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' में शैली की कुछ सर्वोत्तम रचनाएँ मिलती हैं जो 'देव' और 'पद्माकर' के कवित्तों की समता करती हैं। वियोगी हरि की 'वीर सतसई', दुलारेलाल की 'दोहावली' और 'पूर्ण' के कवित्तों में इस शैली की सुंदर रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं।

मुक्तकों की दूसरी शैली चमत्कारपूर्ण उक्ति और वक्रोक्ति की है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के चौपदे तथा छपदे और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के सवैए इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। 'हरिऔध' का 'आँख का आँसू' इस ढंग की एक सुंदर रचना है। उदाहरण के लिए देखिए :

आँख का आँसू ढलकता देखकर
जी तड़प करके हमारा रह गया।

क्या गया मोती किसी का है बिखर ?
या हुआ पैदा रतन कोई नया ?
हो गया कैसा निराला यह सितम !
भेद सारा खोल क्यों तुमने दिया ?
यों किसी का हैं नहीं खोते भरम
आँसुओ ! तुमने कहो यह क्या किया ? इत्यादि

इसी प्रकार कवि चौपदे पर चौपदे जमाता जाता है। सभी चौपदे एक दूसरे से स्वतंत्र हैं और सभी मे कोई न कोई चमत्कारपूर्ण उक्ति मिलती हैं। लाला भगवानदीन की 'चाँदनी' पर उक्तियाँ भी इसी श्रेणी मे आती हैं :

खिल रही है आज कैसी भूमितल पर चाँदनी।
खोजती फिरती है किसको आज घर घर चाँदनी ?
घनघटा घूँघट उठा मुसकाई है कुछ ऋतु शरद,
मारी मारी फिरती है इस हेतु दर दर चाँदनी। इत्यादि

इस शैली की कविताओं पर उर्दू और फारसी कविता का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। उर्दू कविता में मुक्तकों का प्राधान्य है और मुक्तकों में अधिकांश ऊहात्मक प्रसग और चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं। रीतिकाल में रहीम, रसलीन इत्यादि की उक्तियाँ फारसी और उर्दू से मिलती जुलती हैं और आधुनिक काल में उर्दू के प्रभाव से इस प्रकार के मुक्तकों की रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में हुईं। 'हरिऔध' और 'दीन' ने जो चमत्कार चौपदों में दिखलाया, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और 'कौशलेन्द्र' ने वही कवित्तों और सवैयों में भर दिया। उदाहरण के लिए 'सनेही' का एक प्रसिद्ध सवैया लीजिए :

वह बेपरवाह बने तो बने हमको इसकी परवाह का है.
वह प्रीति का तोड़ना जानते हैं ढँग जाना हमारा निबाह का है।
कुछ नाज़ जफ़ा पर है उनको तो भरोसा हमें बड़े आह का है :
उन्हें मान है चन्द्र से आनन पै अभिमान हमें भी तो चाह का है।

इसी प्रकार 'कौशलेन्द्र' की 'उनसे' शीर्षक कविता में एक उक्ति इस प्रकार है :

कब तक सहनी पड़ेगी निठुराई तव
कब तक छूटना न होगा दुख दाहों से ?

अब न अधिक कलपाओ तरसाओ हमें,
हाय ! जलता हूँ नित्य अपनी ही आहों में ।
'कौशलेन्द्र' नेक भी न देते ध्यान इस पै कि
आप में छिपाया तुमको था किन चाहों में,
एक बार तो हमें निहार लो नजर भर,
चाहे वेध देना फिर तिरछी निगाहों में ।

मुक्तकों की तीसरी शैली सूक्ति और अन्योक्तियों की है । सूक्तियों का आधुनिक हिन्दी काव्य में बहुत अभाव है । संस्कृत में सुभाषितों का बहुत प्रचार था । हिन्दी में सुभाषित और सूक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं किन्तु आधुनिक काल में केवल रामचरित उपाध्याय ने कुछ सूक्तियाँ लिखी हैं । 'सूक्ति मुक्तावली' में कुछ अच्छी सूक्तियाँ मिलती हैं । उदाहरण के लिए एक छंद लीजिए :

न्याय परायण जो नर होगा उसकी कभी न होगी हार ,
कपटी कुटिल कोटि रिपु उसके हो जावेंगे क्षण में क्षार !
पाण्डव पाँच रहे कौरव सौ, राम पक्ष थे निशिचर लक्ष ,
विजयी वे ही हुए, देख लो, न्याययुक्त था उनका पक्ष ॥ इत्यादि

'अन्योक्ति-पुष्पावली', अन्योक्ति तरंगिणी' इत्यादि पुस्तकों में केवल अन्योक्तियाँ ही मिलती हैं । श्यामनाथ शर्मा 'द्विजश्याम' और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने कुछ बहुत ही सुंदर अन्योक्तियाँ लिखीं । पूर्ण' की बादल के प्रति अन्योक्ति बहुत ही सुंदर है :

ठहरान न देहैं सदा नभ में, तुम्हें देहैं उड़ाय हवा खन में ,
जल वारि के सूखते धानन में जस लीजिये तासे उधारन में ।
चपली जो बयार तो द्वै हैं कराय सनै कन रेत पहारन में ,
गुन ग्राहक यार बलाहक जू , लगे नाहक पौन की बातन में ।

मुक्तक-काव्यों में कवित्त, सवैया, दोहा, चौपदे और आर्या प्रचलित छंद हैं । इन छंदों में चौपदों के अतिरिक्त अन्य सभी छंद प्राचीन काल से प्रयुक्त होते रहे हैं । आर्या छंद केवल संस्कृत में ही प्रयुक्त होता था । रामचरित उपाध्याय ने हिन्दी में इसका प्रयोग किया । चौपदे और छपदे पहले-पहल 'हरिऔध' ने लिखे ।

(२) प्रबंध-काव्य

प्रबंध-काव्य प्रायः परिवर्तन-काल (Transitional period) में ही अधिक मिलते हैं जब कि प्राचीन शैली का प्रचार क्रमशः घटने लगता है और नवीन शैली का उदय प्रारंभ हो जाता है। यह काल प्रबंध-काव्यों और लोक-गीतों के विकास के लिए अत्यंत उपयुक्त होता है। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में जब कि संस्कृत-साहित्य का प्रचार घटता जा रहा था और नवीन हिन्दी साहित्य का प्रारंभ हो रहा था, उस समय 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो' इत्यादि प्रबंध-काव्यों की रचनाएँ हुईं। जब प्राचीन साहित्यिक आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह जाता, जब जनता की रुचि प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं से हट जाती है और नए आदर्शों, नई रूढ़ियों और नई परंपराओं का कोई निश्चित निरूपण नहीं हुआ रहता, ऐसे परिवर्तन-काल में लोग सरल और साधारण प्रबंध-काव्यों की शरण लेते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम में भी ठीक ऐसी ही परिस्थिति थी। तत्कालीन पाठकों को रीतिकालीन काव्यादर्शों, रूढ़ियों, परंपराओं और भाषा-शैली में कोई आकर्षण न रहा और नए आदर्श, नई रूढ़ियाँ, नई परंपराएँ तथा नवीन भाषा-शैली अभी विकसित भी न हो पाई थी। इस परिवर्तन-काल में विविध प्रबंध-काव्यों की सृष्टि हुई—अनेक दंतकथाएँ, पौराणिक आख्यान और वीरों की कहानियाँ पद्यबद्ध हुईं और उनका जनता में प्रचार भी ख़ूब हुआ।

१६०५ से १६१५ के बीच में मुख्यतः केवल वर्णनात्मक काव्य लिखे गए जिनमें कला की भावना का अभाव था, फिर भी उनमें भाषा का सुथरापन, वर्णन का स्वच्छंद प्रवाह और छंदों का सौष्ठव स्पष्ट रूप से मिलता है। १६१५ के पश्चात् जब काव्य के नए आदर्शों का विकास हुआ और उसके रूप, भाव और भाषा-शैली में महान् परिवर्तन हुए तब सरल प्रबंध-काव्यों में नवीन कला और शैली का प्रस्फुटन प्रारंभ हो गया।

(क) आख्यानक गीति

प्राचीन काव्य के आदर्शों और भावों की शिथिलता का परिचय सबसे अधिक आख्यानक गीतियों में मिलता है। उनमें काव्य की पूर्व प्रचलित शैली का तनिक भी आभास नहीं मिलता, वरन् उनमें, भावी काव्यादर्शों की पूर्व-छाया-सी मिलती है। वे काव्य के नूतन युग की अग्रदूत हैं। उदाहरण-स्वरूप

लाला भगवानदीन का 'वीर-प्रताप' रीतिकालीन काव्य-परंपरा और आदर्श, भाषा और छंद, रूप और शैली से बिल्कुल विपरीत है, फिर भी उनका साहित्यिक महत्त्व कम नहीं है।

काव्य-रूप की दृष्टि से आख्यानक गीतियाँ प्राचीन महाकाव्यों और खंड-काव्यों से नितांत भिन्न हैं। प्रसिद्ध अँगरेजी समालोचक एटसन के मतानुसार आख्यानक गीति एक प्रबंधबद्ध कहानी है। इसमें युद्ध, वीरता और पराक्रम के कृत्यों का प्राधान्य रहता है और प्रेम, घृणा, करुणा इत्यादि जीवन के सरलतम अमिश्र भाव इसे प्रेरणा-शक्ति प्रदान करते हैं। इसकी शैली बहुत ही सरल और स्पष्ट होती है। इसमें वर्णन-प्रवाह का स्वच्छंद वेग होता है। और इसके पढ़न से एक प्रकार की शक्ति और उत्साह का संचार होता है। वर्णन-स्थल इसमें कम होते हैं, मनोवैज्ञानिक चित्रण का अभाव होता है, केवल कार्य ही इसका मूल तत्त्व है। इन नियमों के अनुसार लाला भगवान-दीन का 'वीर-पंचरत्न', मैथिलीशरण गुप्त का 'रंग में भंग', 'विकट-भट' और 'गुरुकुल' तथा सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' उत्कृष्ट आख्यानक गीति हैं। सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य विजय' मूल रूप में एक आख्यानक गीति है, परंतु शैली की दृष्टि से यह खंडकाव्य के अधिक निकट है।

शैली की दृष्टि से आधुनिक काल में आख्यानक गीतियों का अद्भुत विकास हुआ। 'वीर पंचरत्न' और 'रंग में भंग' में साहित्यिक सौष्ठव की कमी है, अलंकार और व्यंजना का अभाव है, परंतु उनमें गति है, अविराम प्रवाह है, और है ओज। वीर-प्रताप' में युद्धभूमि का एक ओजपूर्ण वर्णन देखिए :

> उस ओर से तोपों की थी धाँ धाँय धुँआधार,
> इस ओर से थी तीरों की इक तीखी-सी बौछार।
> हर ओर यही शोर था बढ़ कर करो हथियार,
> आगे बढ़ो, मारो, धरो, झारौ नई तलवार।
> हाँ देखना, दुश्मन कोई भग जाने न पावै,
> और जावै तो आकाश को, फिर आने न पावै। इत्यादि

इसमें साहित्यिकता की नपी-तुली भाषा और अलंकार के दर्शन नहीं होते, परंतु इसके अक्षर अक्षर से ओज उमड़ा पड़ता है। भाषा का प्रवाह ऐसा है मानों तेज बहनेवाला नाला अविरुद्ध गति से चला जा रहा हो। वर्णन की संक्षिप्तता और व्यंजन की समास-शैली कहीं-कहीं बहुत ही सुंदर है।

'वीर-प्रताप' में मानसिंह की चढ़ाई का एक बहुत ही सुंदर और संक्षिप्त वर्णन देखिए !

जब मान ने घाटी पै दिया युद्ध का डंका,
थर्रानी हवा, फैल गया घोर अतंका,
मुँह ढाँप लिया भानु ने कुल-नाश की शंका,
लहराये धराधर भी सुने वीरों की हुंका,
मैदान में हर ओर मुसलमान पटे थे,
इस तंग सी घाटी ही में परताप डटे थे।

यह सरलता और संक्षिप्तता ही इन आख्यानक गीतियों का सौन्दर्य है। 'रंग में भंग' में भाषा अधिक साहित्यिक और सुथरी है, परतु उसमें भी 'वीर-प्रताप' की सी सरलता, संक्षिप्तता और स्वच्छंद प्रवाह है। परतु क्रमशः आख्यानक गीतियों में साहित्यिक भाषा का प्रयोग होने लगा और गीतिमत्ता का वांछित प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए अनेक साहित्यिक उपायों का प्रयोग किया गया। अस्तु, 'गुरुकुल' में मैथिलीशरण गुप्त ने 'पुनरुक्ति' का प्रयोग किया :

तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, गुरु पदवी के पात्र समर्थ,
तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, गुरु पदवी थी जिनके अर्थ।
तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, पंचामृत सर के अरविन्द,
तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, जिनसे जन्मे गुरु गोविन्द।
तेग बहादुर, हाँ, वे ही थे, भारत की माई के लाल,
तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, जिनका कुछ न कर सका काल।
तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, मर कर जिला गये जो जाति,
तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, जिनके अमर नाम की ख्याति।
तेग़ बहादुर, हाँ वे ही थे, हुए धर्म पर जो बलिदान,
तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे, जिन पर है हमको अभिमान। इत्यादि

इसमें कवि ने 'तेग़ बहादुर, हाँ, वे ही थे' का दस बार प्रयोग किया और इस उपाय से जो प्रभाव पाठकों पर इन पंक्तियों द्वारा पड़ता है वह सौ पंक्तियों द्वारा भी संभव न था। सुभद्रकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' में यही प्रभाव एक पद अथवा चरण की पुनरावृत्ति से प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए एक छंद देखिए :

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छाई झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि सी वह आई झाँसी में

चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भावनी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

यहाँ भाषा साहित्यिक और सुथरी है, स्थान स्थान पर अलंकार और गुण भी मिलते हैं और साथ ही पुनरावृत्ति से गीतिमत्ता भी यथार्थ मात्रा में मिलती है।

गीतिमत्ता के अतिरिक्त आख्यानक गीतियों में नाटकीय तत्त्व का भी आरोप किया गया। अस्तु, 'विकट भट' में मैथिलीशरण गुप्त एक सुंदर नाटकीय ढंग से कथा का प्रारंभ करते हैं :

ओठों से हटा के रिक्त स्वर्ण-सुरा पात्र को
सहसा विजयसिंह राजा जोधपुर के
पोकरण वाले सरदार देवीसिंह से
खास दरबार में यों बोले, "देवीसिंह जी!
कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे?

और इसी प्रकार 'शक्ति' में कवि एक बहुत ही सुंदर नाटकीय प्रसंग की सृष्टि करता है। महिषासुर के अत्याचारों से दुःखित और व्याकुल देवगण विष्णु भगवान् के पास जाकर अपना कष्ट सुनाते हैं और उनसे सहायता की प्रार्थना करते हैं। विष्णु भगवान् आवेश में आकर कहते हैं :

'जियो अर्थ के अर्थ, धर्म के अर्थ, काम के अर्थ,
जियो मुक्ति के अर्थ और निज अमर नाम के अर्थ।
संघ-शक्ति ही कलि दैत्यों का मेटेगी आतंक—
इतना कहते कहते हरि की हुई भृकुटि कुछ वंक।
कृपा है कि यह कोप? फक्त यों जब तक हुआ सशंक,
निकला तब तक उनके तनु से तेज एक अकलंक।

ब्रह्म, रुद्र इत्यादि सुरों के तनु से भी तत्काल,
निकले ज्योतिःपुंज और सब मिले उसी में हाल ।* इत्यादि

और इस प्रकार शक्ति का जन्म होता है। कवि ने शक्ति के जन्म का वर्णन बड़े नाटकीय ढंग से किया और इससे काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि हुई।

गीतिमत्ता और नाटकीय-तत्त्व के अतिरिक्त आख्यानक गीतिकारों ने सुदर वर्णन भी अपने काव्य में भरे। ये वर्णन पहले की भाँति संक्षिप्त न थे, वरन् पर्याप्त रूप में विशद और प्रभावशाली थे। परंतु इतना होने पर भी आख्यानक गीतियों की महत्ता और सौंदर्य, उनके भाव और भाषा की सरलता और ओजस्विता तथा लय की सहज और अबाध गति में ही निहित हैं। 'झाँसी की रानी' में आधुनिक आख्यानक गीतियों का सुदरतम सुचारु रूप मिलता है। उदाहरण-स्वरूप एक छंद लीजिए :

कुटियों में थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुंधूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान,

हुआ यज्ञ प्रारम्भ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

अस्तु, आख्यानक गीतियों में काव्य का रूप तो वही प्राचीन रहा, किन्तु शैली की दृष्टि से बीस वर्ष के भीतर ही उनमें अपूर्व विकास हुआ। गीतिमत्ता,

---

* यह दुर्गा-सप्तशती के दूसरे अध्याय के ९ से लेकर ११ श्लोकों तक का भाव लेकर लिखा हुआ जान पड़ता है। दुर्गा-सप्तशती के श्लोक निम्नांकित हैं :

इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूदनः।
चकार कोपं शम्भुश्च भ्रुकुटीकुटिलाननौ॥
ततोऽपि कोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शंकरस्य च॥
अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत॥

नाटकीय तत्त्व और काव्य के गुणों तथा अलकारों का सफल आरोप होने पर भी उनकी ओजस्विता और सरलता, उनकी अबाध गति और स्वाभाविकता ज्यों की त्यों बनी रहीं।

(ख) काव्य

आख्यानक गीतियों के अतिरिक्त आधुनिक काल में महाकाव्य और खडकाव्य भी लिखे गए। काव्यों में कथावस्तु आख्यानक गीतियों के समान कहानी की भाँति आगे नहीं बढ़ती और 'हियाँ की बातें हियइ रहिगै, अब आगे कै सुनौ हवाल' कह कर ही आगे की बातें नहीं बताई जातीं, वरन् प्रत्येक नई बात नए अध्याय में, स्थान, काल और वातावरण की पृष्ठभूमि में सज्जित होकर आती है। अस्तु, काव्यों का कथानक कटा छँटा और सुसज्जित होता है, उसमें प्रेम, युद्ध और प्रकृति के सुदर वर्णन होते हैं और विविध मिश्र और अमिश्र रसों और भावों का निरूपण होता है। भाषा शुद्ध और साहित्यिक होती है। इसमे नायक नायिका और उपनायक होते हैं और कवि उनके चरित्र चित्रण का प्रयत्न करता है। साराश यह कि काव्य, आख्यानक गीतियों से बहुत भिन्न होते हैं।

आधुनिक काल में काव्यों का प्रारभ 'जयद्रथ-वध' से होता है। उस समय काव्य अनेक अध्यायों में विभाजित पद्यबद्ध इतिवृत्तात्मक प्रबध मान हुआ करते थे। प्रत्येक अध्याय का प्रारभ प्राय प्रकृति वर्णन से हुआ करता था। इस काल के तीन प्रमुख काव्य मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रिय-प्रवास' और सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य-विजय' है। कवित्व की मात्रा पर्याप्त न होते हुए भी उनका प्रचार बहुत अधिक हुआ। सच तो यह है कि काव्य में यदि भाषा शुद्ध, सरल और साहित्यिक हो, उसका प्रवाह अबाध और समुचित लययुक्त हो, छद शुद्ध और गतिपूर्ण हों, तो पाठकों को अन्य काव्य-गुणों की अपेक्षा नहीं होती। 'जयद्रथ-वध' में मैथिलीशरण गुप्त ने परपरागत प्रचलित काव्य-रूप में अपनी मौलिक प्रतिभा का सम्मिश्रण कर एक अपूर्व काव्य की रचना की। उन्होंने 'रामचरित-मानस' में प्रयुक्त हरि-गीतिका छद को सरल, साहित्यिक और ओजपूर्ण खड़ी बोली में सफलतापूर्वक ढाल दिया। कथानक के लिए उन्होंने महाभारत का एक बहुत ही प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्रसग लिया। फिर युद्धभूमि का चित्रमय चित्रण, करुणा रस का अबाध प्रवाह और भक्ति-भावना की सुदर व्यजना ने पाठकों का हृदय मोह

लिया और पंद्रह वर्ष के भीतर ही इसके चौदह संस्करण प्रकाशित हुए। परतु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण अग इसकी भाषा थी जो साहित्यिक होती हुई भी अद्‌भुत गतिपूर्ण और लय-संयुक्त थी। उदाहरण-स्वरूप एक छंद लीजिए :

> रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं!
> इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
> जलकर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी,
> अच्युत! युधिष्ठिर आदि का अब भार है तुम पर सभी॥

दूसरी ओर, 'प्रिय-प्रवास' में अयोध्यासिंह उपाध्याय ने एक ऐसा कथानक लिया जो बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध होते हुए भी नया था, और ऐसी भाषा का प्रयोग किया जो साहित्यिक होते हुए भी संस्कृत-गर्भित और कठिन थी। उन्होंने सस्कृत के वर्णिक छदों को बड़ी सफलता से हिन्दी में उतारा; प्रकृति-वर्णन भी उन्होंने बहुत विशद, विस्तृत और प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत किए; परतु जनता में इसका प्रचार नहीं हो सका। इसका कारण यह था कि इसमें गति और समुचित काव्य-रूप का अभाव था। सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य-विजय' में समुचित काव्य रूप मिलता है और इसी कारण इसका प्रचार भी 'प्रिय-प्रवास' से कुछ अधिक हुआ, परतु उसमें प्रयुक्त छप्पय छंद में अबाध गति का एकात अभाव है। यदि कवि ने कोई दूसरा गतिपूर्ण छंद चुना होता तो शायद 'मौर्य-विजय' भी 'जयद्रथ-वध' जैसा ही प्रचार पा सकता था।

जयशंकर प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी, सुमित्रानदन पत और स्वयं मैथिलीशरण गुप्त के पिछले काव्य में कुछ बातों में विकास के चिह्न मिलते हैं। 'पथिक' का प्रकृति-वर्णन 'जयद्रथ वध' और 'प्रिय-प्रवास' के प्रकृति-वर्णन से कहीं श्रेष्ठ था, 'ग्रंथि' की भाषा कहीं अधिक साहित्यिक और व्यजनात्मक थी; 'प्रेम-पथिक' में अबाध गति और अद्‌भुत प्रवाह है और 'पंचवटी' में चरित्र-चित्रण का अपूर्व सौन्दर्य मिलता है; फिर भी इनमें से किसी का भी उतना प्रचार नहीं हुआ जितना 'जयद्रथ-वध' का हुआ। इससे यह निस्संदेह प्रमाणित हो जाता है कि प्रबन्ध-काव्यों की सफलता उनके वर्णन, भाषा और चरित्र-चित्रण पर नहीं, वरन् उनकी गति और समुचित काव्य-रूप (Flow and Form) पर निर्भर करता है।

काव्यों की शैली में प्रथम विकास उनके कथानक और चरित्र-चित्रण दोनों में नाटकीय-तत्त्व के सम्मिश्रण से हुआ। पहले काव्यों में कवि स्वयं सारी

शैवालिनि ! जाओ मिलो तुम सिन्धु मे,
अनिल ! आलिङ्गन करो तुम गगन को,
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ पवन-वीणा बजा ;
पर हृदय ! सब भाँति तू कगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन मे बैठकर,
अश्रुओं की बाढ में अपनी बिकी
भग्न-भावी को डुबा दे आँख सी ।

[ग्रंथि, ५०—२१]

परतु कथा-वैचित्र्य, नाटकीय चरित्र-चित्रण, गीतिमत्ता और अध्यातरिकता के प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य की जितनी वृद्धि हुई, उतनी ही उसके महत्त्व और प्रचार में कमी भी हुई। 'जयद्रथ-वध' के प्रबन्ध कौशल में जिस सरलता और स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं वे इन पिछले काव्यों में तनिक भी नहीं मिलते। कला की दृष्टि से 'पचवटी' एक सुदर काव्य है, उसमें नाटकीय प्रसग और दृश्य तथा सुदर और शक्तिशाली चरित्र-चित्रण मिलते हैं, परतु इसमें सरलता और गाभीर्य, ओज और प्रभावशालिता का बहुत अभाव है। सच बात तो यह है कि प्रबध-काव्य में सचेतन कला, नाटकीय और गीतिपूर्ण सौन्दर्य, सरल स्वाभाविक और गभीर प्रबध-कौशल का अभाव पूर्ण नहीं कर सकते।

(३) गीति-काव्य

काव्य का तीसरा रूप गीति है और आधुनिक काल में इसका महत्त्व सबसे अधिक है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल भी प्रधानतया गीति-काव्य का युग था, परतु भक्ति और आधुनिक काल के गीति-रूपों में बहुत अतर है। जयदेव के 'गीत-गोविन्द', और विद्यापति की 'पदावली' के साँचे में ढले हुए पदों ने हिन्दू जनता के हृदय में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। सूरदास और कृष्ण-काव्य के अन्य कवियों में पदों में गीतिमत्ता केवल उनके गेय होने तक ही सीमित थी, उनमें कवि के व्यक्तिगत और अध्यातरिक भावनाओं का उद्रेक न था, वरन् उनके मूल में राधा-कृष्ण के प्रेम की एक अतर्धारा मिलती है। मीराँ के कुछ पदों में व्यक्तिगत और अध्यातरिक

भावनाओं का उद्रेक अवश्य मिलता है, परतु अधिकाश उनमें भी वही अतर्धारा प्रवाहित होती है। दो सौ वर्षों के बाद आधुनिक युग में जब फिर गीति-काव्यों का प्राधान्य हुआ तो इनमें उस अतर्धारा का लोप हो चला था और इनके मूल में एक दूसरी ही भावना प्रतिष्ठित हो गई थी।

(क) आधुनिक गीति-काव्य का इतिहास

काव्य-रूप की दृष्टि से आधुनिक गीति-काव्य का प्रारभ संभवतः गाँवों में प्रचलित लोक-गीतों से होता है। सयुक्त-प्रात के पश्चिमी प्रांतों में लावनी का बहुत प्रचार है और साधारणतः लवनीबाज़ों के दो अखाड़ों में बढ़ाबढ़ी चला करती है। इसी प्रकार क़व्वाली, कजली, बिरहा, इत्यादि अन्य लोक-गीत देश के भिन्न भिन्न भागों में प्रचलित हैं। आधुनिक गीति-काव्य के रूप पर इन लोक-गीतों का बहुत प्रभाव पड़ा है, विशेषकर लावनी का। लावनी में पाच पंक्तियों के पश्चात् एक चरण की पुनरावृत्ति हुआ करती है। उदाहरण-स्वरूप देखिए :

> वह सभा-चतुर जो बिगड़े काम सुधारै,
> जब तलक बनै तब तलक न हिम्मत हारै। (टेक)
> जो राजा को औ रैयत को दुख होवै,
> वह मंत्र विचारै दोनों को सुख होवै,
> मंत्री वह है जिसमें यह पौरुख होवै,
> सब अंग पलै जब मुखिया मुख ज्यों होवै।
> सिद्धांत में साधै, विवेक मंत्र बिचारै,
> जब तलक बनै तब तलक न हिम्मत हारै।

लावनी की भाँति कजली, दादरा इत्यादि अन्य लोक-गीतों में भी एक पंक्ति की पुनरावृत्ति होती है। यही पुनरावृत्ति (Improvisation) आधुनिक गीति-काव्य की प्रथम सीढ़ी है। 'शंकर' ने अपने 'पच-पुकार' में इसी पुनरावृत्ति का प्रयोग किया :

> किसी से कभी न हारूँगा ! (टेक)
> उर्दू की बेतुक इबारत लिख दूँ क़ाबिल-दीद,
> 'बीनी ख़ुद ख़ुरीद' को पढ़ के 'बेटी देय ख़रीद',
> चुनीदा नज़्म गुज़ारूँगा,
> किसी से कभी न हारूँगा। [सरस्वती, मई—१९०८]

मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'कुकवि-कीर्तन' (सरस्वती, अक्तूबर १९०९) में इसी काव्य-रूप का अनुकरण किया। यह रूप आधुनिक काल में पहले पहल बालमुकुन्द गुप्त की कविता में १८९५ में ही मिल जाता है। लाला भगवानदीन की 'मसान' कविता में इसी रूप के दर्शन होते हैं जिसमें कि छंद तो सवैया है और अन्त्यानुप्रास-क्रम लावनी का [अ अ अ अ, च, च (टेक)] है। मैथिलीशरण गुप्त ने इसी रूप के आधार पर 'स्वर्ग-सहोदर' तथा 'स्वर्ग-संगीत' इत्यादि गीति लिखे जिनमें छंद तो त्रोटक, पंचचामर इत्यादि हैं, परंतु अन्त्यानुप्रास-क्रम सब का लावनी जैसा ही है। पुनरावृत्ति का दूसरा स्वरूप मन्नन द्विवेदी की 'चमेली' नामक कविता में मिलता है :

सुंदरता की रूपराशि तुम, दयालुता की खान चमेली,
तुमसी कन्यायें भारत को, कब देगा भगवान चमेली।
चहक रहे खग वृंद वनों में, अब न रही है रात चमेली,
अमल कमल विकसित होते हैं, देखो हुआ प्रभात चमेली। इत्यादि

इसमें अंतिम शब्द की पुनरावृत्ति होती है। यह पुनरावृत्ति उर्दू के ग़ज़ल के ढंग से बहुत मिलती जुलती है। रामचरित उपाध्याय ने अपने 'कन्हैया', 'नौकरशाही' इत्यादि गीतियों में इसी पुनरावृत्ति का अनुकरण किया। सत्याग्रह-संग्राम के दिनों में इस ढंग की अनेक कविताएँ लिखी गईं जिनमें सबसे प्रसिद्ध और लोक-प्रचलित 'फिरंगिया' और 'वकिलवा' थे।

गीति-काव्य के विकास की दूसरी सीढ़ी, उसमें किसी भावना का आरोप करना था। अस्तु, माधव शुक्ल लिखते हैं :

निकल पड़ो अब बनकर सैनिक, भय न करो अब प्रानों का,
बिन स्वराज्य के नहीं हटेंगे, क़ौल रहे मरदानों का।
अंधे होकर पुलिस चलाये डंडे कुछ परवाह नहीं,
घर का माल लूट ले जावे निकले मुँह से आह नहीं,
जेल-यातना हो निर्दय दल करे गोलियों की बौछार,
ईश्वर का सुमिरन कर वीरो! सहते जाओ अत्याचार।
धनी देश-रिपु, दास नपुंसक लखें दृश्य बलिदानों का,
बिन स्वराज्य के नहीं हटेंगे क़ौल रहे मरदानों का। इत्यादि

ज्यों ज्यों इन कविताओं में उच्च और व्यापक भावनाओं का प्रयोग होने लगा,

और उन भावनाओं के एकीकरण की ओर कवियों का ध्यान जाने लगा, त्यों त्यों उनमें गभीरता और शक्ति की भी वृद्धि हुई।

गीति-काव्य के विकास की तीसरी और अंतिम सीढ़ी उसमें कला का पूर्ण विकास है। सचेतन कला और नाद तथा लय लाने के प्रयास से गीतियों का पूर्ण विकास हुआ। इस सचेतन कला के दो अंग हैं—पदों में संगीत और चित्र-कल्पना।

काव्य में संगीत छंदों की लय से एक भिन्न वस्तु होती है और गवैयों के गीतों से भी इसमें अंतर विशेष है। यह संगीत लय और गीत का सुंदर सामंजस्य है। उदाहरण के लिए "निराला" का 'बादल-राग' सुनिए :

> झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
> राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
> झर झरझर निर्झर - गिरि - सर में,
> घर, मरु, तरु - मर्मर, सागर में,
> सरित - तड़ित - गति —चकित पवन में,
> मन में, विजन - गहन - कानन में,
> आनन - आनन में, रव - घोर - कठोर—
> राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

[परिमल, पृष्ठ—१७५]

इस कविता का संगीत कवि का अपना संगीत है। इसमें संगीत-शास्त्र से वर्णित किसी राग की ध्वनि नहीं और न छंद के क्रम और गति से ही यह उत्पन्न है। कवि ने अपनी प्रतिभा की सहायता से ऐसे ऐसे शब्द चुने और उन शब्दों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया कि उनसे इस प्रकार का संगीत-विशेष उत्पन्न हुआ। कभी कभी कवि इस प्रकार के शब्द चुनता है और उनको इस प्रकार क्रमबद्ध करता है कि पदों का अर्थ शब्दों के नाद से ही प्रतिध्वनित हो जाता है। उदाहरण के लिए सुमित्रानंदन पंत का एक छंद लीजिए :

> जगत की शत - कातर - चीत्कार
> बेधती बधिर ! तुम्हारे कान !
> अश्रु - स्रोतों की अगणित - धार
> सींचती उर पाषाण !

अरे क्षण क्षण सौ सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रान्ति,
ग्रस्त करती सुख शान्ति!

[पल्लव, परिवर्तन, पृ—१२२-१२३]

इस कविता में 'जगत की शत-कातर-चीत्कार' के शब्द-नाद से ऐसी ध्वनि उत्पन्न होती है मानों कोई दुःख से कातर चीत्कार कर रहा हो। इसी प्रकार 'अरे क्षण क्षण सौ सौ निश्वास' में आह की प्रतिध्वनि और चतुर्दिक घहर घहर आक्रान्ति' में क्रांति की ध्वनि उत्पन्न होती है। सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला" की 'जुही की कली' में कहीं कहीं शब्दों का चयन इतना सुंदर है कि देखते ही बनता है। जब कवि को 'पवन' की तीव्र गति का प्रदर्शन कराना होता है तो वह सभी ह्रस्व वर्णों का प्रयोग करता है, जैसे :

फिर क्या? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन
कुंज लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा—

दूसरे चरण में ऐसा जान पड़ता है कि हवा बे-रोक-टोक अपनी गति में चली जा रही है, परंतु तीसरे चरण में उसे लता-कुंजों में उलझकर धीरे-धीरे चलना पड़ा रहा है और इसी कारण चरण की गति मंद करने के लिए कवि ने दीर्घ और ह्रस्व-संयुक्त मिश्र वर्णों का प्रयोग किया।

इस शब्दों के संगीत की कला के अतिरिक्त चित्र-कल्पना भी आधुनिक कला की विशेषता है। सच तो यह है कि भावों का चित्र-कल्पना द्वारा प्रदर्शन ही कला का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। कविता प्रारंभ करने के पहिले भारतीय कविगण प्रायः सरस्वती की वंदना किया करते हैं। सिया-रामशरण गुप्त ने भी सरस्वती की वंदना की है और यह वंदना एक बहुत ही सुंदर चित्र के रूप में है। 'जहाँ है अक्षय-स्वर-झंकार' में कवि कल्पना करता है कि वह माँ भारती के मंदिर में जा रहा है। पहले वह भारती के मंदिर का चित्र खींचता है :

जहाँ है अक्षय-स्वर-झंकार,
प्रमद-चिर-चंचल पारावार। इत्यादि

कवि आकर्षित होकर मंदिर की ओर जाता है। परंतु बेचारे कवि के पास माँ को उपहार-स्वरूप अर्पण करने के लिए कुछ भी नहीं है। द्वारपाल उसे भीतर जाने से रोकता है। कवि चिन्तामग्न हो जाता है। वह सोचता है कि जिस मंदिर में बड़े बड़े कवि अपना अमूल्य उपहार अर्पण करने आते हैं वहाँ वह खाली हाथ कैसे जावे। अचानक उसे ध्यान आता है कि उसके पास भी अर्पण करने के लिए उपहार की कमी नहीं है :

> आँसुओं का यह प्रचुर प्रवाह,
> हृदय का ऐसा दाहक दाह;
> मर्म का इतना गहरा घाव
> साधनों का यह वृहदाभाव,
> वेदना का यह चिर चीत्कार,
> चेत उठता जो बारंबार,
> गूँथ इन सबको एकाकार,
> बनाकर इन सब का उपहार;
> रहूँगा क्या फिर भी मैं दीन,
> अकिंचन और उपेक्षित हीन? इत्यादि

परतु फिर प्रश्न उठता है कि यह उपहार देवी के किसी काम का भी है या नहीं। कवि पुनः विचार करता है और अत में उसे इसकी उपयोगिता ध्यान में आती है :

> और जब माँ को होगी श्रांति,
> निरंतर वीणा - वादन - भ्रांति,
> उच्छ्वसित यह प्रमोद अभिराम,
> कभी जब लेगा कुछ विश्राम,
> उँगुलियाँ होंगी विरतोद्योग,
> मिलेगा तब तो मुझे सुयोग। इत्यादि

अस्तु, वह द्वारपाल से भीतर जाने की प्रार्थना करता है और उसे आज्ञा मिल भी जाती है, क्योंकि किसी की आवाज आती है कि तुम उपहार-विहीन नहीं हो। इसी कवि ने लगभग यही वदना कुछ वर्ष पहले निम्नान्वित छद में लिखी थी :

करो नाथ स्वीकार आज इस हृदय कुसुम को,
करें और क्या भेंट राजराजेश्वर तुमको ?
सौरभ की है कमी कहाँ, पर उसको लावें ?
सुन्दरता है नहीं, कहाँ से वह भी लावें ? इत्यादि

इन दोनों कविताओं का अंतर काव्य की चित्र कल्पना को स्पष्ट कर देता है। पहली कविता में कवि अपनी सभी बातें चित्रों के रूप में उपस्थित करता है जिससे पाठकों के मस्तिष्क में एक चित्र सा खिंच जाता है, परन्तु पिछली कविता में कोई चित्र-कल्पना नहीं, केवल साधारण वर्णन मात्र है और इसी कारण इसका कोई चित्र सम्मुख नहीं आता। इसलिए पहली कविता अधिक प्रभाव-शालिनी और कला की दृष्टि से संपूर्ण है।

इस चित्र-कल्पना-शैली के कारण कवियों की कल्पना को एक विस्तृत क्षेत्र मिल गया है। कविता में चित्र-चित्रण आधुनिक युग का नया आविष्कार नहीं है। रीतिकाल का नखशिख-वर्णन मूलतः चित्र-चित्रण का ही एक प्रयास था। जब मतिराम श्रीकृष्ण का नखशिख वर्णन करते हैं :

गुच्छनि को अवतंस लसै सिखि पच्छनि अच्छ किरीट बनायो,
पल्लव लाल समेत छरी, कर पल्लव में मतिराम सुहायो।
गुंजनि को उर मंजुल हार निकुंजन ते कढ़ि बाहिर आयो,
आज को रूप लखे ब्रजराज को, आज ही आँखिन को सुख पायो।

तब वे चित्र-चित्रण का ही प्रयत्न करते हैं और कुछ हद तक सफल भी हुए हैं। परंतु इस प्रकार का चित्र-चित्रण कविता का ही एक अंग है। काव्य के उपादानों में साधारण दो प्रकार की वस्तुएँ होती हैं। पहली प्रकार की वस्तुएँ वे हैं जिनका कोई निश्चित रूप होता है, जैसे घर, पेड़, मनुष्य इत्यादि, और दूसरी प्रकार की वे हैं जिनका कोई निश्चित रूप नहीं होता, जैसे संध्या, प्रभात बादल इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे असाधारण उपादान भी हैं जिनका कोई रूप नहीं होता, जैसे शोक, स्मृति और हर्ष इत्यादि। प्राचीन कवि केवल उन उपादानों का चित्र-चित्रण किया करते थे जिनका निश्चित रूप हुआ करता था। अन्य उपादानों का वे केवल वर्णन मात्र कर देते थे चित्र अंकित नहीं करते थे। आधुनिक छायावादी कवि निश्चित रूपवाले उपा-दानों का बहिष्कार सा करने लगे हैं और अनिश्चित रूपवाले तथा जिनका कोई रूप ही नहीं है, ऐसे उपादानों का ही चित्र अंकित करते हैं। अस्तु, आधुनिक

कवि अपने आस पास की प्रकृति का वर्णन नहीं करते—वे नीम के वृक्ष, गेंदे के फूल और गौरैयों तथा कौवों का चित्र अंकित नहीं करते—वरन् प्रकृति के निर्जन रूप—ऊषा और निर्झर, केतकी और कुररी—का चित्र अंकित करते हैं।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण चित्रण उन भाववाचक संज्ञाओं का है जिनका कोई रूप नहीं होता, जैसे स्मृति, शोक इत्यादि। यहाँ कवि अपनी कल्पना का सहारा लेकर इन भावों को एक रूप प्रदान करता है और उनका नामकरण भी करता है। इसमें 'मानवीकरण' (Personification) अलंकार का विशेष प्रयोग होता है और कल्पना का आधार लिया जाता है। जयशंकर प्रसाद की 'आह' एक चित्र देखिए :

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत ;
शरद नीरद माला के बीच,
तड़प ले चपला-सी भयभीत। इत्यादि

यहाँ 'आह' का मानवीकरण कर उसे एक वृद्ध दुर्बल मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसे शीत बहुत जल्दी लग जाती है। ऐसे चित्रों में ध्वनि-व्यंजना का भी महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है।

आधुनिक गीति-काव्य के विकास की ये तीन सीढ़ियाँ हैं। परतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्राचीन ढंग के गीति-काव्य इस काल में लिखे ही नहीं गए। इसके विपरीत प्राचीन गीति-काव्य के पद तथा लोक-गीत के कजली, दादरा, लावनी इत्यादि भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि और बदरीनाथ भट्ट के पद बहुत सुंदर और प्रसिद्ध हैं। श्रीधर पाठक ने कितने ही प्राचीन ढंग के स्तोत्र लिखे। इनके अतिरिक्त कजली, ठुमरी, दादरा, होली और ग़ज़ल इत्यादि भी लिखे गए। माधव शुक्ल-रचित 'भारत-गीतांजलि' में इस प्रकार के गीति-काव्य मिलते हैं, जैसे :

कजली—काली छाय रही अँधियारी, घर में आन घुसे हैं चोर॥
बरसैं मेंह, दामिनी दमकै, चढ़ी घटा घनघोर,
बरसत हाय हमारी संपति नासत सबै बटोर। इत्यादि
दादरा— भोलेपन से तुम्हारा गुज़ारा नहीं। इत्यादि

करो नाथ स्वीकार आज इस हृदय कुसुम को,
करें और क्या भेंट राजराजेश्वर तुमको ?
सौरभ की है कमी कहाँ, पर उसको लावें ?
सुन्दरता है नहीं, कहाँ से वह भी लावें ? इत्यादि

इन दोनों कविताओं का अंतर काव्य की चित्र कल्पना को स्पष्ट कर देता है। पहली कविता में कवि अपनी सभी बातें चित्रों के रूप में उपस्थित करता है जिससे पाठकों के मस्तिष्क में एक चित्र सा खिंच जाता है, परन्तु पिछली कविता में कोई चित्र-कल्पना नहीं, केवल साधारण वर्णन मात्र है और इसी कारण इसका कोई चित्र सम्मुख नहीं आता। इसलिए पहली कविता अधिक प्रभाव-शालिनी और कला की दृष्टि से संपूर्ण है।

इस चित्र कल्पना-शैली के कारण कवियों की कल्पना को एक विस्तृत क्षेत्र मिल गया है। कविता में चित्र-चित्रण आधुनिक युग का नया आविष्कार नहीं है। रीतिकाल का नखशिख-वर्णन मूलतः चित्र-चित्रण का ही एक प्रयास था। जब मतिराम श्रीकृष्ण का नखशिख वर्णन करते हैं :

गुच्छनि को अवतंस लसै सिखि पच्छनि अच्छ किरीट बनायो,
पल्लव लाल समेत छरी, कर पल्लव में मतिराम सुहायो।
गुंजनि को उर मंजुल हार निकुंजन ते कढ़ि बाहिर आयो,
आज को रूप लखे ब्रजराज को, आज ही आँखिन को सुख पायो।

तब वे चित्र-चित्रण का ही प्रयत्न करते हैं और कुछ हद तक सफल भी हुए हैं। परन्तु इस प्रकार का चित्र-चित्रण कविता का ही एक अंग है। काव्य के उपादानों में साधारण दो प्रकार की वस्तुएँ होती हैं। पहली प्रकार की वस्तुएँ वे हैं जिनका कोई निश्चित रूप होता है, जैसे घर, पेड़, मनुष्य इत्यादि, और दूसरी प्रकार की वे हैं जिनका कोई निश्चित रूप नहीं होता, जैसे सध्या, प्रभात बादल इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे असाधारण उपादान भी हैं जिनका कोई रूप नहीं होता, जैसे शोक, स्मृति और हर्ष इत्यादि। प्राचीन कवि केवल उन उपादानों का चित्र-चित्रण किया करते थे जिनका निश्चित रूप हुआ करता था। अन्य उपादानों का वे केवल वर्णन मात्र कर देते थे चित्र अंकित नहीं करते थे। आधुनिक छायावादी कवि निश्चित रूपवाले उपादानों का बहिष्कार सा करने लगे हैं और अनिश्चित रूपवाले तथा जिनका कोई रूप ही नहीं है, ऐसे उपादानों का ही चित्र अंकित करते हैं। अस्तु, आधुनिक

कवि अपने आस पास की प्रकृति का वर्णन नहीं करते—वे नीम के वृक्ष, गेंदे के फूल और गौरैयों तथा कौवों का चित्र अंकित नहीं करते—वरन् प्रकृति के निर्जन रूप—ऊषा और निर्झर, केतकी और कुररी—का चित्र अंकित करते हैं।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण चित्रण उन भाववाचक संज्ञाओं का है जिनका कोई रूप नहीं होता, जैसे स्मृति, शोक इत्यादि। यहाँ कवि अपनी कल्पना का सहारा लेकर इन भावों को एक रूप प्रदान करता है और उनका नामकरण भी करता है। इसमें 'मानवीकरण' (Personification) अलंकार का विशेष प्रयोग होता है और कल्पना का आधार लिया जाता है। जयशंकर प्रसाद की 'आह' एक चित्र देखिए :

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत ;
शरद नीरद माला के बीच,
तड़प ले चपला-सी भयभीत। इत्यादि

यहाँ 'आह' का मानवीकरण कर उसे एक वृद्ध दुर्बल मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसे शीत बहुत जल्दी लग जाती है। ऐसे चित्रों में ध्वनि-व्यंजना का भी महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है।

आधुनिक गीति-काव्य के विकास की ये तीन सीढ़ियाँ हैं। परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्राचीन ढंग के गीति-काव्य इस काल में लिखे ही नहीं गए। इसके विपरीत प्राचीन गीति-काव्य के पद तथा लोक-गीत के कजली, दादरा, लावनी इत्यादि भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि और बदरीनाथ भट्ट के पद बहुत सुंदर और प्रसिद्ध हैं। श्रीधर पाठक ने कितने ही प्राचीन ढंग के स्तोत्र लिखे। इनके अतिरिक्त कजली, ठुमरी, दादरा, होली और गजल इत्यादि भी लिखे गए। माधव शुक्ल-रचित 'भारत-गीतांजलि' में इस प्रकार के गीति-काव्य मिलते हैं, जैसे :

कजली—काली छाय रही अँधियारी, घर में आन घुसे हैं चोर ॥
बरसैं मेंह, दामिनी दमकै, चढ़ी घटा घनघोर,
बरसत हाय हमारी संपति नासत सबै बटोर। इत्यादि
दादरा— भोलेपन से तुम्हारा गुज़ारा नहीं। इत्यादि

श्रीधर पाठक ने नीच जाति की स्त्रियों के लिए भी राष्ट्रीय गीत लिखे। उदाहरणार्थ मजदूरिनों के लिए लिखा गया एक पद देखिए :

भारत पै सैयो मैं बलि बलि जाऊँ।
बलि बलि जाऊँ, हियरा लगाऊँ, हरवा बनाऊँ, घरवा सजाऊँ।
मेर जियरवा का, तन का जिगरवा का, मन का, मंदिरवा का, प्यारा बसैया।
मैं बलि बलि जाऊँ—भारत पै सैयो मैं बलि बलि जाऊँ।

(ख) गीति काव्य की शैलियाँ

काव्यगत भाव और शैली की दृष्टि से गीति-काव्यों को कई भेदों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भेद व्यंग्य गीति का है। व्यंग्य-गीति-काव्य की भाँति व्यंग्य-काव्य भी होते हैं। 'शंकर' का 'गर्भ रंडा-रहस्य' व्यंग्य-प्रबंध-काव्य है। व्यंग्य गीति हिन्दी में बहुत ही कम हैं और जो हैं भी उनमें कवित्व का अभाव है। नाथूराम 'शंकर' ने कुछ उत्कृष्ट व्यंग्य गीति लिखे। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' अपने 'कविराज से संबोधन' में ब्रजभाषा-कवियों का व्यंग्य उड़ाते हैं :

मो भारती तुम्हारा चलन देख देख कर,
नव नायिका से नित्य लगन देख देख कर,
परकीया में लगा हुआ मन देख देख कर,
उजड़ा हुआ स्वदेश का वन देख देख कर,
आकुल अजस्र धार से आँसू बहा रही,
होकर अधीर धैर्य-भवन है ढहा रही। इत्यादि

[त्रिशूल-तरंग, पृ०—७१]

इसी प्रकार 'कृष्णोत्कर्ष' में नाथूराम 'शंकर' ने हिन्दुओं के कृष्णावतार पर व्यंग्य लिखा। मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'शंकर' की देखा-देखी कुछ व्यंग्य-गीति लिखे, परंतु इनके व्यंग्य में डंक बिल्कुल भी नहीं है और इसीलिए उनका महत्त्व बहुत ही कम है।

गीति-काव्य का दूसरा भेद पत्र-गीति (Epistles) है, जिसमें पत्र के रूप में कविता लिखी जाती है। पत्र-गीति बँगला के महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त की 'वीरांगना' के अनुकरण रूप में लिखे गए। मैथिलीशरण गुप्त ने 'पत्रावली' इसी शैली में लिखी। पत्र-शैली ठीक ठीक गीति-काव्य

के अंतर्गत नहीं आनी चाहिए, परंतु अँगरेजी समालोचक हडसन के मतानुसार पत्र, गीति-काव्य के अंतर्गत आते हैं। पत्र में अध्यातरिक्ता तो अवश्य होती है, परतु वह गेय नहीं होता और उसकी शैली भी विशुद्ध वर्णनात्मक होती है। 'महाराजा पृथ्वीराज का पत्र राणा प्रताप के प्रति' में प्रेषक लिखता है :

हा ! कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर आश्चर्य-लीन
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ सिन्धु संस्था विहीन।
देखा है, क्या कहूँ मैं, निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र,
देखा है, और भी हाँ, अकबर-कर में, आपका सन्धि-पत्र।

[सरस्वती, मार्च १९१२]

यह कविता अध्यातरिक तो अवश्य है परतु इसकी शैली वर्णनात्मक है। हिन्दी के पत्र-गीतियों में उक्ति-वैचित्र्य पर्याप्त मात्रा में है, परतु उनमें रस और भाव का अभाव है। मैथिलीशरण गुप्त और द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' ने पत्र-गीति लिखे हैं।

गीति-काव्य का तीसरा भेद शोक-गीति है। हिन्दी में शोक-गीति-काव्यों का नितात अभाव है, केवल 'प्रसाद' का 'आँसू' ही इस दिशा में एक सुदर रचना है। श्यामविहारी मिश्र का 'हा काशीप्रकाश' बहुत छोटा और साधारण काव्य है और कामताप्रसाद गुप्त का 'ग्रामीण-विलाप' अँगरेजी कवि ग्रे की 'एलिजी' (Elegy) का रूपातर मात्र है। 'आँसू' के सम्पूर्ण काव्य के अतर में वेदना की एक लहर सी दिखाई पड़ती है। कवि प्रारभ में ही पूछ उठता है :

इस करुणा-कलित हृदय में; क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
मानस सागर के तट पर, क्यों लोल लहर की घातें,
कल-कल करके बतलातीं, कुछ विस्मृत बीती बातें ?

और फिर स्वय ही उसका उत्तर भी दे देता है :

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई।

श्रीधर पाठक ने नीच जाति की स्त्रियों के लिए भी राष्ट्रीय गीत लिखे। उदाहरणार्थ मजदूरिनों के लिए लिखा गया एक पद देखिए :

भारत पै सैयाँ मैं बलि बलि जाऊँ।
बलि बलि जाऊँ, हियरा लगाऊँ, हरवा बनाऊँ, घरवा सजाऊँ।
मेरे जियरवा का, तन का जिगरवा का, मन का, मंदिरवा का, प्यारा बसैया।
मैं बलि बलि जाऊँ—भारत पै सैयाँ मैं बलि बलि जाऊँ।

(ख) गीति काव्य की शैलियाँ

काव्यगत भाव और शैली की दृष्टि से गीति-काव्यों को कई भेदों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भेद व्यंग्य गीति का है। व्यंग्य-गीति-काव्य की भाँति व्यंग्य-काव्य भी होते हैं। 'शंकर' का 'गर्भ रंडा-रहस्य' व्यंग्य-प्रबंध-काव्य है। व्यंग्य गीति हिन्दी में बहुत ही कम हैं और जो हैं भी उनमें कवित्व का अभाव है। नाथूराम 'शंकर' ने कुछ उत्कृष्ट व्यंग्य गीति लिखे। *गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' अपने 'कविराज से सम्बोधन' में ब्रजभाषा-कवियों का* व्यंग्य उड़ाते हैं :

माँ भारती तुम्हारा पतन देख देख कर,
नव नायिका से नित्य लगन देख देख कर,
परकीया में लगा हुआ मन देख देख कर,
उजड़ा हुआ स्वदेश का वन देख देख कर,
आकुल अजस्र धार से आँसू बहा रही,
होकर अधीर धैर्य-भवन है ढहा रही। इत्यादि

[त्रिशूल-तरंग, पृ०—७१]

इसी प्रकार 'कृष्णोत्कर्ष' में नाथूराम 'शंकर' ने हिन्दुओं के कृष्णावतार पर व्यंग्य लिखा। मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'शंकर' की देखा-देखी कुछ व्यंग्य-गीति लिखे, परन्तु इनके व्यंग्य में डंक बिल्कुल भी नहीं है और इसीलिए उनका महत्त्व बहुत ही कम है।

गीति-काव्य का दूसरा भेद पत्र-गीति (Epistles) है, जिसमें पत्र के रूप में कविता लिखी जाती है। पत्र-गीति बँगला के महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त की 'वीरांगना' के अनुकरण रूप में लिखे गए। मैथिलीशरण गुप्त ने 'पत्रावली' इसी शैली में लिखी। पत्र-शैली ठीक ठीक गीति-काव्य

हिन्दी में यह 'आँसूवाद' या 'वेदनावाद' एक नया राग है। यह बात नहीं है कि हिन्दी में करुण रस का अभाव हो—करुण रस तो रीति-काव्य में भरा पड़ा है। विरह पर लगभग सभी कवियों ने सुंदरतम रचनाएँ की और विरह की 'एकादश दशाओं' पर कितनी ही तरह से उक्ति-वैचित्र्य अनुभूति और भावुकता इत्यादि सब का अंत कर डाला है; परंतु वेदना के लिए यह आग्रह :

मा, मुझे वहाँ तू ले चल !
देखूँगा वह द्वार—
दिवस का पार—
मूर्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार !

[परिमल-पृ०—१७४]

अथवा 'वेदना' का यह सादर आह्वान :

आज वेदने ! आ तुझको भी
गा गाकर जीवन दे दूँ,
हृदय खोलकर रो रो कर

[सुमित्रानंदन पंत]

हिन्दी के लिए नया अवश्य है और शायद उर्दू कविता के 'दर्दे-दिल' अथवा अँगरेजी कवि 'शेली' के 'Our sweetest songs aee those that tell of saddest thoughts' से प्रभावित हुआ जान पड़ता है।

किसी वर्ग-विशेष की भावना का प्रदर्शक गीति काव्य गीतियों का चौथा भेद है। राष्ट्रीय कविताएँ अधिकांश इसी भेद के अंतर्गत आती हैं। अस्तु, जब गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल' 'अहिंसा-समाम' में लिखते हैं :

आती हैं गोलियाँ, बढ़ो निर्भय आने दो,
बम बरसाते वीर ! उन्हें बम बरसाने दो,
साथी कट कर गिरें, इन्हें सद्‌गति पाने दो,
घर खाली हो गए, जेल ही भर जाने दो,

---

*हमारे मधुरतम संगीत वे हैं जो खिन्न हृदय के गंभीरतम विचारों को व्यंजना करते हैं।

और फिर विरह और स्मृति का वेदनामय चित्रण प्रारंभ होता है। परंतु इस 'आँसू' में दार्शनिकता की एक गंभीर छाप मिलती है जो हमें दुःख और पीड़ा के जगत् में आशा का संदेश देती है। अंत में कवि सुख और दुःख का मेल कराकर उस समत्व की ओर संकेत करता है जहाँ :

चेतना-लहर न उठेगी, जीवन-समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा।

प्रसाद के 'आँसू' के अतिरिक्त और भी कितने छोटे बड़े काव्य और गीतियाँ आँसू पर लिखी गईं जिनमें अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'आँख का आँसू' माखनलाल चतुर्वेदी और सुमित्रानंदन पंत के 'आँसू', मुकुटधर का 'मेरे जीवन की लघु तरणी, आँखों के पानी में तर जा' इत्यादि बहुत प्रसिद्ध हैं। इन 'आँसू-काव्यों' में विरह और स्मृति की सुंदर-व्यंजना हुई है जिनमें मानव-जीवन की गंभीर और सुकुमार वेदना निहित है। आँसुओं में किसी की कुछ भी शिकायत नहीं। मुकुटधर तो अपनी जीवन-तरणी आँसुओं के पानी में तिराना चाहते हैं :

मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा ख़ज़ाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूँदों में ढर जा।

और सुमित्रानंदन पंत को विरह भी वरदान जान पड़ता है :

विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले-छंद हैं,
मधुर-लय का क्या कहीं अवसान है?

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान
उमड़कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान!

हिन्दी में यह 'आँसूवाद' या 'वेदनावाद' एक नया राग है। यह बात नहीं है कि हिन्दी में करुण रस का अभाव हो—करुण रस तो रीति-काव्य में भरा पड़ा है। विरह पर लगभग सभी कवियों ने सुंदरतम रचनाएँ की और विरह की 'एकादश दशाओं' पर कितनी ही तरह से उक्ति-वैचित्र्य अनुभूति और भावुकता इत्यादि सब का अंत कर डाला है; परंतु वेदना के लिए यह आग्रह :

मा, मुझे वहाँ तू ले चल !
देखूँगा वह द्वार—
दिवस का पार —
मूर्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार !

[परिमल-पृ०—१७४]

अथवा 'वेदना' का यह सादर आह्वान :

आज वेदने ! आ तुझको भी
गा गाकर जीवन दे दूँ,
हृदय खोलकर रो रो कर

[सुमित्रानंदन पंत]

हिन्दी के लिए नया अवश्य है और शायद उर्दू कविता के 'दर्दे-दिल' अथवा अँगरेजी कवि 'शेली' के 'Our sweetest songs aee those that tell of saddest thoughts' से प्रभावित हुआ जान पड़ता है।

किसी वर्ग-विशेष की भावना का प्रदर्शक गीति काव्य गीतियों का चौथा भेद है। राष्ट्रीय कविताएँ अधिकांश इसी भेद के अंतर्गत आती हैं। अस्तु, जब गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल' 'अहिंसा-संग्राम' में लिखते हैं :

आती हैं गोलियाँ, बढ़ो निर्भय आने दो,
बम बरसाते वीर ! उन्हें बम बरसाने दो,
साथी कट कर गिरें, इन्हें सद्गति पाने दो,
घर खाली हो गए, जेल ही भर जाने दो,

---

*हमारे मधुरतम संगीत वे हैं जो खिन्न हृदय के गंभीरतम विचारों को व्यंजना करते हैं।

अथवा 'प्रसाद' निराश होकर कह उठते हैं

रे मन !

न कर तू कभी दूर का प्रेम !
निष्ठुर ही रहना अच्छा है, यही करेगा क्षेम।
देख न,
यह पतझड़ वसत एकत्रित मिला हुआ संसार,
किसी तरह से उदासीन ही रह जाना उपकार।
या फिर,
जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर,
मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर। इत्यादि

और इसी प्रकार कवि अपने अतर्लोक का तूफान, भावावेग और रसोद्रेक, अनेक वृत्तियों और अनेक रूपों में प्रदर्शित करता है।

आध्यातरिक गीति-काव्य की द्वितीय शैली में कवि किसी वस्तु के देखने से जो विचार और भाव, कल्पना और चित्र, हृदय अथवा मस्तिष्क में उठते हैं उनकी व्यंजना करता है। सियारामशरण गुप्त आधी रात की नीरव निस्तब्धता में 'दूरागत गान' सुनकर आनद-विभोर हो उठते हैं, उनके हृदय मे कितनी ही भावनाएँ जाग्रत् हो उठती हैं। वे विस्मय से पूछ उठते हैं :

दूर से आकर तुम हे गान !
आकुल करते हृदय मर्म को भेद लक्ष्य अनजान।

× × ×

क्षीण कण्ठ क्या विरह-विधुर हो ?
अहा ! करुण तुम मंजु मधुर हो,
किसे ज्ञात है हममें तुममें है कब की पहचान।

'यमुना के प्रति' कविता में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' को उन पिछले दिनों की याद आ जाती है जब कि भगवान् कृष्ण यमुना के तट पर गोपियों से रासलीला किया करते थे। लहरों का मधुर सगीत और पद्मों पर भ्रमरों की गुजार कवि को सहस्रों वर्ष पूर्व खींच ले जाती है और कवि अपने कल्पना-यान पर चढ़कर यमुना और वृदावन के अतीत गौरव का दृश्य देखता है। परतु उस वैभव और रासलीला का कोई वर्तमान चिह्न न पाने के कारण वह विस्मय और आश्चर्य से पूछता है :

बता कहाँ अब वह वंशीवट? कहाँ गए नटनागर श्याम?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ आज वह वृन्दाधाम?
कभी यहाँ देखे थे जिनके श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में आज पोंछतीं वे दृगनीर?

इसी प्रकार वृक्षों के नीचे 'परहृत-वसना' छाया को देखकर सुमित्रानंदन पंत के मस्तिष्क में न जाने कितने दृश्य और चित्र छाया के लिए उपस्थित हो जाते हैं और वे अपने कवि-हृदय की सरलता से पूछते हैं :

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य-पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार?
निर्जनता के मानस-पट पर
—बार बार भर ठंढी-साँस—
क्या तुम छिपकर क्रूर-काल का
लिखती हो अकरुण-इतिहास? इत्यादि

इस प्रकार की कविताएँ अँगरेजी में ओड्स (Odes) कहलाती हैं और इन्हें हिन्दी में संबोध-गीति कह सकते हैं, क्योंकि इनमें कवि किसी वस्तु-विशेष को सम्बोधन करके उसके संबंध में अपने विचारों और भावों, चित्रों और कल्पनाओं की व्यंजना करते हैं। इसमें कवि किसी प्राकृतिक वस्तु, किसी भाव और विचार, अथवा किसी दृश्य को भी संबोधन कर सकता है। हिन्दी में सम्बोध-गीतियों की संख्या पर्याप्त है और उनमें कुछ तो बहुत ही उत्कृष्ट श्रेणी की हैं। 'प्रसाद' के 'किरण', 'रूप', 'वसंत', 'विषाद' और 'दीप'; 'निराला' की 'यमुना के प्रति', 'वासंती', 'वसंत-समीर', 'भिक्षुक', 'संध्या-सुंदरी', 'बहू', 'जुही की कली', 'शेफालिका' इत्यादि और पंत के 'पल्लव', 'आँसू', 'वीचि-विलास', 'अनंग', 'स्वप्न', 'शिशु', 'छाया' और 'परिवर्तन', हिन्दी काव्य में सर्वोत्कृष्ट संबोध-गीति के उदाहरण हैं।

सम्बोध-गीतियों में एक दूसरी शैली सुमित्रानंदन पंत के 'बादल' और गुरुभक्त सिंह की 'ओस' में मिलती है जिनसे 'ओस' और 'बादल' स्वयं अपनी कथा, अपने भाव और विचार, अपनी सुंदरता इत्यादि अपने मुख से कहते हैं। उदाहरण के लिए गुरुभक्त सिंह की 'ओस' की वाचालता सुनिए :

मोती मुझको बतलाते हो, वह कठोर है नहीं सजल,
द्रवित हृदय-सी मैं सजला हूँ, नव पल्लव से भी कोमल,
आती हूँ आकाश से प्रति निशि, छिपता रवि जब अस्ताचल,
गाकर नीरव गीत नाचती, नहीं अप्सरा हूँ चंचल।
भूपर तुरत लोट जाती हूँ पवन वेग ज्यों ही करता,
मचल गई तो मचल गई मैं उठती है फिर कौन भला ? इत्यादि
[कुसुम-कुञ्ज—पृ० १]

सम्बोध-गीतियों का मुख्यतम अङ्ग कवि की कल्पना है। वह अपने एक अलग संसार की सृष्टि करता है जिसके उपादान, भाव और भाषा सांसारिक उपादान, भाव और भाषा से बिल्कुल भिन्न हैं। वह अपनी सृष्टि को एक बहुत ही सुंदर रूप देता है, उसमें विविध गुणों का आरोप करता है, यहाँ तक कि वह सृष्टि भी इतनी ही सत्य प्रतीत होने लगती है जितनी कि यह बाह्य सृष्टि है। उदाहरण के लिए सुमित्रानंदन पंत का 'परिवर्तन' ले लीजिए। कवि ने 'परिवर्तन' को एक सुंदर रूप देकर उस पर अनेक गुणों का आरोप किया, यहाँ तक कि उसके इस रूप की सत्यता पाठकों के अंतस्तल तक पहुँच जाती है और वहाँ एक अमिट छाप लगा जाती है।

आध्यांतरिक गीति-काव्य की तृतीय शैली में कवि अपने को किसी दूसरे व्यक्ति, वस्तु अथवा प्रसंग में रख कर हृदय की कोमल भावनाओं की व्यंजना करता है। इस शैली को हम कवि के 'नाटकीय अध्ययन' के रूप में पाते हैं, जैसे माखनलाल चतुर्वेदी 'अपने सपूत से' शीर्षक कविता में अपने को यशोदा माता के स्थान में रखकर श्रीकृष्ण से अपने हृदय का भाव प्रकट करते हैं :

महलों पर कुटियों को वारो, पकवानों पर दूध दही,
राजपथों पर कुंजें वारो, मंचों पर गोलोक मही,
सरदारों पर ग्वाल और नागरियों पर ब्रज-बालायें,
हीर-हार पर वार लाडले वनमाली वन-मालायें,
छीनूँगी निधि नहीं किसी सौभागिनि पुण्य प्रमोदा की,
लाल ! वारना नहीं किसी पर गोद गरीब यशोदा की।

इसी प्रकार 'खुला द्वार' में राय कृष्णदास एक प्रसंग में अपने को रख कर कहते हैं :

नलिनी मधुर गंध से भीना पवन तुम्हें थपकी देकर,
पैर बढ़ाने को उत्तेजित बार बार करता प्रियवर!
उधर पपीहा बोल बोल कर तुमसे करता है परिहास,
पहुँच द्वार तक अब क्यों आगे किया न जाता पद-विन्यास?

× × ×

धूल धूसरित चरणों का क्या है विचार? तो है यह भूल,
जगती तल में और कहाँ मिल सकती मुझे स्नेहमय धूल?
पद-स्पर्श से पुण्य-धूलि वह शीश चढ़ावेगी चेरी,
प्रेम-योगिनी होने में बस होगी वह विभूति मेरी।
फिर इतना संकोच व्यर्थ क्यों? बतलाओ जीवन-अवलम्ब!
खुला द्वार है भीतर आओ, मानो कहा करो न विलम्ब।

प्रेमी प्रेमिका के खुले द्वार तक आ गया है, परंतु उसे भीतर जाने का साहस नहीं होता और वह रुक जाता है। प्रेमिका इसे देख लेती है। कवि इस प्रसंग में अपने को प्रेमिका के स्थान में रखकर अपनी भावनाओं की बहुत ही सुंदर व्यंजना करता है। 'पुष्प की अभिलाषा' में माखनलाल चतुर्वेदी यदि भाग्यवश एक फूल में परिवर्तित कर दिए जाते तब उनकी क्या अभिलाषा होती, उसकी अभिव्यक्ति करते हैं:

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

इन 'नाटकीय अध्ययनों' में कवि अपनी ही व्यक्तिगत और अभ्यान्तरिक भावनाओं की व्यंजना करता है, केवल अपनी भावनाओं की व्यापकता के लिए अपने को अन्य व्यक्तियों, प्रसंगों तथा वस्तुओं के स्थान में रखता है। इस शैली में माखनलाल चतुर्वेदी ने सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। सुभद्राकुमारी चौहान, राय कृष्णदास और सियारामशरण गुप्त ने भी इस शैली में सुंदर रचनाएँ की हैं।

इन तीन प्रमुख शैलियों के अतिरिक्त आध्यातरिक गीति काव्य की एक और शैली रूपकों के रूप में गभीर और आध्यात्मिक अनुभवों की व्यजना का है। उदाहरण के लिए सियारामशरण गुप्त की 'गूढ़ाशय' शीर्षक कविता ले लीजिए। कवि कहता है :

स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब तुमने उसको फेंक दिया,
होकर क्षुब्ध हृदय अपना तब, मैंने तुमसे छीन लिया।

फिर स्पर्द्धा की भावना से प्रेरित हो सुमन-सचय के लिए उसने कटक-वेष्टन पार कर उपवन में प्रवेश किया। और तब :

उपवन-भर के श्रेष्ठ सुमन सब, जाकर तोड़ लिए सहसा जब,
समझ तुम्हारा गूढ़ाशय तब, हुआ विशेष कृतज्ञ हिया।

इस अनुभव में न तूफान है, न भावों का उद्दाम आवेग, वरन् इसमें एक गभीरता है, शाति है और है विचारशीलता। माखनलाल चतुर्वेदी के 'मेरा उपास्य' नामक कविता में एक गभीर आध्यात्मिक अनुभूति की उत्कृष्ट व्यजना रूपक के रूप में हुई है। इस रूपक पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक गीति का प्रभाव स्पष्ट है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रकार के कितने ही रूपक-गीति लिखे, परतु हिन्दी में इस प्रकार के रूपक-गीति दो ही चार लिखे गए। शायद हिन्दी कवियों की कल्पना और प्रतिभा इस कोटि की नहीं थी। जिन दो चार कवियों में इस प्रकार की प्रतिभा थी भी उन्होंने गद्य-गीतों को ही इसका माध्यम बनाया, पद्य-गीति को नहीं। रायकृष्णदास की 'साधना' तथा वियोगी हरि की 'तरगिणी' और 'अतर्नाद' में गद्य-गीतों में ही इस प्रकार की व्यजना हुई है।

(४) अन्य काव्य-रूप

मुक्तक, प्रबध और गीतियों के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी में दो और काव्य-रूप—नाटक-काव्य (Dramatic Poetry) और गीत (Songs)—मिलते हैं। नाटक-काव्य हिन्दी में कोई नई चीज़ नहीं है। भक्तिकाल और रीतिकाल में भी नाटक-काव्य लिखे गए थे, जिनमें 'रामायण-महानाटक', 'विज्ञान-गीता' और 'देव माया-प्रपच' बहुत प्रसिद्ध हैं। नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित्र' भी एक नाटक-काव्य है। परतु आधुनिक नाटक-काव्यों की

शैली रीतिकालीन नाटक-काव्यों की शैली से भिन्न है। इनमें प्रवाह अधिक है और चरित्र-चित्रण का सफल प्रयास पाया जाता है। मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' और 'लीला', सियारामशरण गुप्त की 'कृष्णा', आनंदिप्रसाद श्रीवास्तव की 'झाँकी' और सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' का 'पचवटी-प्रसंग' कुछ सुदर नाटक-काव्य हैं। काव्य की दृष्टि से इनमें कोई विशेषता नहीं है, केवल कथनोपकथन और स्वगत-भाषण के रूप में कविता में नाटकीय चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है। कहीं कहीं कुछ महत् क्षणों में भावावेगों की व्यजना उच्च कोटि की हुई है। उदाहरण के लिए आनदिप्रसाद श्रीवास्तव की 'झाँकी' से नूरजहाँ की झाँकी लीजिए, जब वह मृत्यु-शैया पर अपनी पुत्री लैला से बिगड़कर कहती है :

पतन, भला फिर पतन कहा था किसलिए ?
समझाती है क्या मुझको हे बालिके !
जैसे दिनकर ज्योतिपुञ्ज संसार को
करता है नित दान, उसी विधि मैं स्वयं
देती आई हूँ प्रकाश संसार को,
मुझको कोई क्या प्रकाश देगा भला ? इत्यादि

अथवा 'पंचवटी-प्रसग' में शूर्पनखा राम से बिगड़कर कहती है :

धिक् है नराधम तुझे,
वंचक कहीं का शठ,
बिमुख किया तूने उसे
आई जो तेरे पास
चाव से
अर्पण करने के लिए जीवन यौवन नवीन।

गीत हिन्दी में बहुत ही कम लिखे गए। 'प्रसाद', गोविन्दवल्लभ पत, 'उग्र' इत्यादि ने नाटकों में कुछ थोड़े से गीत लिखे। 'निराला' ने कुछ स्वतंत्र गीत भी लिखे। उदाहरण के लिए 'परिमल' से एक गीत लीजिए :

दूत, अलि, ऋतुपति के आए !
फूट हरित पत्रों के उर से स्वर-सप्तक छाए।
दूत, अलि, ऋतुपति के आए।

काँप उठी विटपी, यौवन के
प्रथम कम्प मिस, मन्द पवन से,
सहसा निकल लाज-चितवन के
भाव सुमन आए।
पूत, अलि, ऋतुपति के आए।

इन गीतों में गीतियों से केवल एक ही विशेषता होती है कि ये गीतियों की अपेक्षा अधिक गेय होते हैं और इसी कारण इनमें लय और संगीत पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है।

छंद

छंदों की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य में तीन महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मिलते हैं। पहला परिवर्तन तो रीतिकाल तथा उन्नीसवीं शताब्दी के व्रजभाषा-कवियों के कुछ विशेष छंदों—दोहा, कवित्त, सवैया—के प्रति अनुचित पक्षपात और शेष अन्य अनेक छंदों के प्रति उदासीनता के विरुद्ध केवल असंतोष की एक लहर थी जिसके फल-स्वरूप आधुनिक कविता में विविध प्रकार के अगणित छंदों का प्रयोग किया गया। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और सत्यनारायण कविरत्न ने नंददास की 'रासपंचाध्यायी' के रोला छंद का पुनः प्रयोग किया और कविरत्न ने नंददास के 'भ्रमरगीत' के प्रयुक्त छंद का प्रयोग अपने 'भ्रमरगीत' में किया। अन्य विविध मात्रिक छंद—गीतिका, हरिगीतिका, बरवै, सोरठा, छप्पय, ताटंक, सार, राधिका, चौपाई, चौपई और रूपमाला आदि का प्रयोग बढ़ने लगा। वर्णिक छंदों का भी प्रयोग खूब बढ़ा। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने तो 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य केवल वर्णिक छंदों में ही लिखा। द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, इंद्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, त्रोटक और स्रग्धरा इत्यादि सभी वर्णिक छंद प्रयुक्त हुए। मैथिलीशरण गुप्त ने 'पत्रावली' और 'शकुंतला' में, तथा कन्हैयालाल पोद्दार, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचरित उपाध्याय और अन्य अनेक कवियों ने अपनी स्फुट कविताओं में वर्णिक छंदों का प्रयोग किया। वर्णिक वृत्तों के अंत्यानुप्रास के संबंध में दो भिन्न मत थे। मैथिलीशरण गुप्त वर्णिक वृत्तों में भी अंत्यानुप्रास रखते थे, परंतु अयोध्यासिंह उपाध्याय वर्णिक छंदों में अंत्यानुप्रास आवश्यक नहीं समझते

थे, क्योंकि संस्कृत कविता में वर्णिक वृत्त अतुकांत होते हैं। मुक्तक वृत्त में कवित्त और उसके सभी भेदों का प्रयोग किया गया। नाथूराम 'शंकर' और गोपालशरण सिंह ने खड़ी बोली में सुंदर कवित्त रचे और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने व्रजभाषा में सुंदर कवित्तों की रचना की।

हिन्दी और संस्कृत वृत्तों के अतिरिक्त उर्दू-बह्रों का भी प्रयोग हुआ। पहले पहल घनानंद ने उर्दू बह्रों में हिन्दी कविता लिखी थी। हरिश्चंद्र और प्रतापनारायण मिश्र ने भी उर्दू बह्रों में कुछ कविता की, परंतु लाला भगवान दीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय और गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल' ने उर्दू बह्रों का अधिक प्रयोग किया। 'वीर-पंचरत्न' में लाला भगवानदीन ने उर्दू बह्रों का सफल प्रयोग किया। उनकी भाषा भी उर्दू-मिश्रित थी इससे उनका उर्दू छंदों का प्रयोग समुचित ही हुआ, जैसे :

> यह कह के तमक ताव से नाले को सँभाला,
> भुज-दण्ड के बल तौल किया वार निराला,
> बस छोड़ दिया मान पै इक सोंप सा काला,
> डस पाता तो बस उम्र का भर जाता पियाला। इत्यादि

इसी प्रकार अयोध्यासिंह उपाध्याय के चौपदे और छपदे उर्दू बह्र में लिखे गए। उदाहरण के लिए :

> उमंगों भरा दिल किसी का न टूटे,
> पलट जाय पासे मगर जुग न फूटे,
> कभी संग निज संगियों का न छूटे,
> हमारा चलन घर हमारा न लूटे,
> सगों से सगे कर न बैठें किनारा,
> फटे दिल मगर घर न फूटे हमारा।

इनके अतिरिक्त अनेक कवियों ने उर्दू पद्य-शैली में भी छंद-रचना की।

निकट निरीक्षण से पता चलता है कि संस्कृत वर्णिक वृत्तों के लिए भाषा भी संस्कृत गर्भित, तत्सम शब्द तथा समास और संधियों से संपूर्ण चाहिए। इसीलिए अयोध्यासिंह उपाध्याय ने, जो इस प्रकार संस्कृत-गर्भित भाषा अच्छी तरह लिख सकते थे, संस्कृत वृत्तों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया जैसे :

> रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
> तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला-पुत्तली॥

शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थी॥

परंतु सत्यशरण रतूड़ी, मैथिलीशरण गुप्त और अन्य अनेक कवि जिन्होंने तद्भव शब्दों से पूर्ण सरल साधारण समासरहित भाषा में वर्णिक वृत्तों का प्रयोग किया, पूर्णतः असफल रहे। उदाहरण के लिए सत्यशरण रतूड़ी का एक वर्णिक वृत्त 'प्रभात-प्रभा' कविता से लीजिए :

आते हैं दिननाथ व्योम पथ में प्राची दिशा से अहो!
लाते हैं सुख सम्पदा जगत की सौभाग्य शान्तिस्पृहा।
आनंद-प्रिय-मित्र के उदय से पाते सभी जीव हैं,
पूजा में रत है समस्त जगत-प्रोत्साह आह्लाद से।

[सरस्वती, सितम्बर १९०५]

इस पद्य में 'आनद-प्रिय-मित्र' को एक शब्द मानकर उच्चारण करना पड़ता है नहीं तो 'द' लघु हो जाता है और छंद की गति में अंतर आ जाने से वृत्त अशुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार 'जगत-प्रोत्साह' का भी एक शब्द की भाँति उच्चारण करना पड़ता है जब कि वे हिन्दी उच्चारण के अनुसार दो पृथक् शब्द हैं।

इसी प्रकार उर्दू बह्र मुहावरेदार उर्दू-मिश्रित साधारण बोलचाल की भाषा में ही अच्छी तरह ढल सकते हैं। उर्दू बह्रों का आधार केवल उनकी 'लय' अथवा 'तर्ज' है, उनमें मात्राओं की संख्या, अथवा वर्णों का दीर्घ-लघु-क्रम कुछ भी नहीं होता। परंतु हिन्दी का छंद मात्राओं के आधार पर चलता है। उर्दू बह्र में शब्दों की मात्राएँ, छंद के लय के कारण भिन्न होती रहती हैं और इसी कारण उनके उच्चारण में अंतर पड़ता है, जैसे :

औ, मैंने जब तुझे चाहा, तो दिल का खोल के ताला,
पै, तू ने जब बना डाला, औ, मिटयामेट कर डाला।

इस पद्य में 'औ' में दो मात्राएँ हैं, परंतु बह्र की 'लय' की रक्षा के लिए इसमें केवल एक मात्रा-काल लगना चाहिए और इसलिए इसका उच्चारण 'अ' की भाँति होना चाहिए। उसी प्रकार 'तो' और 'पै' जिनमें प्रत्येक में दो दो मात्राएँ हैं, 'त' और 'प' की भाँति उच्चरित रहते हैं। संस्कृत और हिन्दी में छंदों का आधार मात्रा है जिसके कारण प्रत्येक शब्द का उच्चारण

और उसके उच्चारण करने का समय निश्चित है, परंतु उर्दू बह्रों की लय की रक्षा करने के लिए उस निश्चित उच्चारण और समय में फेरफार करना पड़ता है, इसी कारण संस्कृत तत्सम शब्द उर्दू बह्रों में सफलतापूर्वक प्रयुक्त नहीं हो सकते।

केवल हिन्दी के मात्रिक छंद, कवित्त और सवैया ही सरल और शुद्ध साहित्यिक भाषा में अच्छी तरह लिखे जा सकते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की हरिगीतिका और गोपालशरण सिंह के कवित्त इस बात के साक्षी हैं।

उर्दू बह्रों के अतिरिक्त हिन्दी में बँगला का 'पयार' और अँगरेजी का 'सॉनेट' भी प्रयुक्त हुआ; परंतु इनका प्रचार बहुत ही कम हुआ। केवल बहुत ही थोड़े कवियों ने कहीं कहीं इनमें केवल प्रयोग के रूप में रचना की। 'पयार' हिन्दी के मुक्तक छंदों के बहुत निकट है इसलिए इसका प्रयोग हिन्दी में सरलतापूर्वक हुआ, परंतु 'सॉनेट' की केवल चौदह पंक्ति-संख्या और कहीं कहीं उसका केवल अंत्यानुप्रास-क्रम ही लिया गया। कभी कभी तो चौदह पंक्तियों के साधारण छंद को ही चतुर्दशपदी कहा गया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने एक चतुर्दशपदी लिखी जिसकी प्रथम बारह पंक्तियाँ रोला छंद की थीं और उनका अंत्यानुप्रास-क्रम भी हिन्दी के रोला जैसा ही था, केवल अंतिम दो चरण २८ मात्रा के थे और इनका अंत्यानुप्रास आपस में मिलता था।

इतने प्रकार के विविध छंदों का प्रयोग हिन्दी में किसी विशेष उद्देश्य से नहीं हुआ, केवल विविध प्रकार के छंद लिखने के लिए ही वे लिखे गए। किसी नए छंद की सृष्टि नहीं हुई और न प्रतिष्ठित नियमों में कोई विशेष परिवर्तन ही हुआ। परंतु क्रमशः जब हिन्दी में मुक्तक-काव्य के अतिरिक्त प्रबंध-काव्य और गीति-काव्य भी लिखे जाने लगे तब एक नई बात यह ज्ञात हुई कि हिन्दी में पद्यबद्ध-काव्य (Stanaza-Poetry) के लिए तो असंख्य छंद हैं, परंतु प्रबंध-काव्य की अबाध गति और गीति काव्य के संगीत के लिए छंदों का एकांत अभाव है। गीति के लिए हिन्दी में केवल पद था और वह भी उतना उपयुक्त नहीं था जितनी कि उर्दू की ग़ज़ल और लोक-गीत की लावनी। पहले तो हिन्दी कवियों ने गीति के लिए गजल और लावनी का ही प्रयोग किया, परंतु फिर उन्हें ज्ञात हुआ कि गीति के लिए छंदों में मात्राओं अथवा वर्णों की संख्या और उनका दीर्घ-लघु-क्रम उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि अंत्यानुप्रास-क्रम। यदि गज़ल और लावनी के अंत्यानुप्रास-क्रम का हिन्दी के किसी छंद में

आरोप किया जाय तो गीति काव्य के उपयुक्त नाद और संगीत की सृष्टि हो सकती है। इसी विचार के आधार पर 'शंकर' ने कितने ही नए छंदों की सृष्टि की जिनमें प्रत्येक चरण तो हिन्दी के मात्रिक अथवा वर्णिक छंदों के होते, परन्तु उनका अंत्यानुप्रास क्रम गजल अथवा लावनी का होता। अस्तु उन्होंने कलाधरात्मक राजगीत नामक छंद की सृष्टि की जिसका प्रत्येक चरण १६ मात्रा का कलाधर छंद होता था, परन्तु उसका अंत्यानुप्रास-क्रम गजल का (अ अ, ब अ, स अ, द अ इत्यादि) होता। इसी प्रकार शुद्धगात्मक राजगीत, भुजंगात्मक राजगीत, कनिकात्मक राजगीत, सुमनात्मक राजगीत इत्यादि नए छंद बने। इसी प्रकार हिन्दी छंदों के चरण और लावनी का अंत्यानुप्रास-क्रम (अ अ, अ अ, ब ब) लेकर 'शंकर' ने मायात्मक लावनी बनाई। मैथिलीशरण गुप्त ने 'स्वर्ण संगीत', 'स्वर्ग सहोदर' इत्यादि गीतियों में हिन्दी के भिन्न-भिन्न वर्णिक और मात्रिक छंदों में लावनी के अंत्यानुप्रास-क्रम का आरोप किया। लक्ष्मणसिंह 'मयंक' ने अपने 'गेय गीतों' में इसी क्रम का पालन करके नए छंद लिखे, जैसे

भरत भारत को अपनाइये। (टेक)
सफलता ध्रुव धैर्य जहाँ, वहीं,
विफल यत्न न हो सकते कहीं,
त्रिदिव नंदनकानन है यहीं,
मरण जीवन के रण में नहीं।
पतन से डरिये न डराइये,
भरत ! भारत को अपनाइये।

नाथूराम 'शंकर' ने दो छंदों के मिश्रण से भी कुछ नए छंद बनाए। उन्होंने अन्य छंदों के चार चरणों के साथ मिलिन्दपाद के दो चरण मिलाकर और उनका अंत्यानुप्रास-क्रम लावनी (अ अ अ अ ब ब) का सा रखकर अनेक नए छंद बनाए। उदाहरण के लिए उनका त्रोटकात्मक मिलिन्दपाद देखिए :

बस भारत का रस भंग हुआ। (टेक)
अघ-दोप वसंत निदाघ बने,
खग भृंग दुकाल विहंग बने,
पुर पत्तन कानन फूल रहे,
परिवार फली फल भूल रहे,

कलि-शासन मत्त मतंग हुआ,
बस भारत का रस-भंग हुआ।

इसमें प्रथम चार चरण त्रोटक (४ सगण) के हैं और अन्तिम दो मिलिन्दपाद के और अंत्यानुप्रास-क्रम लावनी का सा (अ अ, ब ब, स स स टेक) है। इसी प्रकार उन्होंने भुजगप्रयतात्मक मिलिन्दपाद कलाधरात्मक मिलिन्दपाद, त्रिविरात्मक मिलिन्दपाद इत्यादि अनेक छंद बनाए। कुछ नए छंद उन्होंने लोग-गीत से भी लिए, जैसे कजली। माधव शुक्ल और श्रीधर पाठक ने लोक-गीत और ग्राम्य गीत के कितने ही छंदों का प्रयोग अपनी कविता में किया।

प्रबंध-काव्य के लिए भी छंदों में परिवर्तन की आवश्यकता हुई। संस्कृत वृत्तों में अंत्यानुप्रास नहीं होता था, परंतु हिन्दी में काव्य के लिए अंत्यानुप्रास एक अत्यावश्यक अंग माना गया था। प्रबंध-काव्य में अंत्यानुप्रास केवल एक बाधा और बंधन स्वरूप है, क्योंकि इसमें प्रवाह और गति ही काव्य का मुख्य अंग है और अंत्यानुप्रास इस प्रवाह में पत्थर के टुकड़ों की भाँति बाधक है। उदाहरण के लिए 'जयद्रथ-वध' का एक छंद लीजिए :

कर पुण्य दर्शन भक्तयुत भगवान का निज गेह में।
कृतकृत्यता मानी गिरिश ने मग्न हो सुस्नेह में॥
फिर नम्रता से आगमन का हेतु जब पूछा अहा!
हरि ने कथा कह पार्थ-प्रण की पाशुपत के हित कहा॥

यहाँ 'अहा' शब्द बिल्कुल व्यर्थ है और पद्य का अर्थ भी इससे नष्ट होता है, परंतु फिर भी अंत्यानुप्रास के लिए यह अत्यंत आवश्यक है। कभी-कभी तो तुक के लिए शब्द विकृत भी किए जाते हैं और फिर शब्दों पर इतना अत्याचार करने पर भी प्रबंध-काव्य में तुक से कोई सौन्दर्य नहीं बढ़ता, प्रवाह घटता ही है। अतएव प्रबंध-काव्यों में अंत्यानुप्रास की कोई आवश्यकता नहीं, फिर भी परंपरा की अवहेलना करना कठिन होता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' के लिए वर्णिक छंद चुने और संस्कृत परंपरा के अनुसार अंत्यानुप्रास नहीं रखा, परंतु अपने छोटे-छोटे प्रबंध काव्यों में, जहाँ उन्होंने मात्रिक छंद लिखे, अंत्यानुप्रासों का सम्मान किया। जयशंकर प्रसाद ने ही पहले पहल 'प्रेम-पथिक' में अतुकांत मात्रिक छंद लिखकर काव्य-परंपरा की अवहेलना की। उनके पश्चात् रूपनारायण पांडेय, सियारामशरण

आरोप किया जाय तो गीति-काव्य के उपयुक्त लय और संगीत की सृष्टि हो सकती है। इसी विचार के आधार पर 'शंकर' ने कितने ही नए छंदों की सृष्टि की जिनमें प्रत्येक चरण तो हिन्दी के मात्रिक अथवा वर्णिक छंदों के होते, परन्तु उनका अंत्यानुप्रास क्रम गजल अथवा लावनी का होता। अस्तु उन्होंने कलाधरात्मक राजगीत नामक छंद की सृष्टि की जिसका प्रत्येक चरण १६ मात्रा का कलाधर छंद होता था, परन्तु उसका अन्त्यानुप्रास-क्रम गजल का (अ अ, ब अ, स अ, द अ इत्यादि) होता। इसी प्रकार शुद्धगा-त्मक राजगीत, भुजंगात्मक राजगीत, कविरात्मक राजगीत, सुमनात्मक राज-गीत इत्यादि नए छंद बने। इसी प्रकार हिन्दी छंदों के चरण और लावनी का अंत्यानुप्रास-क्रम (अ अ, अ अ, ब ब) लेकर 'शंकर' ने मायात्मक लावनी बनाई। मैथिलीशरण गुप्त ने 'स्वर्ण संगीत', 'स्वर्ग सहोदर' इत्यादि गीतियों में हिन्दी के भिन्न-भिन्न वर्णिक और मात्रिक छंदों में लावनी के अंत्यानुप्रास-क्रम का आरोप किया। लक्ष्मणसिंह 'मयंक' ने अपने 'गेय गीतों' में इसी क्रम का पालन करके नए छंद लिखे, जैसे :

भरत भारत को अपनाइये! (टेक)
सफलता युत धैर्य जहाँ, वहीं,
विफल यत्न न हो सकते कहीं,
त्रिदिव नंदनकानन है यहीं,
मरण जीवन के रण में नहीं।
पतन से डरिये न डराइये,
भरत! भारत को अपनाइये।

नाथूराम 'शंकर' ने दो छंदों के मिश्रण से भी कुछ नए छंद बनाए। उन्होंने अन्य छंदों के चार चरणों के साथ मिलिन्दपाद के दो चरण मिलाकर और उनका अंत्यानुप्रास-क्रम लावनी (अ अ अ अ ब ब) का सा रखकर अनेक नए छंद बनाए। उदाहरण के लिए उनका त्रोटकात्मक मिलिन्दपाद देखिए :

बस भारत का रस भंग हुआ। (टेक)
अघ-दोष वसंत निदाघ बने,
रुज भृंग दुकाल विहंग बने,
पुर पत्तन कानन फूल रहे,
परिवार फली फल झूल रहे,

कलि-शासन मत्त मतंग हुआ,
बस भारत का रस-भंग हुआ।

इसमें प्रथम चार चरण त्रोटक (४ सगण) के हैं और अंतिम दो मिलिन्दपाद के और अंत्यानुप्रास-क्रम लावनी का सा (अ अ ब ब, स स स टेक) है। इसी प्रकार उन्होंने भुजंगप्रयतात्मक मिलिन्दपाद कलाधरात्मक मिलिन्दपाद, त्रिविरात्मक मिलिन्दपाद इत्यादि अनेक छंद बनाए। कुछ नए छंद उन्होंने लोग-गीत से भी लिए, जैसे कजली। माधव शुक्र और श्रीधर पाठक ने लोक-गीत और ग्राम्य गीत के कितने ही छंदों का प्रयोग अपनी कविता में किया।

प्रबंध-काव्य के लिए भी छंदों में परिवर्तन की आवश्यकता हुई। संस्कृत वृत्तों में अंत्यानुप्रास नहीं होता था, परंतु हिन्दी में काव्य के लिए अंत्यानुप्रास एक अत्यावश्यक अंग माना गया था। प्रबंध-काव्य में अंत्यानुप्रास केवल एक बाधा और बंधन स्वरूप है, क्योंकि इसमें प्रवाह और गति ही काव्य का मुख्य अंग है और अंत्यानुप्रास इस प्रवाह में पत्थर के टुकड़ों की भाँति बाधक है। उदाहरण के लिए 'जयद्रथ-बध' का एक छंद लीजिए :

कर पुण्य दर्शन भक्तयुत भगवान का निज गेह में।
कृतकृत्यता मानी गिरिश ने मग्न हो सुस्नेह में॥
फिर नम्रता से आगमन का हेतु जब पूछा अहा!
हरि ने कथा कह पार्थ-प्रण की पाशुपत के हित कहा॥

यहाँ 'अहा' शब्द बिल्कुल व्यर्थ है और पद्य का अर्थ भी इससे नष्ट होता है, परंतु फिर भी अंत्यानुप्रास के लिए यह अत्यंत आवश्यक है। कभी-कभी तो तुक के लिए शब्द विकृत भी किए जाते हैं और फिर शब्दों पर इतना अत्याचार करने पर भी प्रबंध-काव्य में तुक से कोई सौन्दर्य नहीं बढ़ता प्रवाह घटता ही है। अतएव प्रबंध-काव्यों में अंत्यानुप्रास की कोई आवश्यकता नहीं, फिर भी परंपरा की अवहेलना करना कठिन होता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' के लिए वर्णिक छंद चुने और संस्कृत परंपरा के अनुसार अंत्यानुप्रास नहीं रखा, परंतु अपने छोटे-छोटे प्रबंध-काव्यों में, जहाँ उन्होंने मात्रिक छंद लिखे, अंत्यानुप्रासों का सम्मान किया। जयशंकर प्रसाद ने ही पहले पहल 'प्रेम-पथिक' में अतुकांत मात्रिक छंद लिखकर काव्य-परंपरा की अवहेलना की। उनके पश्चात् रूपनारायण पांडेय, सियारामशरण

आरोप किया जाय तो गीति-काव्य के उपयुक्त लय और संगीत की सृष्टि हो सकती है। इसी विचार के आधार पर 'शंकर' ने कितने ही नए छंदों की सृष्टि की जिनमें प्रत्येक चरण तो हिन्दी के मात्रिक अथवा वर्णिक छंदों के होते, परन्तु उनका अंत्यानुप्रास क्रम गजल अथवा लावनी का होता। अस्तु उन्होंने कलाधरात्मक राजगीत नामक छंद की सृष्टि की जिसका प्रत्येक चरण १६ मात्रा का कलाधर छंद होता था, परन्तु उसका अंत्यानुप्रास-क्रम गजल का (अ अ, ब अ, स अ, द अ इत्यादि) होता। इसी प्रकार शुद्धगात्मक राजगीत, भुजंगात्मक राजगीत, कनिकात्मक राजगीत, सुमनात्मक राजगीत इत्यादि नए छंद बने। इसी प्रकार हिन्दी छंदों के चरण और लावनी का अंत्यानुप्रास-क्रम (अ अ, अ अ, ब ब) लेकर 'शंकर' ने मायात्मक लावनी बनाई। मैथिलीशरण गुप्त ने 'स्वर्ण संगीत', 'स्वर्ग सहोदर' इत्यादि गीतियों में हिन्दी के भिन्न-भिन्न वर्णिक और मात्रिक छंदों में लावनी के अंत्यानुप्रास-क्रम का आरोप किया। लक्ष्मणसिंह 'मयंक' ने अपने 'गेय गीतों' में इसी क्रम का पालन करके नए छंद लिखे, जैसे

भरत भारत को अपनाइये। (टेक)
सफलता तुव धैर्य जहाँ, वहीं,
विफल यत्न न हो सकते कहीं,
त्रिदिव नंदनकानन है यहीं,
मरण जीवन के रण में नहीं।
पतन से डरिये न डराइये,
भरत ! भारत को अपनाइये।

नाथूराम 'शंकर' ने दो छंदों के मिश्रण से भी कुछ नए छंद बनाए। उन्होंने अन्य छंदों के चार चरणों के साथ मिलिन्दपाद के दो चरण मिलाकर और उनका अंत्यानुप्रास-क्रम लावनी (अ अ अ अ ब ब) का सा रखकर अनेक नए छंद बनाए। उदाहरण के लिए उनका त्रोटकात्मक मिलिन्दपाद देखिए:

बस भारत का रस भंग हुआ। (टेक)
अघ दोष वसंत निदाघ बने,
रुज भृंग दुकाल विहंग बने,
पुर पत्तन कानन फूल रहे,
परिवार फली फल झूल रहे,

कलि-शासन मत्त मतंग हुआ,
बस भारत का रस-भंग हुआ।

इसमें प्रथम चार चरण त्रोटक (४ सगण) के हैं और अन्तिम दो मिलिन्दपाद के और अंत्यानुप्रास-क्रम लावनी का सा (अ अ. ब ब, स स स टेक) है। इसी प्रकार उन्होंने भुजगप्रयतात्मक मिलिन्दपाद कलाधरात्मक मिलिन्दपाद, त्रिविरात्मक मिलिन्दपाद इत्यादि अनेक छंद बनाए। कुछ नए छंद उन्होंने लोग-गीत से भी लिए, जैसे कजली। माधव शुक्ल और श्रीधर पाठक ने लोक-गीत और ग्राम्य गीत के कितने ही छंदों का प्रयोग अपनी कविता में किया।

प्रबंध-काव्य के लिए भी छंदों में परिवर्तन की आवश्यकता हुई। संस्कृत वृत्तों में अंत्यानुप्रास नहीं होता था, परंतु हिन्दी में काव्य के लिए अंत्यानुप्रास एक अत्यावश्यक अंग माना गया था। प्रबंध-काव्य में अंत्यानुप्रास केवल एक बाधा और बंधन स्वरूप है, क्योंकि इसमें प्रवाह और गति ही काव्य का मुख्य अंग है और अंत्यानुप्रास इस प्रवाह में पत्थर के टुकड़ों की भाँति बाधक है। उदाहरण के लिए 'जयद्रथ-वध' का एक छंद लीजिए :

कर पुण्य दर्शन भक्तयुत भगवान का निज गेह में।
कृतकृत्यता मानी गिरिश ने मग्न हो सुस्नेह मे॥
फिर नम्रता से आगमन का हेतु जब पूछा अहा!
हरि ने कथा कह पार्थ-प्रण की पाशुपत के हित कहा॥

यहाँ 'अहा' शब्द बिल्कुल व्यर्थ है और पद्य का अर्थ भी इससे नष्ट होता है, परंतु फिर भी अंत्यानुप्रास के लिए वह अत्यंत आवश्यक है। कभी-कभी तो तुक के लिए शब्द विकृत भी किए जाते हैं और फिर शब्दों पर इतना अत्याचार करने पर भी प्रबंध-काव्य में तुक से कोई सौन्दर्य नहीं बढ़ता, प्रवाह घटता ही है। अतएव प्रबंध-काव्यों में अंत्यानुप्रास की कोई आवश्यकता नहीं, फिर भी परंपरा की अवहेलना करना कठिन होता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' के लिए वर्णिक छंद चुने और संस्कृत परंपरा के अनुसार अंत्यानुप्रास नहीं रखा, परंतु अपने छोटे-छोटे प्रबंध-काव्यों में, जहाँ उन्होंने मात्रिक छंद लिखे, अंत्यानुप्रासों का सम्मान किया। जयशंकर प्रसाद ने ही पहले पहल 'प्रेम-पथिक' में अतुकांत मात्रिक छंद लिखकर काव्य-परंपरा की अवहेलना की। उनके पश्चात् रूपनारायण पांडेय, सियारामशरण

गुप्त और सुमित्रानंदन पंत ने प्रबंध काव्य में अतुकांत मात्रिक छंदों का प्रयोग किया।

अतुकांत मात्रिक छंदों के अतिरिक्त बंगला पयार के अनुकरण में हिन्दी के मुक्तक छंद कवित्त के आधार पर कुछ अतुकांत मुक्तक छंदों का आविष्कार किया गया जो प्रबंध-काव्यों के लिए अत्यंत उपयुक्त प्रमाणित हुए। आभार पाठक के 'साध्य अटन' कविता का छंद इस ढंग का प्रथम छंद है। रवीन्द्र-नाथ ठाकुर के गीतों के अनुवाद में गिरिधर शर्मा ने एक ऐसा प्रकार का नया छंद बनाया, परंतु सबसे सुंदर, प्रवाहपूर्ण और उपयुक्त छंद 'मधुप' (मैथिलीशरण गुप्त ने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-बध' और 'वीरांगना' काव्य के अनुवाद में प्रस्तुत किया। इस छंद के प्रत्येक चरण में १५ वर्ण होते हैं जिनमें दीर्घ और लघु वर्णों का कोई क्रम निश्चित नहीं। परंतु साधारणतः प्रत्येक चरण में ६ से ९ तक दीर्घ अथवा लघु वर्ण होते हैं। कभी कभी किसी किसी चरण में १० दीर्घ अथवा लघु वर्ण होते मिल जाते हैं, परंतु ऐसा बहुत कम होता है।

छायावादी कवियों ने छंदों में तीसरा परिवर्तन उपस्थित किया। स्वच्छंद वाद के द्वितीय उत्थान-काल में जब सचेतन कला की विजय हुई तब संगीत और चित्र-कल्पना के साथ भावों के बाह्य आवरण—छंदों—में भी परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने किए। सुमित्रानंदन पंत ने अपनी 'उच्छ्वास,' 'आँसू' और 'परिवर्तन' नामक कविताओं में पदों की मात्राओं में स्वच्छंदतापूर्वक परिवर्तन किए। कभी कभी तो प्रति एक या दो चरणों के पश्चात् मात्राओं में परिवर्तन मिलता है, जैसे :

हाय ! मेरा जीवन,	(११ मात्रा)
प्रेम औ आँसू के कन !	(१३ ,,)
आह, मेरा अक्षय-धन,	(१३ ,,)
अपरिमित सुंदरता औ मनन !	(१९ ,,)
—एक वीणा की मृदु-झंकार !	(१६ ,,)
कहाँ है सुंदरता का पार !	(१६ ,,)
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमार !	(१६ ,,)
दिखाऊँ मैं साकार ?	(१२ ,,)

यहाँ एक ही छंद में पहला चरण ११ मात्रा का, दूसरे और तीसरे १३ मात्रा

के, चौथा १५ मात्रा का, पाँचवें, छठे, और सातवें १६ मात्रा के और अंतिम चरण केवल १२ मात्रा का है। यहाँ एक ही पद्य में पाँच भिन्न प्रकार के छन्द मिलते हैं, और कहीं कहीं पद्य पर पद्य एक ही छन्द में चले जाते हैं। कभी कभी चार चरण के पद्य में एक चरण अन्य तीन चरणों मे भिन्न कर दिया गया है, जैसे :

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को, (१९ मात्रा)
थाम ले अब हृदय ! इस आह्वान को ! (१९ ")
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं (२१ ")
प्रेयसी के शून्य, पावस-स्थान को। (१९ ")

इसमे पहले, दूसरे और चौथे चरण १९ मात्रा क पीयूषवर्षी हैं, केवल तीसरा चरण २१ मात्रा का है। दो भिन्न छन्दों को मिलाकर एक छन्द बनाने का प्रयत्न तो पहले भी हो चुका है, परतु वहाँ चरणों की मात्रा में अतर और परिवर्तन किसी नियम के आधार पर चलते हैं, केवल कवि की इच्छा पर नहीं, परतु यहाँ कोई निश्चित नियम नहीं है। इसी कारण इसे कवि ने 'स्वच्छन्द-छन्द' नाम दिया है। यह निराला के मुक्त छन्द से भिन्न है।

इस प्रकार के परिवर्तन मनमाने ढग से नही किए गए हैं, वरन् इसके पीछे काव्य-साहित्य का एक गूढ़ सिद्धात छिपा है। सस्कृत आचार्यो ने कई सौ वर्ष पहले ही इसका पता लगा लिया था कि कुछ विशेष रसों की व्यजना के लिए कुछ विशेष छन्द बहुत उपयुक्त होते हैं। करुण रस के लिए मालिनी छन्द बहुत ही उपयुक्त होता है। हिन्दी का छप्पय वीर रस के लिए और सवैया शृगार रस के लिए ठीक बैठता है। प्राचीन समय मे जब रस स्थायी भाव, आलबन विभाव, उद्दीपन विभाव अनुभाव और सचारी भावों के सम्मिश्रण से प्रस्तुत होता था तब वह कुछ देर तक स्थायी बना रहता था और इसी कारण एक उपयुक्त छद का प्रयोग सभव हो पाता था, परंतु अब कवि के भाव इतने मिश्रित हो गए हैं कि उनमें कितने ही विरोधी रसो के भाव एक ही में गुथे रहते हैं। कभी कभी कवि के भाव में अद्भुत शृगार और करुण तीनो का सम्मिश्रण रहता है और इसलिए उस भाव की उपयुक्त कलापूर्ण व्यजना के लिए तीन भिन्न छदों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए कवि ने भावों और रसों को उपयुक्त छद में प्रकट करने के लिए स्वच्छन्द छन्द का आविष्कार किया जिसके फल-स्वरूप रस और

भाव के परिवर्तन के साथ छंद भी परिवर्तित होने लगा। कभी कभी तो भाव और रस इतनी शीघ्रता से बदलते हैं कि प्रत्येक चरण अथवा दूसरे तीसरे चरण के पश्चात् छंद बदलना पड़ता है और कभी कभी अनेक पद्यों तक बदलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। भावों की गंभीरता और एक ही भाव के अंतर्गत अन्य विविध भावावेगों के समय, अनुपात और संबंध से ही यह निश्चित किया जा सकता है कि कब और किस प्रकार छंदों की माला में परिवर्तन किया जाय। पंत का स्वच्छंद छंद ही वास्तव में आधुनिक कविता के मिश्र भावों को उपयुक्त और कलापूर्ण छंदों में व्यंजित करने का एक मात्र साधन था।

स्वच्छंद-छंद में कहीं कहीं किसी चरण को अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली बनाने के लिए छोटा अथवा बड़ा कर दिया जाता है, जैसे :

> आह बचपन का कोमल गात,
> जरा का पीला पात,
> चार दिन सुखद चाँदनी रात,
> और फिर अन्धकार अज्ञात।

इस पद्य में दूसरे चरण में चार मात्रा कम है और इस आकस्मिक तोड़ के कारण उस चरण में अधिक प्रभावशालिता (Emphasis) आ गई है। कहीं कहीं जिह्वा को विश्राम देने के लिए ही कोई चरण छोटा बना दिया जाता है। यह साधारणत. दो भिन्न छंदों को मिलाने के लिए बीच में रख दिया जाता है, जैसे :

> रँगीले, गीले फूलों से
> अधखिल-भावों से प्रमुदित
> बाल्य-सरिता के कूलों से
> खेलती थी तरंग सी नित।
> —इसी में था असीम अवसित!
>
> मधुरिमा के मधुमास!
> मेरा मधुकर का सा जीवन,
> कठिन कर्म है कोमल है मन!

यहाँ १५ मात्रा और १६ मात्रा के दो छंदों के बीच में १२ मात्रा का एक

छोटा सा चरण 'मधुरिमा के मधुमास' रख देने से एक छद से दूसरे छद में बदलने के पहले जिह्वा को थोड़ा सा विश्राम मिल जाता है। कभी कभी छद की एकस्वरता (Monotony) मिटाने के लिए भी किसी चरण को छोटा बड़ा कर दिया जाता है।

पत ने अपनी सूक्ष्म कलात्मकता और भावों की उपयुक्तता के अनुरोध से चरणों की मात्रा में विविध परिवर्तन किए, परतु उनके इस स्वछद-छद में साधारण कवियों को 'निरकुशाः कवयः' का अधिकार मिल गया और वे कला और भाव की उपयुक्तता का अनुरोध ताक में रख मनमाने ढंग से चरणों की मात्राएँ घटाने बढ़ाने लगे। अधिकाश कवियों में कला की भावना थी ही नहीं; भाव और रस की निष्पत्ति भी वे उपयुक्त छंद में नहीं करना चाहते थे; उनका उद्देश्य तो छदों के अकुश से स्वतत्र होकर काव्य-प्रलाप करना मात्र था। ऐसे ही कवियों के स्वछद छद को समालोचकों ने 'रबड़-छद', 'केंचुआ छद' 'कगारू छद' नाम देकर इसे हास्यास्पद बना दिया।

'निराला' ने सबसे पहले मुक्त-छद (Free-Verse) का हिन्दी में प्रयोग किया। उनके 'अधिवास' से एक छद लीजिए :

> **कहो ?—**
> **मेरा अधिवास कहाँ ?**
> **क्या कहा—रुकती है गति जहाँ।** इत्यादि

कवि ने मुक्त-छन्द के रूप में प्रतिष्ठित नियमों के विरुद्ध विद्रोह किया और अपने भावों की स्वतन्त्र व्यजना करने के लिए अत्यधिक स्वतंत्रता का उपयोग किया। हृदय में जब काव्य की भावना जाग्रत् हो उठती है तब जितने विचार अथवा भाव उठते हैं उनमें एक प्रकार की स्वाभाविक लय (Rhythm) होती है जो छन्द की लय से भिन्न है। इन भावों की छन्द में व्यजना करने के लिए कवि भाव-लय को छन्द-लय के भीतर लाने के लिए उसे विकृत कर देता है। उदाहरण के लिए पत का एक छन्द लीजिए :

> और भोले प्रेम! तुम क्या हो बने
> वेदना के विकल हाथों से? जहाँ
> झूमते, गज से विचरते हो, वहीं,
> आह है, उन्माद है, उत्ताप है।

इसके विविध भाव-लय इस प्रकार

> और भीगे हम!
> तुम क्या हो पाते वेदना के विकल हाथों में,
> घूमते गगन में विचरते हो जहाँ,
> नहीं,
> आह है उन्माद है, उत्ताप है।

इन पाँच भाव-लयों को छन्द के आवरण में लाने के लिए कवि को कहीं एक भाव-लय के कई टुकड़े करने पड़े हैं और कहीं दो तीन भाव-लय एक ही चरण में भर दिए गए हैं। साधारण उपमा की भाषा में कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि एक ही नाप के कोट में कहीं कहीं तो दो तीन आदमी एक ही कोट के अन्दर ठूँस दिए जाते हैं और कहीं कहीं एक कोट किसी मोटे आदमी का आधा अंग भी नहीं ढँक पाता। 'निराला' को अपने भाव-लय बहुत प्यारे हैं, इसी कारण उन्होंने छन्दों को भाव-लय के अनुरूप काट छाँट करने का सोचा और भाव-लयों के अनुरूप मुक्त-छन्द की योजना की।

'निराला' के अनुकरण में कितने ही लोगों ने इस मुक्त-छन्द का सफल प्रयोग किया। सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल महतो, रामनाथ 'सुमन', शांतिप्रिय द्विवेदी और 'गुलाब' ने अनेक सफल रचनाएँ मुक्त छन्द में कीं।

काव्य की भाषा

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही कविता की भाषा व्रजभाषा से खड़ी बोली हो गई थी। खड़ी बोली अब तक केवल साधारण बोलचाल की भाषा थी और यद्यपि वह उन्नीसवीं शताब्दी में ही गद्य की भाषा हो गई थी, परन्तु फिर भी उसमें शब्दों का बहुत अभाव था, क्योंकि गद्य में भी साहित्यिक गद्य बहुत ही कम लिखा गया था। स्वयं व्रजभाषा का भी शब्द-भंडार बहुत ही सीमित था और जो कुछ था भी वह उन कवियों की कमाई थी जिन्होंने जन्मभर लौकिक शृंगार का ही व्यवसाय किया था। परंतु जब बीसवीं शताब्दी में काव्य के विषय और उपादान, रूप और शैली में अभूतपूर्व उन्नति हुई तो भाषा का संकुचित शब्द भंडार बहुत ही तुच्छ जान पड़ा। इसके फल स्वरूप अन्य भाषाओं—संस्कृत और उर्दू—से शब्द लिए गए, अँगरेज़ी शब्दों से रूपांतर किए गए और कभी कभी बोलचाल की भाषा से भी शब्द लिए गए। एक अद्भुत

शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। पिछले कवियों ने इसी भाषा के
ने काव्य-भाषा का निर्माण किया और मैथिलीशरण गुप्त
ण सिंह ने शुद्ध, सरल और साहित्यिक काव्य-भाषा का

आंदोलन के द्वितीय चरण में काव्य-भाषा का आदर्श
ाया और एक समृद्ध भाषा-शैली का विकास होने लगा,
त्सम तथा ध्वनि-व्यंजक शब्दों का प्राधान्य था। यह चमत्कार-
ेकमय विशेषणों तथा चित्रमय और ध्वन्यात्मक शब्दों का
प्रकार के शब्द अधिकांश संस्कृत से लिए गए, अथवा अँगरेज़ी
ारित और उनके आधार पर निर्मित किए गए। अँगरेज़ी
: ही नहीं, कभी कभी तो मुहावरे भी रूपातरित हुए, जैसे, भग्न-
en heart का रूपातर है। 'रेखांकित' शब्द Underlined
है। सुमित्रानंदन पत 'ग्रंथि, में इसका प्रयोग करते हैं:

> बाल रजनी सी अलक थी डोलती,
> भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में,
> अचल रेखाङ्कित कभी थी कर रही.
> प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

ily light और Divine light का अनुवाद 'स्वर्गीय प्रकाश'
ंका प्रयोग करते हैं:

> तुमको पहना जगत देखले—यह स्वर्गीय प्रकाश।
> [पल्लव, पृ०—५]

र

> कान से मिले अजान-नयन,
> सहज था सजा सजीला-तन। [पल्लव, पृ०—५]

न' Innocent का रूपातर है। और भी

> कहाँ आज वह पूर्ण-पुरातन वह सुवर्ण का काल?
> [पल्लव, पृ०—१२५]

र्ण का काल' Golden age का छायानुवाद है। इसी प्रकार 'स्वप्निल

अथवा तू ने तो विमल वंश की लुटिया ही डुबोई।
परताप का भाई बने तुर्कों का मिरोई।
आ कर ले जो करना हो अभी गर्म है लोई। इत्यादि

इन पद्यों में 'करामात', 'जिच', 'मात', 'क़ज़ा' इत्यादि शुद्ध फ़ारसी के शब्दों के साथ ही साथ 'लात', 'कौर', 'लुटिया' और 'लोई' जैसे गाँव के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। साधारण बोलचाल की भाषा और मुहावरे भी इसमें खूब हैं। 'बात की लात' 'लुटिया डुबोना,' 'गर्म लोई', 'जिच खाना' इत्यादि मुहावरे बड़ी खूबी के साथ खपाए गए हैं।

संस्कृत वर्णिक वृत्तों के प्रयोग में कवियों को अधिकांश संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने चौपदों में तो उर्दू और बोलचाल की साधारण भाषा का उपयोग किया, किन्तु 'प्रिय-प्रवास' में संस्कृत-गर्भित, संधि-समास-संयुक्त भाषा का प्रयोग किया। कन्हैयालाल पोद्दार, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचरित उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त ने भी वर्णिक वृत्तों में अधिकांश संस्कृत-गर्भित भाषा लिखी। जैसे, रत्नावली' में मैथिलीशरण गुप्त लिखते हैं :

काले और विशाल बाल बिखरे कल्लोल के कारण
फूलों के सम फेनजाल जिसमें, शोभा किये धारण।
माला और दुकूल भी ललित हैं होके जलान्दोलित,
आपद्-ग्रस्त तथापि मंजुल मुखी, रत्नावली शोभित॥ इत्यादि

इसमें शुद्ध तत्सम वर्णों की अधिकता है। परंतु न तो यह संस्कृतग-र्भित और न 'हरिऔध' तथा भगवानदीन की उर्दू-मिश्रित बोलचाल की भाषा ही काव्य की मर्यादित भाषा हो सकी। काव्य भाषा का माध्यम पहले पहल महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'कुमार-संभव-सार' नामक अनुवाद ग्रंथ में उपस्थित किया था। उदाहरण के लिए एक पद्य लीजिए :

यक्षराज जिसका स्वामी है, उसी दिशा की ओर प्रयाण,
करते हुए देख दिनकर को उल्लंघन कर समय-विधान,
मन में अति दुःखित सी होकर हुआ जान अपना अपमान,
छोड़ा दक्षिण-दिशा-वधू ने मलयानिल निश्वास समान।

इसमें तत्सम और तद्भव वर्णों का प्रयोग हुआ है और उर्दू फ़ारसी के

अधिक प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। पिछले कवियों ने इसी भाषा के आदर्श पर अपनी काव्य-भाषा का निर्माण किया और मैथिलीशरण गुप्त तथा गोपालशरण सिंह ने शुद्ध, सरल और साहित्यिक काव्य-भाषा का प्रयोग किया।

स्वच्छंदवाद आंदोलन के द्वितीय चरण में काव्य-भाषा का आदर्श बिल्कुल बदल गया और एक समृद्ध भाषा-शैली का विकास होने लगा, जिसमें संस्कृत तत्सम तथा ध्वनि-व्यंजक शब्दों का प्राधान्य था। यह चमत्कार-पूर्ण और आलोकमय विशेषणों तथा चित्रमय और ध्वन्यात्मक शब्दों का युग था। इस प्रकार के शब्द अधिकांश संस्कृत से लिए गए, अथवा अँगरेज़ी शब्दों से रूपांतरित और उनके आधार पर निर्मित किए गए। अँगरेज़ी के केवल शब्द ही नहीं, कभी कभी तो मुहावरे भी रूपांतरित हुए, जैसे, भग्न-हृदय Broken heart का रूपांतर है। 'रेखांकित' शब्द Underlined का अनुवाद है। सुमित्रानंदन पंत 'ग्रंथि, में इसका प्रयोग करते हैं:

बाल रजनी सी अलक थी डोलती,
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में,
अचल रेखाङ्कित कभी थी कर रही.
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

Heavenly light और Divine light का अनुवाद 'स्वर्गीय प्रकाश' है। पंत इसका प्रयोग करते हैं:

तुमको पहना जगत देखले —यह स्वर्गीय प्रकाश।
[पल्लव, पृ०—५]

उसी प्रकार

कान से मिले अजान-नयन,
सहज था सजा सजीला-तन। [पल्लव, पृ०—५]

में 'अजान' Innocent का रूपांतर है। और भी

कहाँ आज वह पूर्ण-पुरातन. वह सुवर्ण का काल ?
[पल्लव, पृ०—१२५]

में 'सुवर्ण का काल' Golden age का छायानुवाद है। इसी प्रकार स्वप्निल

मुसकान' Dreamy smile से, सुनहले स्पर्श' Golden touch से और 'रुपहरे' Silvery से बनाए गए हैं। जयशंकर प्रसाद के

चमत्कृत होता है मन में,
विश्व के नीरव निर्जन में।

में 'चमत्कृत' Mystified का अनुवाद जान पड़ता है। मैथिलीशरण गुप्त 'जय बोल' शीर्षक कविता में लिखते हैं :

खुली है कूटनीति की पोल, महात्मा गाधी की जय बोल।
नया पन्ना उलटे इतिहास, हुआ है नूतन वीर्य विकास।

इसमें 'नया पन्ना उलटे इतिहास' To turn a new leaf in history के आधार पर बनाया हुआ है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्द अँगरेजी से रूपांरित होकर हिन्दी में आए।

स्वच्छन्दवाद के द्वितीय उत्थान-काल में बहुत से नए शब्द काव्य-भाषा मे आए। ये नए शब्द दो प्रकार के थे—एक तो ध्वन्यर्थव्यंजक (Onomatopoetic) और दूसरे विशेषण और भाववाचक सज्ञा। कवियों ने संस्कृत और हिन्दी कोष से असंख्य ध्वन्यर्थव्यंजक शब्द खोज निकाले। अस्तु, स्पंदन, स्तंभित, चीत्कार, थर्राना, उत्ताल तरंग, अट्टहास, उल्लास, लोल हिलोर, पात, झूम-झूम, रोर, निर्झर, झर झर, उच्छ्वल, घर्घर-नाद, कराहना, अहह, झंकार नि श्वास, मुखरित, बिलखना, आह, बुदबुद, उमड़ना, कलरव, कलकल, छलछल, मर्मर, सनसन, टलमल, गुंजन, कसक, कसकती, सिसकना, शून्य, धूमिल, पुलक, कंपन, प्रकंपन, चकित, उभार, लहरना, लहरे, हिलोरे, छलकना, झकोरना, गरजना, गुनगुन, हहर-हहर, गंभीर, मचलना, चंचल, कोलाहल, क्रंदन इत्यादि और इसी प्रकार के अनेक शब्द हिन्दी कविता में प्रयुक्त होने लगे। इस प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त कितने ही नए, मधुर और कोमल शब्द प्रयुक्त होने लगे जिनसे पदों में माधुर्य की वृद्धि हुई, जैसे :

अरी सलिल की लोल-हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय-हुलास ?
सरिता की चंचल दृग-कोर !
यह जग को अविदित उल्लास ?

आ, मेरे मृदु-अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर। इत्यादि

इसमे 'सलिल', 'हुलास', 'छवि', 'चचल', 'मृदु अग', 'बोर' शब्द बहुत ही श्रुति-मधुर और सगीतपूर्ण हैं, इसी कारण यहाँ इस प्रकार के शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ।

स्वच्छदवाद का द्वितीय उत्थान-काल चमत्कारपूर्ण तथा आलोकमय विशेषणों का युग था। इस काल में अनेक नए विशेषण हिन्दी और सस्कृत शब्दों से बनाए गए और उनका विस्तृत प्रयोग हुआ। अस्तु, स्वप्न से स्वप्निल विशेषण बना। इसी प्रकार अवसित, अवसान से, हसित, हास्य से, ऐंचीला* बोलचाल के शब्द ऐंचना से, अतिशयता, अतिशय से, अलसित और अलस, आलस्य से, इन्द्रधनुषी†, इन्द्रधनुष से, उर्मिल, उर्म्मि से और पाशुल, पाशु से विशेषण बनाया गया। दुराव,§ दुराना से भाववाचक सज्ञा बना। इन बनाए हुए शब्दों के अतिरिक्त बहुत से विशेषण और भाववाचक सज्ञा शब्द ढूँढ निकाले गए और उनका प्रयोग कविता में होने लगा। माखनलाल चतुर्वेदी की 'खीझमयी मनुहार' मे सभी विशेषण साधारण भाषा से लिए गए हैं। परतु पत और 'निराला' ने विशेषण और भाववाचक सज्ञा शब्द अधिकाश सस्कृत के आधार पर ही निर्मित किए।

स्वच्छदवाद के द्वितीय उत्थान-काल में काव्य की भाषा बहुत ही समृद्ध और सस्कृत-गर्भित हो गई। इसमें सज्ञा और क्रिया की अपेक्षा भाववाचक सज्ञा और विशेषणों का मान बढ़ गया। साथ ही भाषा में व्यजकता, सगीत, माधुर्य और चित्रात्मकता की अद्भुत शक्ति आ गई।

---

*—खींच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप। [पल्लव—पृ० २३]

†—देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला। [पल्लव—पृ० २१]

§—सरल है हाय! हृदय, नहीं दुरता है जरा दुराव। [पल्लव—पृ० २४]

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी कविता का क्रमिक विकास हुआ। साधारण तुकबंदी प्रारंभ करके पहले 'जयद्रथ-वध' का अबाध गतिपूर्ण सरल साहित्यिक रचना हुई, और फिर केवल दस या पंद्रह वर्ष के भीतर ही पंत, 'प्रसाद' और 'निराला' के रस और भावव्यंजक सुंदर कलापूर्ण गीति-काव्यों के दर्शन हुए। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता आधुनिक काव्य-कला का विकास है। कला भारतीय काव्य की एक प्रमुख विशेषता रही है। अलंकार-शास्त्र के उदय के साथ ही भारत में कला का भी उदय हुआ और तबसे आजतक कला ही कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बन गई है। कुछ भक्त कवियों ने अवश्य कला का उतना आदर नहीं किया, किन्तु अन्य कवियों के लिए कला ही काव्य था। रीतिकाल में तो कला काव्य का विषय और उपादान भी बन गई थी। अलंकार-शास्त्र और नायिका-भेद, जो नाट्य-शास्त्र का एक प्रमुख अंग है, कविता के प्रधान विषय बन गए थे। आधुनिक काल में कला को ही काव्य का प्रधान विषय बनाने का विरोध तो अवश्य किया गया, और रीतिग्रंथों तथा नायिका-भेद के स्थान पर महावीर—पौराणिक और राजपूत—,सामान्य मानवता, प्रकृति और मातृभूमि काव्य के प्रधान विषय और उपादान बने, परंतु कला का विरोध कभी नहीं किया गया। यह सच है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में भाषा की अशक्तता और अपरिपक्वता के कारण काव्य में कला का नितांत अभाव है, परंतु ज्यों ज्यों भाषा सशक्त और परिपक्व होती गई त्यों त्यों काव्य में कलात्मकता की भी वृद्धि होती गई, यहाँ तक कि स्वच्छंद-वाद आंदोलन के द्वितीय चरण में कला ही काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बन गई और भाषा-शैली तथा छंदों के चुनाव तक में कला की धूम मच गई।

स्वच्छंदवाद आंदोलन के द्वितीय चरण में हिन्दी काव्य-कला की भावना पश्चिम से ली गई। भारत में काव्य कला के संबंध में पाँच पाँच भिन्न मत हैं, परंतु आधुनिक कवियों को उनमें एक भी मत नहीं जँचा। बात यह है कि भारतीय कला का आदर्श प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित और मर्यादित रूढ़ियों, परंपराओं और विविध नियमों का प्रतिपालन मात्र था, परंतु इस व्यक्ति-स्वातंत्र्य के युग में आचार्यों के नियम और विधान केवल बंधन मात्र जान पड़े। आधुनिक कवि तो किसी ऐसी कला की खोज में थे

जिसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सम्मान हो और पश्चिमी कला ठीक इसी प्रकार की थी। बस फिर क्या था, हमारे कवि पश्चिमी कला के भक्त बन गए और उन्होंने पश्चिमी काव्यालंकार और पश्चिमी काव्य-परिभाषा को ग्रहण किया। काव्य की परिभाषा उन्होंने ध्वनि और व्यजना के रूप में स्वीकार की जो पश्चिमी Suggestiveness का रूपातर मात्र है, और काव्य-लकारों में मानवीकरण (Personification), विशेषण-विपर्यय (Tranferred epithet) और ध्वन्यर्थ-व्यजना (Onomatopoeia का प्रयोग किया।

मानवीकरण हिन्दी के लिये नया नहीं है। रीतिकाल में भी हमें इस अलंकार के बहुधा दर्शन हो जाते हैं, जैसे देव कवि लिखते हैं :

> ऐसो हौं जो जानत्यों कि जैहै तू विषै के संग
>
> ए रे मन मेरे तेरे हाथ पाँव तोरत्यों।

अथवा

> जोरत तोरत प्रीत तुही अब तेरी अनीत तुही रुहि रे मन !

और पद्माकर अपने 'पातक' को ललकारते हैं :

> जैसे तैं न मोंसो कहूं नेक हू डरात हतो,
>
> तैसे अब हौं हू तोहि नेक हू न डरिहौं।
>
> कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तो
>
> उमंड करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहौं।
>
> चलो चलु, चलो चलु, बिचलु न बीच ही ते
>
> कीच बीच नीच ! तो कुटुम्ब को कचरिहौं।
>
> ए रे दगादार, मेरे पातक अपार, तोहि
>
> गंगा की कछार में पछार छार करिहौं।

परतु रीतिकाल में मानवीकरण कोई अलकार नहीं समझा जाता था। आधुनिक काल में पश्चिम के प्रभाव से मानवीकरण एक प्रधान अलकार समझा जाने लगा और इसके फल-स्वरूप इसका प्रयोग भी बहुत बढ़ गया। अस्तु, सुमित्रानंदन पंत 'छाया' से पूछते हैं :

> कहो, कौन हो दमयन्ती-सी
>
> तुम तरु के नीचे सोई !

हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि नल सा निष्ठुर कोई ?

और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'विरहाकुल' में लिखते हैं :

मचल मचल कर उत्कंठा ने छोड़ा नीरवता का साथ,
विकट प्रतीक्षा ने धीरे से कहा, 'निठुर हो तुम तो नाथ।'
नाद-ब्रह्म की रुचिर उपासिका, मेरी इच्छा हुई हताश,
बहकर उस निस्तब्ध वायु में चला गया मेरा निश्वास।

[सरस्वती, दिसम्बर—१९१८]

पहले छद में 'छाया' का और दूसरे में 'उत्कठा', 'नीरवता' 'प्रतीक्षा', 'इच्छा' और 'निश्वास' का मानवीकरण हुआ।

मानवीकरण से काव्य मे नाटकीय प्रभाव (Dramatic effect) की वृद्धि होती है और इस प्रकार उसकी व्यजनाशक्ति और प्रभावशीलता बढ़ जाती है। पत के उपरोक्त छद में कवि यदि मानवीकरण के स्थान पर छाया की दमयती से उपमा देकर इस प्रकार लिखता कि जैसे निष्ठुर नल से छोड़े जाने पर दमयती तरु के नीचे व्याकुल सोई पड़ी थी, उसी प्रकार छाया भी वृक्ष के नीचे पड़ी है, तो उसमें यह नाटकीय प्रभाव न आ पाता और न यह भाव पाठकों के मस्तिष्क में सीधे बिना किसी बाधा के प्रवेश कर पाता। इसमें कोई सदेह नहीं कि मानवीकरण ने आधुनिक कविता में नई जान डाल दी है।

विशेषण विपर्यय का भी आधुनिक हिन्दी कविता में खूब प्रचार है, जैसे :

आह ! यह मेरा गीला-गान ! [पल्लव पृष्ठ—१७]

और कल्पना में है कसकती-वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है। [पल्लव पृष्ठ—१७]

और भी कल्पने ! आओ सजनि उस प्रेम की,
सजल-सुधि में मग्न हो जावें पुनः
खोजने खोये हुए निज रत्न को। [ग्रंथि, पृष्ठ—१]

'गीला-गान' में गान का विशेषण गीला है, परतु गाना तो कभी गीला नहीं

होता। उसी प्रकार 'सिसकता-गान' भी है। परंतु गान के विशेषण 'गीला' और 'सिसकता', एक आँसू बहाते हुए और सिसकते हुए मनुष्य का चित्र उपस्थित करते हैं। उसी प्रकार 'सजल-सुधि' में एक ऐसे मनुष्य का चित्र सम्मुख आ जाता है जो अपने अतीत की स्मृति में आँसू बहा रहा है। ये विशेषण-विपर्यय काव्य की भाषा को चित्रमय और अर्थव्यंजक बना देते हैं। इन के आधार पर कवि उसे जो कुछ कहना होता है उसका एक चित्र सा खींच देता है और पाठक कवि के भावों को 'जाग्रत् स्वप्न' की भाँति देख लेते हैं। विशेषण-विपर्यय काव्य में कलात्मकता और चित्रमय व्यंजना की अभिवृद्धि करता है।

ध्वन्यर्थ-व्यंजना (Onomatopoeia) काव्य में संगीत की वृद्धि करती है, जैसे :

चातक की आकुल पी पी, गुन-गुन कलरव भ्रमरों का,
पत्रों का मधु मर्मर-ध्वनि, कोलाहल गगन-चरों का,
निर्झर का झर्झर विराव, कल-कल आराव सरित का,
सागर का वह लहर-नाद स्वर हहर-हहर मारुत का।

अथवा गरज, गगन के गान! गरज गम्भीर-स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में, औ अधरों में,
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में।

इन पद्यों में शब्दों के नाद से ही अर्थ की व्यंजना हो जाती है। 'निराला' ने इस अलकार का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। सुमित्रानंदन पंत विशेषण-विपर्यय के प्रयोग में और जयशंकर प्रसाद मानवीकरण के प्रयोग में सबसे बढ़े चढ़े हैं। इन तीनों काव्यालङ्कारों से काव्य में चित्रमयता, ध्वनि-व्यंजना और भाव-व्यजकता की अद्भुत वृद्धि हुई। अस्तु, द्वितीय स्वच्छंदवादी आंदोलन के अंतर्गत जो छायावादी कविताएँ लिखी गईं, उनमें कला की दृष्टि से व्यंजना का प्राधान्य है।

किन्तु बड़े कवियों में जो गुण कविता की व्यंजना-शक्ति और कलात्मकता के प्राण थे, वे ही साधारण कवियों में उनकी दुर्बलता के द्योतक बन गए। कला के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता काव्य की अधोगति का कारण हुई। अनेक साधारण कवियों ने, जिनमें कला की भावना लेश-मात्र भी न थी, बड़े कवियों का अंध अनुकरण आरंभ कर दिया। उन्होंने 'स्वच्छंद छंद' का प्रयोग

किया क्योंकि उसका लिखना बहुत आसान था, और लंबे लंबे संधि-समास संयुक्त क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जिनका प्रसंग में कोई अर्थ न होता। 'चिता' नामक कविता में 'गुलाब' लिखते हैं :

कवि की भविष्य कविता लेकर, धू धू जलती मैं बार बार,
रो रो मरती छविमयी प्रकृति, है केवल हाहाकार प्यार,
संसार देखता है एक टक
मम हँसती लाल लाल लपटें, हँसता शरीर हँसता नाटक।
मैं नहीं जानती किस वन का करके मधुमय ऐश्वर्य अंत,
आता है मदन-तुल्य सुन्दर इस दुनिया में मधुमय वसंत,
मेरा सुनकर संदेश-श्वास,
देता प्रिय पीत-निमंत्रण-लिपि, 'जरा सावधान है मृत्यु पास।'
[माधुरी—मार्च, १९२५]

उपरोक्त कविता में कुछ पंक्तियों में व्यंजना है, कुछ अलंकार हैं, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ व्यंजना भी है परंतु इसमें जिस वस्तु का अभाव है वह है 'अर्थ'। कवि ने भाव और विचार के अभाव की पूर्ति शब्दों के द्वारा की है। वस्तुतः इन कवियों के पास कहने को बहुत थोड़ा होने के कारण उन थोड़े से भावों को ही अलंकृत शब्दावली की तड़क भड़क और बाह्या-डम्बर में सुसज्जित करके वे उन्हें गंभीर और प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करते। प्रायः सुंदर भावगर्भित पदावली बिना किसी अर्थ-संगति के किसी सुंदर छंद में इस आशा से सजा दी जाती है कि पढ़ने वाले इनमें से कुछ गंभीर अर्थ निकाल ही लेंगे। जनवरी १९२३ की 'माधुरी' में 'प्रज्वलित वह्नि' नाम की एक कविता इस प्रकार प्रकाशित हुई थी :

वह चली आह! कैसी बयार,
खोला अतीत का जटिल द्वार।
जीवन-वन की वृक्षावलियाँ,
विस्मृत-पथ की सँकरी गलियाँ,
अति व्यथित हास्य की नवकलियाँ,
तिमिराग्रस्ता पर्णावलियाँ;
कर रहीं अनोखा आज प्यार,
वह चली आह! कैसी बयार।

इस कविता में 'जीवन-वन की वृक्षावलियाँ' और 'विस्मृत-पथ की सँकरी गलियाँ' इत्यादि प्रयोग अत्यंत व्यंजनामय और भावात्मक हैं, परंतु पूरी कविता का कोई अर्थ नहीं। कवि ने यों ही शब्दों का एक आडम्बर खड़ा कर रखा है।

अर्थ के अभाव के अतिरिक्त कवियों में कहीं तर्क-संगति और समानुपात-बोध (Sense of proportion) का भी अभाव दिखाई पड़ता है। भावनाओं को मूर्त रूप देने में कोई दोष नहीं, परंतु जब एक भावना मूर्त हो जाने पर मनुष्य की भाँति सोने, स्वप्न देखने और करवट लेने लगती है, तब उसमें अस्वाभाविकता आ जाती है और तर्क-सगति की सीमा अतिक्रात हो जाने के कारण वह कल्पना उपहासास्पद जान पड़ती है। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' की अभिलाषा का नाटक देखिये :

अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना। इत्यादि

मूर्त-विधान में कवियों को कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु कल्पना में तर्क-संगति एक प्रधान वस्तु है। जब कल्पना बिना किसी तर्क-संगति के एक बेपर की उड़ान भरने लगती है, तब वह ऊहात्मक और असगत हो जाती है। अस्तु, जहाँ सुमित्रानंदन पत 'नक्षत्र' को सबोधन करके कहते हैं :

ऐ नश्वरता के लघु-बुद्बुद !
काल-चक्र के विद्युत कन !
ऐ स्वप्नों के नीरव-चुम्बन !
तुहिन-विवस ! आकाश-सुमन !

वहाँ, कवि की पहली दो कल्पनाएँ अत्यत श्रेष्ठ और कवित्वपूर्ण हैं, किन्तु तीसरी कल्पना 'ऐ स्वप्नों के नीरव-चुम्बन !' असगत है और एक दूर की उड़ान सी जान पड़ती है। 'निराला' की कविता में ऐसी असगत कल्पनाएँ प्रायः मिलती हैं।

कहीं कहीं कवियों ने बहुत ही कठिन भाषा का प्रयोग किया है। भाषा की जटिलता और दुरूहता का दोष 'निराला' की कविता में प्राय मिल जाता है। उनके 'परलोक' का एक उदाहरण लीजिए :

किया क्योंकि उसका लिखना बहुत आसान था, और लंबे लंबे संधि समास संयुक्त क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जिनका प्रसंग में कोई अर्थ न होता। 'चिता' नामक कविता में 'गुलाब' लिखते हैं :

कवि की भविष्य कविता लेकर, धू धू जलती मैं बार बार,
रो रो मरती छविमयी प्रकृति, है केवल हाहाकार प्यार,
संसार देखता है एक टक
मम हँसती लाल लाल लपटें, हँसता शरीर हँसता नाटक।
मैं नहीं जानती किस वन का करके मधुमय ऐश्वर्य अंत,
आता है मदन-तुल्य सुन्दर इस दुनिया में मधुमय वसंत,
मेरा सुनकर संदेश-त्रास,
देता प्रिय पीत-निमंत्रण-लिपि, 'जग सावधान है मृत्यु पास।'

[माधुरी—मार्च, १९२५]

उपरोक्त कविता में कुछ पंक्तियों में व्यंजना है, कुछ अलंकार हैं, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ व्यंजना भी है, परंतु इसमें जिस वस्तु का अभाव है वह है 'अर्थ'। कवि ने भाव और विचार के अभाव की पूर्ति शब्दों के द्वारा की है। वस्तुतः इन कवियों के पास कहने को बहुत थोड़ा होने के कारण उन थोड़े से भावों को ही अलंकृत शब्दावली की तड़क भड़क और आडम्बर में सुसज्जित करके वे उन्हें गंभीर और प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करते। प्रायः सुंदर भावगर्भित पदावली बिना किसी अर्थ-संगति के किसी सुंदर छंद में इस आशा से सजा दी जाती है कि पढ़ने वाले इनमें से कुछ गंभीर अर्थ निकाल ही लेंगे। जनवरी १९२३ की 'माधुरी' में 'प्रज्वलित वह्नि' नाम की एक कविता इस प्रकार प्रकाशित हुई थी :

वह चली आह ! कैसी बयार,
खोला अतीत का जटिल द्वार।
जीवन-वन की वृक्षावलियाँ,
विस्मृत-पथ की सँकरी गलियाँ,
अति व्यथित हास्य की नवकलियाँ,
तिमिराग्रस्ता पर्णावलियाँ;
कर रहीं अनोखा आज प्यार,
वह चली आह ! कैसी बयार।

इस कविता में 'जीवन-वन की वृक्षावलियाँ' और 'विस्मृत-पथ की सँकरी गलियाँ' इत्यादि प्रयोग अत्यंत व्यजनामय और भावात्मक हैं, परंतु पूरी कविता का कोई अर्थ नहीं। कवि ने यों ही शब्दों का एक आडम्बर खड़ा कर रखा है।

अर्थ के अभाव के अतिरिक्त कवियों में कहीं तर्क-सगति और समानुपात-बोध (Sense of proportion) का भी अभाव दिखाई पड़ता है। भावनाओं को मूर्त रूप देने में कोई दोष नहीं, परतु जब एक भावना मूर्त हो जाने पर मनुष्य की भाँति सोने, स्वप्न देखने और करवट लेने लगती है, तब उसमें अस्वाभाविकता आ जाती है और तर्क-सगति की सीमा अतिक्रात हो जाने के कारण वह कल्पना उपहासास्पद जान पड़ती है। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' की अभिलाषा का नाटक देखिये :

> अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना,
> सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना। इत्यादि

मूर्त-विधान में कवियों को कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु कल्पना में तर्क-संगति एक प्रधान वस्तु है। जब कल्पना बिना किसी तर्क-सगति के एक बेपर की उड़ान भरने लगती है, तब वह ऊहात्मक और असगत हो जाती है। अस्तु, जहाँ सुमित्रानंदन पत 'नक्षत्र' को सबोधन करके कहते हैं :

> ऐ नश्वरता के लघु-बुद्बुद !
> काल-चक्र के विद्युत कन !
> ऐ स्वप्नों के नीरव-चुम्बन !
> तुहिन-विवस ! आकाश-सुमन !

वहाँ, कवि की पहली दो कल्पनाएँ अत्यत श्रेष्ठ और कवित्वपूर्ण हैं, किन्तु तीसरी कल्पना 'ऐ स्वप्नों के नीरव-चुम्बन !' असगत है और एक दूर की उड़ान सी जान पड़ती है। 'निराला' की कविता में ऐसी असगत कल्पनाएँ प्रायः मिलती हैं।

कहीं कहीं कवियों ने बहुत ही कठिन भाषा का प्रयोग किया है। भाषा की जटिलता और दुरूहता का दोष 'निराला' की कविता में प्राय. मिल जाता है। उनके 'परलोक' का एक उदाहरण लीजिए :

नयन मुँदेंगे जब, क्या देंगे ?
चिर - प्रिय - दर्शन ?
शत-सहस्र-जीवन पुलकित, प्रभु
व्याख्यातीत ?
अमरण - रणमय मृत्यु - पद-रज ?
विद्युद् घन-चुम्बन ?
निर्विरोध प्रतिहत भी
अप्रतिहत आलिंगन !

इस परलोक की कई परिक्रमाएँ करने के पश्चात् भी इसका रहस्य समझ में नहीं आता।

इनके अतिरिक्त आधुनिक कविता में और भी अनेक साधारण दोष मिलते हैं, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि कला की दृष्टि से आधुनिक काव्य में एक नवीनता और मौलिकता मिलती है। आधुनिक काव्य को हम कला और गीति-काव्य का युग कह सकते हैं।

तीसरा अध्याय

गद्य

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी गद्य का इतिहास उसके अव्यवस्थित होने और पुनः व्यवस्थित और विकसित होने का इतिहास है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में गद्य में विशृंखला आ गई और एक अराजकता-सी फैल गई। लेखकों के लिए कोई आदर्श सामने न था; उन्होंने अपना आदर्श स्वयं निश्चित किया और प्रत्येक लेखक ने अपनी मनमानी भाषा और भाव, नियम और विधान प्रस्तुत कर लिए। गद्य का कोई निश्चित भाषा, प्रतिष्ठित परंपरा और मर्यादित आदर्श न था। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने गद्य की भाषा को एक निश्चित रूप देकर गद्य-परंपरा चलाई थी और साथ ही बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त ने गद्य-शैली को भी जन्म दिया था, परंतु निकट निरीक्षण से जान पड़ेगा कि उन्नीसवीं शताब्दी का गद्य-साहित्य अपने मूलरूप में 'गोष्ठी-साहित्य' था। लेखकगण कुछ थोड़े से साहित्यिक रुचिवाले एक वर्ग-विशेष के लिए ही लिखते थे। उस वर्ग में सभी लेखक भी थे और पाठक भी। इस संकुचित वर्ग के पथ-प्रदर्शक भारतेन्दु हरिश्चंद्र थे, जो एक निश्चित तद्भवयुक्त शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। इन लेखकों का विषय और उपादान, शब्द-भंडार और दृष्टि-कोण—सभी कुछ बहुत संकुचित था। उन्हें उर्दू, बँगला, संस्कृत और अँगरेज़ी से न कुछ काम था न उनसे कोई झगड़ा। परंतु क्रमशः ज्यों ज्यों सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, त्यों त्यों हिन्दी के पक्षपातियों को यह बात समझ में आने लगी कि इस 'गोष्ठी-साहित्य' से

काम न चलेगा। एक सीमित वर्ग-विशेष में हिन्दी-प्रचार ने इस सार्वजनिक-समानाधिकार के युग में साहित्य की समुचित उन्नति नहीं हो सकती, वरन् हिन्दी का सर्वसाधारण में प्रचलित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके फल-स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में कुछ सुयोग्य व्यक्तियों ने सर्व-साधारण में हिन्दी प्रचार के लिए एक वृहत् आंदोलन आरम्भ किया। भारतेन्दु हरिश्चद्र ने अपने लेखों और भाषणों द्वारा तथा गौरीदत्त और अयोध्याप्रसाद खत्री ने हिन्दी-प्रचार का झंडा उठाकर चारों ओर घूम घूमकर अपने भाषणों द्वारा इसका प्रचार किया। १८९३ ई० में श्यामसुदर दास ने कुछ उत्साही नवयुवकों की सहायता से काशी में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य उत्तर भारत में नागरी लिपि और हिन्दी भाषा का प्रचार करना था। सभा सयुक्त-प्रात के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के पास एक डेप्यूटेशन भी ले गई, जिसके फल-स्वरूप १९०० ई० में कचहरियों में हिन्दी को स्थान मिला। दूसरी ओर देवकीनदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी अपने मौलिक तथा अनुवादित उपन्यासों के द्वारा हिन्दी पाठकों की सख्या में अद्भुत वृद्धि कर रहे थे। कहा जाता है कि खत्री के 'चद्रकाता सतति' पढ़ने के लिए ही असख्य मनुष्यों ने हिन्दी सीखी। इस प्रकार सर्व-साधारण और शिक्षित समाज में हिन्दी-प्रचार के लिए सभी ओर से अथक परिश्रम किया जा रहा था।

इस प्रचार-कार्य के फल बीसवीं शताब्दी के प्रारभ में दिखाई पड़ने लगे। हमारे प्रचारकों का कहना था कि सब लोग अपनी मातृभाषा का प्रयोग करें और अपनी मातृभाषा हिन्दी में ही पुस्तकें लिखें और लिखावें। पहले तो लोगों को कुछ हिचक-सी मालूम हुई और अपनी अयोग्यता का भी ध्यान आया, परतु फिर यह सोचकर कि मातृभाषा तो सीखने की वस्तु नहीं है, सभी लोग अपनी मातृभाषा अच्छी तरह लिख पढ़ सकते हैं और सभी को अपनी मातृभाषा की अपनी शक्ति के अनुसार सेवा करने का पूरा अधिकार प्राप्त है, वे एक उत्साह और आत्मविश्वास के साथ साहित्य की सृष्टि करने के लिए प्रस्तुत हो गए। वे इस साहित्य-सेवा को एक बहुत बड़ा आत्म-त्याग समझते थे, क्योंकि हिन्दी लिखने पढ़ने के लिए उन्हें अपने व्यर्थ समय की भेंट चढ़ानी पड़ती थी, और इसलिए कि उन्होंने इस महान् आदर्श की प्रेरणा से साहित्य सेवा प्रारभ की, वे भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का कष्ट सहन करना नहीं चाहते थे। उन्होंने आँख बंद करके जो कुछ भी समझ

में आया, जो कुछ उन्हें रुचा, बस उसी को अपनी 'मौलिक' भाषा में लिख डाला। इसका फल वही हुआ जो होना चाहिए था; भाषा एकदम विशृंखल हो गई। साथ ही अनेक समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं।

पहली समस्या भाषा की अराजकता की थी। संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी पढ़े लिखे मनुष्यों में जब हिन्दी का प्रचार बढ़ चला तब ऐसे असख्य लेखक निकलने लगे जिनकी भाषा और भाव में सस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी के भाषा और भाव की प्रत्यक्ष छाया पड़ने लगी। ऐसा होना अवश्यम्भावी था। हिन्दीभाषी उत्तर भारत में बहुत दूर तक फैले हुए थे। पजाब और पश्चिमी सयुक्त-प्रात में पहले उर्दू का एकछत्र राज्य था, परंतु आर्यसमाज के प्रयत्न से वहाँ के हिन्दुओं में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा और जब उन लोगों ने हिन्दी लिखना प्रारभ किया तब उनकी भाषा में फारसी, अरबी और उर्दू के शब्द अधिक सख्या में आने लगे। लाला हरदयाल लिखते हैं :

पंजाब में रोज़ की बोलचाल और पढ़ने लिखने में फ़ारसी-मिश्रित उर्दू ही का दौरदौरा है। यहाँ हिन्दी लड़के फ़ारसी पढते हैं। मदरसे में मौलवी साहब की जमाअत ऐसी भरी रहती है जैसे थिएटर की रंगभूमि। पर बेचारे संस्कृत के अध्यापक का कमरा खँडहर की तरह सूना रहता है।

[पजाब में हिन्दी की जरूरत, सरस्वती, सितम्बर १९०७]

इस उद्धरण में रेखाकित शब्द उर्दू और फारसी के हैं।

बगाल प्रात के मुख्य नगर कलकत्ता में हिन्दीभाषियों की संख्या बहुत थी और वे बगालियों के ससर्ग में रहने के कारण बँगला भाषा और साहित्य से परिचित हो गए थे। इसलिए उनकी रचनाओं में बँगला भाषा का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में मिलता है। हमारे पड़ोसी बिहार के निवासी भी हिन्दी-भाषी हैं, परंतु उनका राजनीतिक और शिक्षा सबध बंगाल से होने के कारण (१९१२ के पहले बिहार बगाल प्रात का एक भाग था और बिहारी अपनी उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में जाते थे।) वे बँगला भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञाता हुआ करते थे और इसी कारण उसकी हिन्दी रचनाओं में बँगला के शब्द और कोमल-कात-पदावली अधिकता से मिलती है। जैसे सूरजपुरा-बिहार-निवासी राधिकारमण सिंह लिखते हैं :

नव-दम्पति का प्रेम जो प्रथम प्रथम-मिलन-मंदिर की कुसुम शय्या से शिखरोन्मुक्त-जल-प्रपात की भाँति दुरंत वेग से प्रधावित होता है; पीछे

काम न चलेगा। एक सीमित वर्ग-विशेष में हिन्दी-प्रचार से इस सार्वजनिक-समानाधिकार के युग में साहित्य की समुचित उन्नति नहीं हो सकती, वरन् हिन्दी का सर्वसाधारण में प्रचलित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके फल-स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में कुछ सुयोग्य व्यक्तियों ने सर्व-साधारण में हिन्दी प्रचार के लिए एक वृहत् आंदोलन आरंभ किया। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने लेखों और भाषणों द्वारा तथा गौरीदत्त और अयोध्याप्रसाद खत्री ने हिन्दी-प्रचार का झंडा उठाकर चारों ओर घूम घूमकर अपने भाषणों द्वारा इसका प्रचार किया। १८९३ ई० में श्यामसुंदर दास ने कुछ उत्साही नवयुवकों की सहायता से काशी में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य उत्तर भारत में नागरी लिपि और हिन्दी भाषा का प्रचार करना था। सभा संयुक्त-प्रांत के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के पास एक डेप्यूटेशन भी ले गई, जिसके फल-स्वरूप १९०० ई० में कचहरियों में हिन्दी को स्थान मिला। दूसरी ओर देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी अपने मौलिक तथा अनुवादित उपन्यासों के द्वारा हिन्दी पाठकों की संख्या में अद्भुत वृद्धि कर रहे थे। कहा जाता है कि खत्री के 'चंद्रकांता संतति' पढ़ने के लिए ही असंख्य मनुष्यों ने हिन्दी सीखी। इस प्रकार सर्व-साधारण और शिक्षित समाज में हिन्दी-प्रचार के लिए सभी ओर से अथक परिश्रम किया जा रहा था।

इस प्रचार-कार्य के फल बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में दिखाई पड़ने लगे। हमारे प्रचारकों का कहना था कि सब लोग अपनी मातृभाषा का प्रयोग करें और अपनी मातृभाषा हिन्दी में ही पुस्तकें लिखें और लिखावें। पहले तो लोगों को कुछ हिचक-सी मालूम हुई और अपनी अयोग्यता का भी ध्यान आया, परंतु फिर यह सोचकर कि मातृभाषा तो सीखने की वस्तु नहीं है, सभी लोग अपनी मातृभाषा अच्छी तरह लिख पढ़ सकते हैं और सभी को अपनी मातृभाषा की अपनी शक्ति के अनुसार सेवा करने का पूरा अधिकार प्राप्त है, वे एक उत्साह और आत्मविश्वास के साथ साहित्य की सृष्टि करने के लिए प्रस्तुत हो गए। वे इस साहित्य-सेवा को एक बहुत बड़ा आत्म-त्याग समझते थे, क्योंकि हिन्दी लिखने पढ़ने के लिए उन्हें अपने व्यर्थ समय की भेंट चढ़ानी पड़ती थी, और इसलिए कि उन्होंने इस महान् आदर्श की प्रेरणा से साहित्य सेवा प्रारंभ की, वे भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का कष्ट सहन करना नहीं चाहते थे। उन्होंने आँख बंद करके जो कुछ भी समझ

में आया, जो कुछ उन्हें रुचा, बस उसी को अपनी 'मौलिक' भाषा में लिख डाला। इसका फल वही हुआ जो होना चाहिए था; भाषा एकदम विशृंखल हो गई। साथ ही अनेक समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं।

पहली समस्या भाषा की अराजकता की थी। संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी पढ़े लिखे मनुष्यों में जब हिन्दी का प्रचार बढ़ चला तब ऐसे असख्य लेखक निकलने लगे जिनकी भाषा और भाव में संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी के भाषा और भाव की प्रत्यक्ष छाया पड़ने लगी। ऐसा होना अवश्यम्भावी था। हिन्दीभाषी उत्तर भारत में बहुत दूर तक फैले हुए थे। पजाब और पश्चिमी सयुक्त-प्रात में पहले उर्दू का एकछत्र राज्य था, परंतु आर्यसमाज के प्रयत्न से वहाँ के हिन्दुओं में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा और जब उन लोगों ने हिन्दी लिखना प्रारभ किया तब उनकी भाषा में फारसी, अरबी और उर्दू के शब्द अधिक सख्या में आने लगे। लाला हरदयाल लिखते हैं:

> पंजाब में रोज़ की बोलचाल और पढ़ने लिखने में फ़ारसी-मिश्रित उर्दू ही का दौरदौरा है। यहाँ हिन्दी लड़के फ़ारसी पढ़ते हैं। मदरसे में मौलवी साहब की जमाअत ऐसी भरी रहती है जैसे थिएटर की रंगभूमि। पर बेचारे संस्कृत के अध्यापक का कमरा खँडहर की तरह सूना रहता है।
>
> [पजाब में हिन्दी की ज़रूरत, सरस्वती, सितम्बर १९०७]

इस उद्धरण में रेखाकित शब्द उर्दू और फारसी के हैं।

बगाल प्रांत के मुख्य नगर कलकत्ता में हिन्दीभाषियों की संख्या बहुत थी और वे बगालियों के ससर्ग में रहने के कारण बँगला भाषा और साहित्य से परिचित हो गए थे। इसलिए उनकी रचनाओं में बँगला भाषा का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में मिलता है। हमारे पड़ोसी बिहार के निवासी भी हिन्दी-भाषी हैं, परतु उनका राजनीतिक और शिक्षा संबध बंगाल से होने के कारण (१९१२ के पहले बिहार बगाल प्रात का एक भाग था और बिहारी अपनी उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में जाते थे।) वे बँगला भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञाता हुआ करते थे और इसी कारण उनकी हिन्दी रचनाओं में बँगला के शब्द और कोमल-कात-पदावली अधिकता से मिलती है। जैसे सूरजपुरा-बिहार-निवासी राधिकारमण सिंह लिखते हैं:

> **नव-दम्पति का प्रेम जो प्रथम प्रथम-मिलन-मंदिर की कुसुम शय्या से शिखरोन्मुक्त-जल-प्रपात की भाँति दुरंत वेग से प्रधावित होता है; पीछे**

शान्त-स्तिमित प्रवाह होकर समय सागर मे जा मिलता है। थोंमे रा शुद्ध प्रेम तो कभी गैरिक निःस्राव नहीं हुआ। इत्यादि

[गल्प-कुसुमावली—पृष्ठ ?]

इसी प्रकार बँगला से अनुवादित ग्रथों मे अनुवादकगण क्रिया-रूपों को तो रूपातरित कर देते थे, परतु साधारण शब्द और कोमल-कात-पदावली ज्यों की त्यों रहने देते थे। ईश्वरीप्रसाद शर्मा बंकिमचद्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनंद मठ' के अनुवाद में लिखते हैं :

ऊपर एक कमरे में एक फटी चटाई पर एक सुंदरी बैठी थी, पर उसके सौन्दर्य पर एक भीषण छाया पड़ी थी मध्याह्न काल में, कूल-परिप्लाविनी, प्रसन्न सलिला, विपुल-जल-कल्लोलिनी स्रोतस्विनी के ऊपर जैसी घनी बादलों की छाया पड़ जाती है वैसी ही छाया पड़ी हुई थी। इत्यादि

उपरोक्त उद्धरण में बँगला शब्द और कोमल-कात-पदावली का स्वच्छद प्रयोग हुआ है।

महाराष्ट्र और मध्यप्रात के रहनेवालों ने जब हिन्दी लिखना प्रारभ किया तब उनकी भाषा में मराठी और सस्कृत शब्दों के दर्शन हुए। उदाहरण के लिए मध्यप्रात-निवासी गगाप्रसाद अग्निहोत्री की भाषा देखिए :

पीछे कालिदास के विषय में लिखती बार यह कहा था कि उसके विषय में विश्वास-पात्र परिचय, अणु मात्र भी नहीं मिलता। और तो क्या पर उसकी असामान्य कीर्ति कौमुदी यदि उसके जीवित काल में ही न प्रकाशित होती, और वह नाटकों को न लिखता तो केवल उसके काव्यों द्वारा आज दिन उसके नाम का भी पता न लगता। इत्यादि

[सस्कृत-कवि-पचक—भवभूति—पृष्ठ १]

सयुक्त-प्रात से बाहर हिन्दी गद्य की भाषा की ऐसी अवस्था थी। स्वय इस प्रात में भी अनेक प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हो रहा था जिनका शब्द-भडार एक दूसरे से भिन्न था। अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में ठेठ हिन्दी का प्रयोग कर रहे थे। वे अवध और बनारस के आस पास के गाँववालों की भाषा का अनुकरण करके 'इसतरी', 'जमस', 'अमरित', 'बरखा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। फिर एक ओर देवकीनदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी सरल उर्दू-मिश्रित हिन्दी अथवा साधारण बोलचाल की हिन्दुस्तानी का प्रयोग कर रहे थे, जिसमें

बीच बीच में 'अडस', 'कबाहत', 'चेहला', 'टंटा बखेड़ा', 'महराना' इत्यादि काशी की बोलचाल के शब्द भी आ जाते थे; दूसरी ओर लज्जाराम मेहता ब्रज की बोलचाल की भाषा-मिश्रित सरल हिन्दी में उपन्यासों का ढेर लगा रहे थे। काशी के साहित्यिक लेखकगण एक विशेष भाषा का उपयोग कर रहे थे जिसमें शुद्ध संस्कृत तत्समों का आधिक्य था, जैसे :

वृन्दारक-वृन्द-रंगस्थली हिममय हिमालय से ले तुरंग-तरंग-संकुलित तोय-निधि-प्रशस्त भारतसागर तट लों, एवं नीलाचल से आरम्य उपसागरस्थ श्री द्वारकापुरी तक ऐसी कौन तीर्थमयी पुण्यस्थली है कि जहाँ पुण्यश्लोका अहिल्याबाई की अखंड कीर्ति की दुन्दुभी निनादित न होती हो। इत्यादि

[नागरी प्रचारिणी पत्रिका, द्वितीय भाग १८९८—पृष्ठ ६९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी प्रदेश के भिन्न भिन्न भागों में, भिन्न भिन्न वर्ग के लेखकगण भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग कर रहे थे। मराठी, गुजराती और बँगला की भाँति हिन्दी का प्रभाव-क्षेत्र किसी प्रांत-विशेष तक सीमित नहीं है, वरन् उत्तरी भारत के एक विस्तृत क्षेत्र में भिन्न भाषा, भाव, विचार, रहन-सहन और चाल-ढाल के मनुष्य हिन्दी को अपनी भाषा मानते हैं। अस्तु, सर्वसाधारण में हिन्दी-प्रचार के साथ ही साथ विस्तृत हिन्दी प्रदेश में अनेक साहित्यिक केन्द्र बन गए और प्रत्येक केन्द्र के लेखकों की प्रेरणा-शक्ति, रुचि, आदर्श, रूढ़ि और परपरा एक दूसरे से बहुत भिन्न थी। इस प्रकार एक साथ ही अनेक रुचि, आदर्श, रूढ़ि और परंपरा का प्रयोग और संघर्ष प्रारम हो गया और इसका एक मात्र फल यह हुआ कि साहित्य और भाषा विशृंखल हो गई और चारों ओर अराजकता-सी फैल गई।

दूसरी समस्या व्याकरण की थी। नए लेखक अपने उत्साह में यह बिल्कुल ही भूल गए कि व्याकरण भी कोई चीज़ होती है। उन्होंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा कि वे वाक्य-रचना में विभक्तियों के प्रयोग में (विशेषकर ने और को) और कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य क्रिया-रूपों में अशुद्धियाँ कर सकते हैं। परंतु उनकी रचना में व्याकरण की अशुद्धियाँ बहुधा होती थीं। यथा, 'काजर की कोठरी' में देवकीनंदन खत्री लिखते हैं :

पारस ने अपना सरला के पास जाना और वहाँ से क्षुब्ध बनकर बैरंग लौट आने का हाल बाँदी से बयान किया।

जब कि शुद्ध रूप होता 'पारस ने अपने सरला के पास जाने और वहाँ से

छुच्छू बनकर घेरा लौट आने का हाल बाँदी ने बयान किया।' इसी प्रकार व्रजनंदन सहाय 'आरण्य-बाला' में 'आनन के भोलेपन की ओर' के स्थान में 'आनन के भोलापन की ओर' लिखते हैं और उसी पुस्तक में एक स्थान पर और भी अशुद्ध वाक्य इस प्रकार लिखते हैं :

वह प्रेम-सलिल में उसने स्वार्थ को बहा दिया है।

जब कि शुद्ध रूप होता 'उस प्रेम-सलिल में उसने स्वार्थ बहा दिया है।' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने अनेक आलोचनात्मक लेखों में इन लेखकों की व्याकरण-संबंधी अशुद्धियों की ओर संकेत किया है। 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' और 'हिन्दी व्याकरण' में उन्होंने लाला सीताराम और केशवभट्ट की व्याकरण-संबंधी अशुद्धियों की तीव्र आलोचना की है। परंतु इस दिशा में सब से प्रधान दोष वाक्य-रचना और शब्दों की अस्थिरता में पाया जाता है। उदाहरण के लिए उदितनरायन लाल के अनुवादित ग्रंथ 'राजपूत जीवन-संध्या' की भूमिका से एक उदाहरण लीजिए :

आज मैं हर्षपूर्वक इस हिन्दी भाषा की पुस्तक को आपकी सेवा में लेकर उपस्थित होता हूँ और दृढ़ विश्वास करता हूँ कि इसे आप अपनावेंगे न कि इस नाते कि इस भाषा में कोई लालित्य या मनोहारिता है किन्तु इसी लिहाज़ से कि इसमें भारत कुल भूषण राजपूत कुल-गौरव प्रातः स्मरणीय विमल कीर्ति महाराणा प्रतापसिंह जी का शुद्ध जीवन चरित्र है जिसे पढ़कर हम भारत वासियों को दृढ़प्रतिज्ञ और सहनशील होने का ध्यान होना चाहिए, तथा क्यों कर भारी से भारी आपत्ति में भी हिम्मत न हारना चाहिए, यह सीखना उचित है।

इस उद्धरण की भाषा में उर्दू ढंग की वाक्य-रचना मिलती है, विशेषकर अंतिम वाक्य तो सोलहो आना उर्दू का सा है। भाषा बहुत ही शिथिल है, प्रवाह का इसमें नाम तक नहीं। 'दो मित्र' में पांडेय लोचनप्रसाद लिखते हैं :

पशु और पक्षियों ने रात्रि का आगमन जान अपने अपने स्वस्थान को गमन किया, थोड़ी देर में अंधकार फैल गया।

यहाँ 'स्वस्थान' का विशेषण 'अपने अपने' का कोई अर्थ ही नहीं और दो वाक्यांशों के बीच में संयोजक अव्यय की कमी रह गई है। फिर भाषा की अस्थिरता तो प्रायः सभी लेखकों में मिलती है। 'राजपूत-जीवन-संध्या' में उदितनरायन लाल लिखते हैं :

सब योद्धा मंडली बाँधकर हरे मख़मल के बिछौने की बाईं ओर उस हरे रंग की दूब पर बैठ गए और क्षणेक थकावट दूर करके झरने के जल से हाथ मुँह धोय, फिर शीघ्र ही इकट्ठे बैठकर भोजन करन लगे। इत्यादि

उपरोक्त वाक्य में, 'क्षणेक', 'धोय', 'करन लगे', इत्यादि खड़ी बोली के शुद्ध रूप नहीं हैं वरन् अस्थिर रूप हैं। लेखक ने इसी पुस्तक में अन्य स्थानों पर 'एक क्षण' 'धो कर' और 'करने लगे' इत्यादि का भी प्रयोग किया है जो स्थिर और शुद्ध रूप हैं। इसी प्रकार ईश्वरीप्रसाद शर्मा 'नवाबनंदिनी' उपन्यास में लिखते हैं :

'यद्यपि वे प्रेम के प्लेटफ़ारम पर अभिनय करने की इच्छा नहीं रखते थे तौ भी घटनाओं के जाल में फँसकर अनजानते ही में उन्हें प्रेम के रंगमंच पर आना पड़ा।'

इसमें लेखक ने एक ही वाक्य में 'प्लेटफारम' और 'रंगमच' दोनों का प्रयोग किया है। प्लेटफारम हिन्दी का शब्द नहीं है और 'रंगमच' के रहते इसका प्रयोग अनुचित है। फिर 'अनजानते', 'अनजाने' का अस्थिर रूप है। इस प्रकार भाषा में व्याकरण-संबंधी अनेक अशुद्धियाँ आ रही थीं।

तीसरी समस्या भाषा में शब्दों का अभाव था। हिन्दी का शब्द भडार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यजना नहीं हो सकती थी और बोलचाल की भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। अन्य भाषा से अनुवाद करते समय नए शब्द तो गढ़ने ही पड़ते थे, परतु कभी कभी तो अपने मौलिक विचार और भाव भी लेखकगण बिना बोलचाल के शब्दों की सहायता के प्रकट नहीं कर पाते थे। उदाहरण के लिए, सरजूप्रसाद मिश्र अपने अनुवाद-ग्रथ 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियों का समय-निरूपण' (१९०१) की भूमिका में लिखते हैं :

भारतवर्षीय कविगण के जीवन समय-निरूपण विषयक कोई पुस्तक नहीं है, ऐसा कहकर कुछ लोग मुँह पिचकाते हैं। यहाँ इस न्यूनता का हेतु यही है कि इतिहास लिखने की परिपाटी नहीं है। महापण्डित विल्सन महाशय आदि लोगों ने इस विषय के खोजखाज में टट के यत्न किया अवश्य, पर भली भाँति इस कार्य के पूरा करने में कोई समर्थ न हुआ। हाँ, इतना कहेंगे कि सौभाग्य से उनकी देखादेखी अब यहाँ वाले भी इस विषय में कुछ चूँ चो करने लगे हैं। इत्यादि

छुच्छू बनकर बैरग लौट आने का हाल चाँटी से बयान किया।' इसी प्रकार व्रजनदन सहाय 'आरण्य-बाला' में 'आनन के भोलेपन की ओर' के स्थान में 'आनन के भोलापन की ओर' लिखते हैं और उसी पुस्तक में एक स्थान पर और भी अशुद्ध वाक्य इस प्रकार लिखते हैं

वह प्रेम-सलिल में उसने स्वार्थ को बहा दिया है।

जब कि शुद्ध रूप होता 'उस प्रेम-सलिल में उसने स्वार्थ बहा दिया है।' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने अनेक आलोचनात्मक लेखों में इन लेखकों की व्याकरण-सबधी अशुद्धियों की ओर सकेत किया है। 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' और 'हिन्दी व्याकरण' में उन्होंने लाला सीताराम और केशवभट्ट की व्याकरण-सबधी अशुद्धियों की तीव्र आलोचना की है। परतु इस दिशा में सब से प्रधान दोष वाक्य-रचना और शब्दों की अस्थिरता में पाया जाता है। उदाहरण के लिए उदितनरायन लाल के अनुवादित ग्रंथ 'राजपूत-जीवन-सध्या' की भूमिका से एक उदाहरण लीजिए :

आज मैं हर्षपूर्वक इस हिन्दी भाषा की पुस्तक को आपकी सेवा में लेकर उपस्थित होता हूँ और दृढ़ विश्वास करता हूँ कि इसे आप अपनावेंगे न कि इस नाते कि इस भाषा में कोई लालित्य या मनोहारिता है किन्तु इसी लिहाज़ से कि इसमें भारत कुल भूषण राजपूत कुल-गौरव प्रात.स्मरणीय विमल कीर्ति महाराणा प्रतापसिंह जी का शुद्ध जीवन चरित्र है जिसे पढ़कर हम भारत वासियों को दृढ़प्रतिज्ञ और सहनशील होने का ध्यान होना चाहिए, तथा क्योंकर भारी से भारी आपत्ति में भी हिम्मत न हारना चाहिए, यह सीखना उचित है।

इस उद्धरण की भाषा में उर्दू ढग की वाक्य-रचना मिलती है, विशेषकर अतिम वाक्य तो सोलहो आना उर्दू का सा है। भाषा बहुत ही शिथिल है, प्रवाह का इसमें नाम तक नहीं। 'दो मित्र' में पाडेय लोचनप्रसाद लिखते हैं :

पशु और पक्षियों ने रात्रि का आगमन जान अपने अपने स्वस्थान को गमन किया, थोड़ी देर में अंधकार फैल गया।

यहाँ 'स्वस्थान' का विशेषण 'अपने अपने' का कोई अर्थ ही नहीं और दो वाक्यांशों के बीच में संयोजक अव्यय की कमी रह गई है। फिर भाषा की अस्थिरता तो प्रायः सभी लेखकों में मिलती है। 'राजपूत-जीवन-सध्या' में उदितनरायन लाल लिखते हैं :

सब योद्धा मंडली बाँधकर हरे मख़मल के बिछौने की बाईं ओर उस हरे रंग की दूब पर बैठ गए और क्षणेक थकावट दूर करके झरने के जल से हाथ मुँह धोय, फिर शीघ्र ही इकट्ठे बैठकर भोजन करन लगे। इत्यादि

उपरोक्त वाक्य में, 'क्षणेक', 'धोय', 'करन लगे', इत्यादि खड़ी बोली के शुद्ध रूप नहीं हैं वरन् अस्थिर रूप हैं। लेखक ने इसी पुस्तक में अन्य स्थानों पर 'एक क्षण' 'धो कर' और 'करने लगे' इत्यादि का भी प्रयोग किया है जो स्थिर और शुद्ध रूप हैं। इसी प्रकार ईश्वरीप्रसाद शर्मा 'नवाब्ननदिनी' उपन्यास में लिखते हैं :

'यद्यपि वे प्रेम के प्लेटफ़ारम पर अभिनय करने की इच्छा नहीं रखते थे तो भी घटनाओं के जाल में फँसकर अनजानते ही में उन्हें प्रेम के रंगमंच पर आना पड़ा।'

इसमें लेखक ने एक ही वाक्य में 'प्लेटफारम' और 'रगमच' दोनों का प्रयोग किया है। प्लेटफारम हिन्दी का शब्द नहीं है और 'रंगमच' के रहते इसका प्रयोग अनुचित है। फिर 'अनजानते', 'अनजाने' का अस्थिर रूप है। इस प्रकार भाषा में व्याकरण-संबंधी अनेक अशुद्धियाँ आ रही थीं।

तीसरी समस्या भाषा में शब्दों का अभाव था। हिन्दी का शब्द भडार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यजना नहीं हो सकती थी और बोलचाल की भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। अन्य भाषा से अनुवाद करते समय नए शब्द तो गढने ही पड़ते थे, परतु कभी कभी तो अपने मौलिक विचार और भाव भी लेखकगण बिना बोलचाल के शब्दों की सहायता के प्रकट नहीं कर पाते थे। उदाहरण के लिए, सरजूप्रसाद मिश्र अपने अनुवाद-ग्रथ 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियों का समय-निरूपण' (१९०१) की भूमिका में लिखते हैं :

भारतवर्षीय कविगण के जीवन समय-निरूपण-विषयक कोई पुस्तक नहीं है, ऐसा कहकर कुछ लोग मुँह पिचकाते हैं। पर इस न्यूनता का हेतु यही है कि इतिहास लिखने की परिपाटी नहीं है। महापण्डित विलसन महाशय आदि लोगों ने इस विषय के खोजखाज में पट के यत्न किया अवश्य, पर भली भाँति इस कार्य के पूरा करने में कोई समर्थ न हुआ। हाँ, इतना कहेंगे कि सौभाग्य से उनकी देखादेखी अब यहाँ वाले भी इस विषय में कुछ चूँ चाँ करने लगे हैं। इत्यादि

छुच्छू बनकर बैरग लौट आने का हाल शब्दों मे बयान किया।' इसी प्रकार व्रजनदन सहाय 'आरण्य-बाला' में 'आनन के भोलेपन की ओर' के स्थान में 'आनन के भोलापन की ओर' लिखते हैं और उसी पुस्तक में एक स्थान पर और भी अशुद्ध वाक्य इस प्रकार लिखते हैं :

वह प्रेम-सलिल में उसने स्वार्थ को बहा दिया है।

जब कि शुद्ध रूप होता 'उस प्रेम-सलिल मे उसने स्वार्थ बहा दिया है।' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने अनेक आलोचनात्मक लेखों में इन लेखकों की व्याकरण-सबधी अशुद्धियों की ओर सचेत किया है। 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' और 'हिन्दी व्याकरण' में उन्होंने लाला सीताराम और केशवभट्ट की व्याकरण-सबधी अशुद्धियों की तीव्र आलोचना की है। परतु इस दिशा में सब से प्रधान दोष वाक्य-रचना और शब्दों की अस्थिरता में पाया जाता है। उदाहरण के लिए उदितनरायन लाल के अनुवादित ग्रंथ 'राजपूत-जीवन-सध्या' की भूमिका से एक उदाहरण लीजिए :

आज मैं हर्षपूर्वक इस हिन्दी भाषा की पुस्तक को आपकी सेवा में लेकर उपस्थित होता हूँ और दृढ़ विश्वास करता हूँ कि इसे आप अपनावेंगे न कि इस नाते कि इस भाषा में कोई लालित्य या मनोहारिता है किन्तु इसी लिहाज़ से कि इसमें भारत कुल भूषण राजपूत कुल गौरव प्रातःस्मरणीय विमल कीर्ति महाराणा प्रतापसिंह जी का शुद्ध जीवन चरित्र है जिसे पढ़कर हम भारत वासियों को दृढ़प्रतिज्ञ और सहनशील होने का ध्यान होना चाहिए, तथा क्योंकर भारी से भारी आपत्ति में भी हिम्मत न हारना चाहिए, यह सीखना उचित है।

इस उद्धरण की भाषा में उर्दू ढग की वाक्य-रचना मिलती है, विशेषकर अतिम वाक्य तो सोलहो आना उर्दू का सा है। भाषा बहुत ही शिथिल है, प्रवाह का इसमें नाम तक नहीं। 'दो मित्र' में पाडेय लोचनप्रसाद लिखते हैं :

पशु और पक्षियों ने रात्रि का आगमन जान अपने अपने स्वस्थान को गमन किया, थोड़ी देर में अंधकार फैल गया।

यहाँ 'स्वस्थान' का विशेषण 'अपने अपने' का कोई अर्थ ही नहीं और दो वाक्यांशों के बीच में संयोजक अव्यय की कमी रह गई है। फिर भाषा की अस्थिरता तो प्रायः सभी लेखकों में मिलती है। 'राजपूत-जीवन-सध्या' में उदितनरायन लाल लिखते हैं :

सब योद्धा मंडली बाँधकर हरे मख़मल के बिछौने की नाई और उस हरे रंग की दूब पर बैठ गए और क्षणेक थकावट दूर करके झरने के जल से हाथ मुँह धोय, फिर शीघ्र ही इकट्ठे बैठकर भोजन करन लगे। इत्यादि

उपरोक्त वाक्य में, 'क्षणेक', 'धोय', 'करन लगे', इत्यादि खड़ी बोली के शुद्ध रूप नहीं हैं वरन् अस्थिर रूप हैं। लेखक ने इसी पुस्तक में अन्य स्थानों पर 'एक क्षण' 'धो कर' और 'करने लगे' इत्यादि का भी प्रयोग किया है जो स्थिर और शुद्ध रूप हैं। इसी प्रकार ईश्वरीप्रसाद शर्मा 'नवाबनन्दिनी' उपन्यास में लिखते हैं :

'यद्यपि वे प्रेम के प्लेटफ़ारम पर अभिनय करने की इच्छा नहीं रखते थे तौ भी घटनाओं के जाल में फँसकर अनजानते ही में उन्हें प्रेम के रंगमंच पर आना पड़ा।'

इसमें लेखक ने एक ही वाक्य में 'प्लेटफारम' और 'रगमच' दोनों का प्रयोग किया है। प्लेटफारम हिन्दी का शब्द नहीं है और 'रंगमंच' के रहते इसका प्रयोग अनुचित है। फिर 'अनजानते', 'अनजाने' का अस्थिर रूप है। इस प्रकार भाषा में व्याकरण-संबंधी अनेक अशुद्धियाँ आ रही थीं।

तीसरी समस्या भाषा में शब्दों का अभाव था। हिन्दी का शब्द भंडार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यजना नहीं हो सकती थी और बोलचाल की भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। अन्य भाषा से अनुवाद करते समय नए शब्द तो गढ़ने ही पड़ते थे, परतु कभी कभी तो अपने मौलिक विचार और भाव भी लेखकगण बिना बोलचाल के शब्दों की सहायता के प्रकट नहीं कर पाते थे। उदाहरण के लिए, सरजूप्रसाद मिश्र अपने अनुवाद-ग्रथ 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियों का समय-निरूपण' (१६०१) की भूमिका में लिखते हैं :

भारतवर्षीय कविगण के जीवन समय-निरूपण विषयक कोई पुस्तक नहीं है, ऐसा कहकर कुछ लोग मुँह पिचकाते हैं। यहाँ इस न्यूनता का हेतु यही है कि इतिहास लिखने की परिपाटी नहीं है। महापण्डित विलसन महाशय आदि लोगों ने इस विषय के खोजखाज में हद के यत्न किया अवश्य, पर भली भाँति इस कार्य के पूरा करने में कोई समर्थ न हुआ। हाँ, इतना कहेंगे कि सौभाग्य से उनकी देखादेखी अब यहाँ वाले भी इस विषय में कुछ चूँ चाँ करने लगे हैं। इत्यादि

छुच्छू बनकर बैरंग लौट आने का हाल शॉर्टों मे बयान किया।' इसी प्रकार ब्रजनंदन सहाय 'आरण्य-बाला' में 'आनन के भोलेपन की ओर' के स्थान में 'आनन के भोलापन की ओर' लिखते हैं और उसी पुस्तक में एक स्थान पर और भी अशुद्ध वाक्य इस प्रकार लिखते हैं

वह प्रेम-सलिल में उसने स्वार्थ को बहा दिया है।

जब कि शुद्ध रूप होता 'उस प्रेम-सलिल मे उसने स्वार्थ बहा दिया है।' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने अनेक आलोचनात्मक लेखों में इन लेखकों की व्याकरण-सबधी अशुद्धियों की ओर सकेत किया है। 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' और 'हिन्दी व्याकरण' में उन्होंने लाला सीताराम और केशवभट्ट की व्याकरण-सबधी अशुद्धियों की तीव्र आलोचना की है। परतु इस दिशा में सब से प्रधान दोष वाक्य-रचना और शब्दों की अस्थिरता में पाया जाता है। उदाहरण के लिए उदितनरायन लाल के अनुवादित ग्रंथ 'राजपूत जीवन-सध्या' की भूमिका से एक उदाहरण लीजिए :

आज मैं हर्षपूर्वक इस हिन्दी भाषा की पुस्तक को आपकी सेवा में लेकर उपस्थित होता हूँ और दृढ़ विश्वास करता हूँ कि इसे आप अपनावेंगे न कि इस नाते कि इस भाषा में कोई लालित्य या मनोहारिता है किन्तु इसी लिहाज़ से कि इसमें भारत कुल भूषण राजपूत कुल-गौरव प्रातःस्मरणीय विमल कीर्ति महाराणा प्रतापसिंह जी का शुद्ध जीवन चरित्र है जिसे पढ़कर हम भारत वासियों को दृढ़प्रतिज्ञ और सहनशील होने का ध्यान होना चाहिए, तथा क्यों कर भारी से भारी आपत्ति में भी हिम्मत न हारना चाहिए, यह सीखना उचित है।

इस उद्धरण की भाषा में उर्दू ढग की वाक्य-रचना मिलती है, विशेषकर अंतिम वाक्य तो सोलहो आना उर्दू का सा है। भाषा बहुत ही शिथिल है, प्रवाह का इसमें नाम तक नहीं। 'दो मित्र' में पाडेय लोचनप्रसाद लिखते हैं :

पशु और पक्षियों ने रात्रि का आगमन जान अपने अपने स्वस्थान को गमन किया, थोड़ी देर में अंधकार फैल गया।

यहाँ 'स्वस्थान' का विशेषण 'अपने अपने' का कोई अर्थ ही नहीं और दो वाक्यांशों के बीच में संयोजक अव्यय की कमी रह गई है। फिर भाषा की अस्थिरता तो प्रायः सभी लेखकों में मिलती है। 'राजपूत-जीवन-सध्या' में उदितनरायन लाल लिखते हैं :

सब योद्धा मंडली बाँधकर हरे मखमल के बिछौने की बाईं ओर उस हरे रंग की दूब पर बैठ गए और छ्रणेक थकावट दूर करके झरने के जल से हाथ मुँह धोय, फिर शीघ्र ही इकट्ठे बैठकर भोजन करन लगे। इत्यादि

उपरोक्त वाक्य में, 'छ्रणेक', 'धोय', 'करन लगे', इत्यादि खड़ी बोली के शुद्ध रूप नहीं हैं वरन् अस्थिर रूप हैं। लेखक ने इसी पुस्तक में अन्य स्थानों पर 'एक छण' 'धो कर' और 'करने लगे' इत्यादि का भी प्रयोग किया है जो स्थिर और शुद्ध रूप हैं। इसी प्रकार ईश्वरीप्रसाद शर्मा 'नवान्ननंदिनी' उपन्यास में लिखते हैं :

'यद्यपि वे प्रेम के प्लेटफ़ारम पर अभिनय करने की इच्छा नहीं रखते थे तो भी घटनाओं के जाल में फँसकर अनजानते ही में उन्हें प्रेम के रंगमंच पर आना पड़ा।'

इसमें लेखक ने एक ही वाक्य में 'प्लेटफारम' और 'रंगमच' दोनों का प्रयोग किया है। प्लेटफारम हिन्दी का शब्द नहीं है और 'रंगमच' के रहते इसका प्रयोग अनुचित है। फिर 'अनजानते', 'अनजाने' का अस्थिर रूप है। इस प्रकार भाषा में व्याकरण-संबंधी अनेक अशुद्धियाँ आ रही थीं।

तीसरी समस्या भाषा में शब्दों का अभाव था। हिन्दी का शब्द भंडार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यंजना नहीं हो सकती थी और बोलचाल की भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। अन्य भाषा से अनुवाद करते समय नए शब्द तो गढ़ने ही पड़ते थे, परंतु कभी कभी तो अपने मौलिक विचार और भाव भी लेखकगण बिना बोलचाल के शब्दों की सहायता के प्रकट नहीं कर पाते थे। उदाहरण के लिए, सरजूप्रसाद मिश्र अपने अनुवाद-ग्रंथ 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियों का समय-निरूपण' (१६०१) की भूमिका में लिखते हैं :

भारतवर्षीय कविगण के जीवन समय-निरूपण-विषयक कोई पुस्तक नहीं है, ऐसा कहकर कुछ लोग मुँह पिचकाते हैं। यहाँ इस न्यूनता का हेतु यही है कि इतिहास लिखने की परिपाटी नहीं है। महापण्डित विल्सन महाशय आदि लोगों ने इस विषय के खोजखाज में दट के यत्न किया अवश्य, पर भली भाँति इस कार्य के पूरा करने में कोई समर्थ न हुआ। हाँ, इतना कहेंगे कि सौभाग्य से उनकी देखादेखी अब यहाँ वाले भी इस विषय में कुछ चूँ चो करने लगे हैं। इत्यादि

इस में रेखांकित शब्द बोलचाल की भाषा से लिए गए हैं जिन्हें पंजाब और रायपुर के निवासी कठिनता से समझ सकेंगे। उपन्यास-लेखकों ने तो इस प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग किया, जैसे 'अलँग'* 'भभरा'† इत्यादि। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने नवाबनन्दिनी' में 'बेरहा,' 'सोहराना',§ 'लगे -भे' इत्यादि किशोरीलाल गोस्वामी ने 'स्वर्गीय कुसुम' में 'ठसाठस', 'भहराना', 'टटा बखेड़ा', 'सार रखना', 'टामना' और 'तर्रा' तथा 'चपला' में 'हुमचना', 'फचूँटर', 'चोंचले', 'घकियाना', 'चामना', 'हाड़', लाँगर', 'अगोरना', 'पुक्का मारकर रोना' इत्यादि और लज्जाराम मेहता ने 'आदर्श हिन्दू' में 'त्रिरियाँ', टोकरा', 'झमेला' 'सार्टे', 'झुर झुर कर मरना', 'खुप जाना' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया। वे बोलचाल के शब्द समस्त हिन्दी प्रदेश मे नहीं समझे जा सकते थे फिर भी समुचित अर्थ व्यजना के लिए इनका प्रयोग आवश्यक था।

हिन्दी के शब्द-भंडार के अभाव का प्रधान कारण यह था कि हिन्दी में अब तक केवल पद्य ही लिखा जाता था, गद्य-साहित्य का नितांत अभाव था। पद्य की भाषा का शब्द-भडार बहुत ही सकुचित हुआ करता है और अलकार, ध्वनि, व्यजना, लक्षणा और वक्रोक्ति के सहारे उन थोड़े से शब्दों से ही बहुत अधिक काम निकाला जाता है। परतु गद्य में इन साधनों का सहारा नहीं लिया जा सकता, इसी कारण गद्य के लिए बहुत विस्तृत और समृद्ध शब्द-भडार की आवश्यकता होती है।

अतिम समस्या हिन्दी का उर्दू के साथ सघर्ष था और यह समस्या अन्य समस्याओं की अपेक्षा बहुत ही गभीर और जटिल थी। हिन्दी के प्रचार के साथ ही साथ उर्दू का प्रचार और महत्त्व निरतर घटता जा रहा था। पजाब और पश्चिमी सयुक्त-प्रात में सभी जाति के हिन्दू साधारणतया उर्दू ही पढ़ा करते थे। धर्मग्रथ भी प्रायः लोग उर्दू ही में पढ़ते थे। यहाँ तक कि वे अपने बच्चों को 'एकबाल' और 'खुरशेद बहादुर' कहते तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करते थे। सिक्खों के नवें गुरु का नाम 'तेग बहादुर' भी उर्दू का प्रभाव प्रकट करता है। कचहरियों की भाषा भी उर्दू थी। इस प्रकार पजाब और

---

* उनके एक अलँग शैलबाला घोर निद्रा में मग्न थी।

† तुम्हारा मुख भभरा क्यों है?

§ खुली लटें धूल में सोहरा रही हैं।

संयुक्त-प्रांत में उर्दू का बोलबाला था। १८६४-६५ में संयुक्त-प्रांत में केवल ३५४ हिन्दी की पुस्तकें प्रकाशित हुईं जब कि उर्दू की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या ६२३ थी। इससे पहले हिन्दी की पुस्तकें और भी कम प्रकाशित होती थीं—१८६३-६४ में केवल ३०६ पुस्तके प्रकाशित हुईं और १८६२-६३ में केवल २०८। इसके विपरीत उर्दू की पुस्तकें बहुत अधिक सख्या में प्रकाशित होती थीं। परंतु धीरे धीरे हिन्दी का प्रचार बढने लगा और १६०० ई० में हिन्दी भी कचहरियों में प्रयुक्त होने लगी। इसका फल यह हुआ कि १६०४-५ में इस प्रात में ५६७ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुईं जब कि उर्दू पुस्तकों की संख्या केवल ४५१ रह गई। मुसलमानों ने हिन्दी के विरुद्ध आदोलन आरभ कर दिया। एक मौलवी असगर अली ने तो यहाँ तक कह डाला कि सयुक्त-प्रात में हिन्दी नाम की किसी भाषा का अस्तित्व ही नहीं है, न था; यह तो हिन्दुओं ने उर्दू की उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकाने के लिए सस्कृत शब्दों को मिला मिलाकर हिन्दी नाम की एक नई भाषा पैदा कर ली है। परतु मुसलमानों के इस असत्य आदोलन का कुछ भी फल न निकला और हिन्दी का प्रचार निरतर बढता ही गया और हिन्दू अधिक से अधिक सख्या में हिन्दी को अपनाने लगे।

हिन्दी-उर्दू के इस सघर्ष से यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि हिन्दी में फारसी और उर्दू के शब्दों का प्रयोग होना चाहिए या नहीं। इस विषय में विद्वानों के अनेक मत थे। प्रसिद्ध देशभक्त लाला हरदयाल का मत था कि फारसी, अरबी और उर्दू के विदेशी शब्द हमारी प्राचीन दासता के अवशेष चिह्न और प्रतीक-स्वरूप हैं, और अब, जब कि हम उस दासत्व अवस्था को पार कर चुके हैं मुसलमानों के किसी दासत्व-बधन के अवशेप-चिह्न रखकर अपनी लज्जा का विस्तार नहीं बढाएँगे। उन्होंने फारसी और उर्दू शब्दों के बहिष्कार का मत्र दिया। मथुराप्रसाद मिश्र ने अपने 'हिन्दी-कोष' की भूमिका में बड़ी विद्वत्ता के साथ प्रमाणित किया कि हिन्दी ही सयुक्त-प्रात के हिन्दुओं की एक मात्र भाषा थी, परतु परिस्थितियों के विकट षड्यत्र से उसे राज-दरबारों और नागरिक-समाज से निर्वासित होना पड़ा और अब वह गाँवों तक ही सीमित है। परतु हिन्दू अब भी अपने घरों में हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं, उनके धर्म-ग्रंथ—'रामायण', 'प्रेमसागर', 'भागवत' आदि सभी हिन्दी में ही हैं। अपने कोष की भूमिका में वे लिखते हैं :

The character of the mass of the people is to be raised. They must be taught to read and

write—not in the language of those by whom they were illtreated, abused and oppressed, but in the genial speech of their ancestors, which is their valuable inheritence

अर्थात्—जनता के चरित्र को उन्नत करना चाहिए। उन्हें लिखना पढ़ना सिखाना चाहिए—किन्तु उन लोगों की भाषा में नहीं जिन्हों ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया, उनको गालियाँ दी और उनपर अत्याचार किए, वरन् उनके पूर्वजों की सहृदय भाषा में जो उनकी बहुमूल्य पैतृक सम्पत्ति है। उर्दू के वे कट्टर विरोधी थे, फिर भी उन विदेशी शब्दों का बहिष्कार करना वे अच्छा नहीं समझते थे जो साधारण बोलचाल की भाषा में आगए हैं। जहाँ पर सरल और बोलचाल की हिन्दी का शब्द-भंडार पूरा नहीं पड़ता वहाँ पर उन्होंने विदेशी शब्दों की अपेक्षा संस्कृत शब्दों के प्रयोग का मत स्थिर किया।

बनारस के मासिक पत्र फारसी और उर्दू के शब्दों के पूर्ण बहिष्कार के पोषक थे। वे केवल तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग करते थे और उर्दू शब्दों का पूर्ण बहिष्कार। यथा, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (बनारस) में किशोरीलाल गोस्वामी लिखते हैं :

इसके अनन्तर राजा ने उस अनिर्देश्य तेजस्वी अतुल-तपोबल समन्वित धृतिमान महात्मा कश्यपनंदन महर्षि कण्व के तरु, लता पशु, पक्षी और भ्रमर झंकार से परिपूर्ण ब्रह्मानंद समान शांत रसात्मक आश्रम में पहुँचकर उस कमला सी सर्वांग-सुंदरी नारी रत्न शकुंतला को साथियों के साथ देखा।

[अभिज्ञान शाकुंतल और पद्म-पुराण', नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९००—पृ० ३८]

परंतु इस सिद्धांत के विरोधी बहुत थे। मन्नन द्विवेदी ने अपने उपन्यास 'रामलाल' (१९१४) में बनारस के पत्रों की भाषा की हँसी उड़ाई है। एक ब्राह्मण बालिका के गुम हो जाने का समाचार बनारस पत्रों में उन्होंने इस प्रकार लिखवाया है :

एक अनाथिनी ब्राह्मण-बालिका की अचानक गुम हो जाने की किम्वदंती नाना रूप से स्थान स्थान में पावस के विद्युत सदृश प्रचण्ड वेग से प्रसारित हो रही है। सम्यक् विचार बिना, विश्वासपात्र सूत्र से परिचय प्राप्त किये बिना, किसी समाचार को ब्रह्म-वाक्य न मान लेना इस पत्र क चिर परिचित नीति है।

सुतराम् इसी नियमानुसार प्रचुर धन व्यय करके निज माषनीय सम्बादवाता द्वारा हंसवत् सत्यासत्य निर्णय करके सम्प्रत सम्मति प्रदान कर रहे हैं। इत्यादि इसी प्रकार सुधाकर द्विवेदी ने भी अपनी 'राम कहानी' की भूमिका में इस भाषा की हँसी उड़ाई है। शब्दों में लीजिए :

एक दिन मेरे मित्र मुझसे मिलने के लिए मेरे घर पर आए। मैं बाहर चला गया था; वे लौट गए। दूसरे दिन मैं शहर जाता था, राह में उनके नौकर ने मुझे उनकी चिट्ठी दी। चिट्ठी में लिखा था कि 'आप के समागमनार्थ मैं गत दिवस आपके धाम पर पधारा, गृह का कपाट मुद्रित था, आप से भेंट न हुई, हताश होकर परावर्तित हुआ।' गाड़ी में मैं उनकी चिट्ठी पढ़ रहा था. थोड़ी दूर पर राह में वही मित्र मिले, मैं गाड़ी रोककर उतरा उतरते ही उन्होंने कहा कि 'कल मैं आपसे मिलने के लिए आपके घर पर गया, घर का दरवाज़ा बंद था आपसे भेंट नहीं हुई, लाचार होकर लौट आया।' मैंने उसके हाथ में उनकी चिट्ठी दी और हँसकर कहा कि इस समय जैसी सीधी बात आपके मुँह से निकलती है वैसी क़लम पकड़ने के नशे से चिट्ठी में न लिखी गई।

इन दोनों द्विवेदियों का मत था कि भाषा बोलचाल की ही लिखनी चाहिए जिसमें तद्भव तथा सर्वसाधारण में प्रचलित विदेशी शब्दों का स्वच्छंद प्रयोग हो। परतु इनकी सीधी-सादी और बोलचाल की भाषा में साहित्यिकता की छाप नहीं है, वरन् उसमें गभीरता का अभाव है। 'राम कहानी' की भाषा का एक उदाहरण निम्नलिखित है :

राजा काम काज से छुट्टी पाते ही सुमंत को साथ लेकर घोड़े पर सवार हो हवा खाने दूर निकल गया। फ स दो कोस निकल जाने पर राजा थक गया। घोड़े से उतर कर मंत्री से कहने लगा कि सुमंत अब पहले का बल नहीं। देखो मेरी जाघों में लोड़े पड़ गए. रास खींचते खींचते हाथों में छाले पड़ गए, कपड़े पसीने से तर हो गए, थकावट से मैं हाँफ रहा हूं, इन लच्छनों से जान पड़ता है कि अब बुढ़ौती की चढ़ाई है।

इसकी भाषा बहुत ही सरल है—इतनी सरल कि इसमें साहित्यिक गभीरता का लेश भी नहीं। इस भाषा का अनुकरण किसी ने भी नहीं किया, यह इसके योग्य भी न थी।

एक तीसरे वर्ग का मत था कि हिन्दी और उर्दू वास्तव में एक ही भाषा हैं; दोनों मेरठ और दिल्ली के आस पास के प्रदेश की बोली से

आधुनिक गद्य के विकास के द्वितीय काल (१८०६-१९१८) में गद्य की भाषा की पुनर्व्यवस्था हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के संपादक रूप में गद्य की भाषा को स्थिरता प्रदान करने में अथक परिश्रम किया। उन्होंने नए लेखकों को उनकी व्याकरण-संबंधी अशुद्धियों की ओर ध्यान दिलाया और स्वयं अपने परिश्रम से 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों की अशुद्धियाँ दूर कीं। अपने संपादकीय तथा अन्य लेखों द्वारा भाषा की अस्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया और उसमें स्थिरता लाने की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने विराम-चिह्नों के प्रयोग और लेखों को अनेक पैराग्राफों में विभक्त करने की आवश्यकता की ओर भी ध्यान दिया। इस प्रकार भाषा की अर्थ-व्यंजना और तार्किकता में स्पष्टता आ गई। शब्दों को उन्होंने तीन भिन्न वर्गों में विभाजित किया (१) प्रांतज, जिसे किसी प्रांत-विशेष के लोग ही समझ सकते हैं, (२) क्षणभंगुर, जो किसी विशेष कारण से केवल कुछ समय के लिए ही गढ़ लिए गए हों और (३) व्यापक, जो हिन्दी प्रदेश के सभी लोगों की समझ में आ सकें। उन्होंने प्रांतज और क्षणभंगुर शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं बताया और व्यापक शब्दों के प्रयोग के लिए लोगों को उत्साहित किया। उन्होंने 'प्रेम फसफसाया' और 'शौक चर्राया' जैसे अश्लील शब्दों के प्रयोग का भी विरोध किया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य की भाषा को एक निश्चित साहित्यिक रूप देकर गद्य-साहित्य की परंपरा चलाई थी, परंतु वह अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी और सर्वसाधारण में हिन्दी के प्रचार से वह विशृंखल और अव्यवस्थित हो गई। गोष्ठी-साहित्य के उपयुक्त इस भाषा का खुली जलवायु में दम घुटने लगा। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साधारण जनता में प्रचार के लिए उपयुक्त भाषा को स्थिर और निश्चित रूप देकर गद्य-साहित्य की एक नई परंपरा चलाई जो आधुनिक काल में निरंतर विकसित होती जा रही है।

भाषा के स्थिर और व्यवस्थित होने पर नवीन गद्य-शैली का विकास हुआ और क्रमशः गद्य में लय, संगीत और कला का विकास हुआ। इनका विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में आगे मिलेगा।

शब्द-भंडार

उन्नीसवीं शताब्दी के गोष्ठी-साहित्य के युग में हिन्दी का शब्द-भंडार

बहुत ही अपर्याप्त था, वह केवल कुछ तद्भव, तत्सम और जनसाधारण में प्रचलित फ़ारसी और अरबी के शब्दों तक ही सीमित था। जब कभी नए शब्दों की आवश्यकता पड़ती थी तो बोलियों से ले लिए जाते थे। परंतु बीसवीं शताब्दी में जब उपन्यास और उपयोगी साहित्य की रचना होने लगी तब उन्नीसवीं शताब्दी का शब्द-भंडार बहुत ही अपर्याप्त और तुच्छ प्रमाणित हुआ। नए नए भावों और विचारों की व्यंजना के लिए उस भंडार में शब्द ही न थे और इस कारण हिन्दी का शब्द-भंडार बढ़ाने की अत्यंत आवश्यकता थी। साधारण बातचीत के लिए भी हमें उपयुक्त शब्द खोजने पर भी न मिलते थे। पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते समय यह अभाव बहुत ही खटकता था और कोई दूसरा उपाय न मिलने पर विदेशी शब्द ही लिखने पड़ते थे। यथा, सत्यदेव अमेरिका से लिखते हैं :

मैं चुप हो गया। हमारी नस नस में aristocracy महापुरुषता भरी है, क्या यह सच नहीं है? सच है। किस घृणा की दृष्टि से तेली, चमार, लोहार, धोबी, मोची आदि देखे जाते हैं। इत्यादि

[सरस्वती, अक्तूबर १९०७]

लेखक को aristocracy का हिन्दी रूपांतर नहीं मिला क्योंकि हिन्दी में था ही नहीं। लिखते समय उसने एक उपयुक्त रूपांतर गढ़ने का पूरा प्रयत्न किया और शायद बहुत सोचने पर एक शब्द 'महापुरुषता' मिल भी गया, परंतु लेखक को इस रूपांतर से संतोष नहीं हुआ और होता भी कैसे, 'महापुरुषता' aristoracy का ठीक अर्थ नहीं देता। इसी इसीलिए विवश हो कर उसे अँगरेज़ी शब्द ही लिख देना पड़ा। जयपुर से प्रकाशित 'समालोचक' में इस प्रकार के असंख्य उदाहरण मिलते हैं :

निरीश्वरवादी इसे प्रकृति की खिलवाड़ मानते हैं और ईश्वरवादी इसे परमेश्वर की निर्णायक शक्ति वा design का परिचय मानते हैं। यदि नाटक और उपन्यास Mirror of Nature प्रकृति के आईने का काम देते हैं, तो उनमें अवश्य प्रधानतया मानुष-भावों का चित्रण आवश्यक हुआ। किन्तु मानुष भावों में Presentiment telepathy पूर्व निश्चय भाव-संवाद प्रभृति होते हैं। इत्यादि

[समालोचक-जयपुर, नवम्बर १९०३ पृ० —७३]

आधुनिक गद्य के विकास के द्वितीय काल (१९०६-१९१६) में गद्य की भाषा की पुनर्व्यवस्था हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के संपादक रूप में गद्य की भाषा को स्थिरता प्रदान करने में अथक परिश्रम किया। उन्होंने नए लेखकों को उनकी व्याकरण-संबंधी अशुद्धियों की ओर ध्यान दिलाया और स्वयं बड़े परिश्रम से 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों की अशुद्धियाँ दूर कीं। अपने संपादकीय तथा अन्य लेखों द्वारा भाषा की अस्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया और उसमें स्थिरता लाने की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने विराम-चिह्नों के प्रयोग और लेखों को अनेक पैराग्राफों में विभक्त करने की आवश्यकता की ओर भी ध्यान दिया। इस प्रकार भाषा की अर्थ-व्यंजना और तार्किकता में स्पष्टता आ गई। शब्दों को उन्होंने तीन भिन्न वर्गों में विभाजित किया (१) प्रांतज, जिसे किसी प्रांत विशेष के लोग ही समझ सकते हैं, (२) क्षणभंगुर, जो किसी विशेष कारण से केवल कुछ समय के लिए ही गढ़ लिए गए हों और (३) व्यापक, जो हिन्दी प्रदेश के सभी लोगों की समझ में आ सकें। उन्होंने प्रांतज और क्षणभंगुर शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं बताया और व्यापक शब्दों के प्रयोग के लिए लोगों को उत्साहित किया। उन्होंने 'प्रेम फसफसाया' और 'शौक चर्राया' जैसे अश्लील शब्दों के प्रयोग का भी विरोध किया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य की भाषा को एक निश्चित साहित्यिक रूप देकर गद्य-साहित्य की परंपरा चलाई थी, परंतु वह अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी और सर्वसाधारण में हिन्दी के प्रचार से वह विशृंखल और अव्यवस्थित हो गई। गोष्ठी-साहित्य के उपयुक्त इस भाषा का खुली जलवायु में दम घुटने लगा। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साधारण जनता में प्रचार के लिए उपयुक्त भाषा को स्थिर और निश्चित रूप देकर गद्य-साहित्य की एक नई परंपरा चलाई जो आधुनिक काल में निरंतर विकसित होती जा रही है।

भाषा के स्थिर और व्यवस्थित होने पर नवीन गद्य-शैली का विकास हुआ और क्रमशः गद्य में लय, संगीत और कला का विकास हुआ। इनका विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में आगे मिलेगा।

शब्द-भंडार

उन्नीसवीं शताब्दी के गोष्ठी-साहित्य के युग में हिन्दी का शब्द-भंडार

बहुत ही अपर्याप्त था, वह केवल कुछ तद्भव, तत्सम और जनसाधारण में प्रचलित फ़ारसी और अरबी के शब्दों तक ही सीमित था। जब कभी नए शब्दों की आवश्यकता पड़ती थी तो बोलियों से ले लिए जाते थे। परंतु बीसवीं शताब्दी में जब उपन्यास और उपयोगी साहित्य की रचना होने लगी तब उन्नीसवीं शताब्दी का शब्द-भंडार बहुत ही अपर्याप्त और तुच्छ प्रमाणित हुआ। नए नए भावों और विचारों की व्यंजना के लिए उस भंडार में शब्द ही न थे और इस कारण हिन्दी का शब्द-भंडार बढ़ाने की अत्यंत आवश्यकता थी। साधारण बातचीत के लिए भी हमें उपयुक्त शब्द खोजने पर भी न मिलते थे। पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते समय यह अभाव बहुत ही खटकता था और कोई दूसरा उपाय न मिलने पर विदेशी शब्द ही लिखने पड़ते थे। यथा, सत्यदेव अमेरिका से लिखते हैं :

मैं चुप हो गया। हमारी नस नस में aristocracy **महापुरुषता भरी है, क्या यह सच नहीं है? सच है। किस घृणा की दृष्टि से तेली, चमार, लोहार, धोबी, मोची आदि देखे जाते हैं।** इत्यादि

[सरस्वती, अक्तूबर १९०७]

लेखक को aristocracy का हिन्दी रूपांतर नहीं मिला क्योंकि हिन्दी में था ही नहीं। लिखते समय उसने एक उपयुक्त रूपांतर गढ़ने का पूरा प्रयत्न किया और शायद बहुत सोचने पर एक शब्द 'महापुरुषता' मिल भी गया, परंतु लेखक को इस रूपांतर से संतोष नहीं हुआ और होता भी कैसे, 'महापुरुषता' aristoracy का ठीक अर्थ नहीं देता। इसी इसीलिए विवश हो कर उसे अँगरेज़ी शब्द ही लिख देना पड़ा। जयपुर से प्रकाशित 'समालोचक' में इस प्रकार के असंख्य उदाहरण मिलते हैं :

निरीश्वरवादी इसे प्रकृति की खिलवाड़ मानते हैं और ईश्वरवादी इसे परमेश्वर की निर्णायक शक्ति या design का परिचय मानते हैं। यदि नाटक और उपन्यास Mirror of Nature प्रकृति के आईने का काम देते हैं, तो उनमें अवश्य प्रधानतया मानुष-भावों का चित्रण आवश्यक हुआ। किन्तु मानुष भावों में Presentiment telepathy पूर्व निश्चय भाव-संवाद प्रभृति होते हैं। इत्यादि

[समालोचक-जयपुर, नवम्बर १९०३ पृ० ७३]

और भी, हरिनाथ एक good for nothing निखट्टू, सिड़ी धनी आदमी है, जिसके हृदय में दया है किन्तु असभ्य देह में छिपी हुई।

[समालोचक, सितम्बर १९०३ पृ०—३१]

और भी, पंडित मिश्र में एक यह स्वभाविक गुण है कि वे बहुत जगह motive attribute करते हैं, उद्देश्यांतर चिपकाते हैं।

[समालोचक सितम्बर १९०३ पृ—४४]

इनमें उपयुक्त हिन्दी शब्दों के अभाव के कारण लेखक को अँगरेजी शब्द लिखने पड़े। उसने उनका हिन्दी रूपातर बनाने का भी प्रयत्न किया और जहाँ बन सका वहाँ रूपातर भी साथ में दे दिया। साथ ही साथ समय के प्रभाव से बहुत से अँगरेजी शब्द हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे। 'डायरी' का कोई हिन्दी रूपातर नहीं है। एक रूपांतर बनाया भी गया किन्तु उसका प्रचार नहीं हो सका। इसी प्रकार 'टिकट', 'होटल', 'फैशन', 'पालिसी' इत्यादि उपयुक्त रूपातर के अभाव के कारण हिन्दी में प्रयुक्त होने लग गए हैं। कुछ अँगरेजी शब्द ऐसे भी हैं जिनका रूपातर तो हिन्दी में बन गया है और प्रयुक्त भी होता है, परतु अँगरेजी शब्द का भी काफी प्रचार है। 'जनता', 'अदालत', 'सूचना', 'सघ', 'बुलावा', 'डाकघर', 'अजायब घर', 'प्रदर्शिनी', 'बाग', 'सुधारक', 'देर', 'शुल्क', 'नौकरी', के साथ ही साथ 'पब्लिक', 'कोर्ट', 'नोटिस', 'काग्रेस', 'सम्मन', 'पोस्ट आफिस', 'म्यूजियम', एक्जीविशन', 'पार्क', 'रिफार्मर', 'लेट', 'फीस' और 'सर्विस' का भी काफी प्रचार है। 'दियासलाई' और 'दीप-शलाका' दो रूपातरों के होते हुए भी माचिस' (Match-box) का प्रचार उन दोनों से कहीं अधिक है। 'ब्लायकाट', 'प्रिविलेज-लीव', 'लाइन-क्लियर', 'सीनरी', इत्यादि अँगरेजी शब्दों का पुस्तकों तक में प्रयोग होता है। यथा, बदरीदत्त पाडेय 'महाराजा सूरसिंह और बादलसिंह की लड़ाई' में लिखते हैं :

विष्णु भगवान तो प्रति वर्ष चार मास की प्रिविलेज लीव (रियायती छुट्टी) लेकर हिन्दुस्थान के बड़े बड़े अँगरेज अफसरों की तरह अपने स्वास्थ्य भवन (Health-resort) क्षीरसागर को वायु परिवर्तन के निमित्त चले जाते हैं। इत्यादि

[सरस्वती, अप्रैल १९०५, पृ०—१४५]

इसमें 'प्रिविलेज लीव' (Privilege Leave) अँगरेज़ी का शब्द ज्यों का त्यों रह गया, यद्यपि Health-resort तथा Change of climate का हिन्दी रूप स्वास्थ्य-भवन और वायु-परिवर्तन प्रयुक्त हुआ है। 'परिवर्तन' नामक नाटक में राधेश्याम कथावाचक ने 'लाइन क्लियर', 'सीनरी', 'हारमोनियम' इत्यादि का प्रयोग किया है। यथा,

"अब लाइन क्लियर दूँ"

और भी एक स्थान पर मिलता है :

"लो फिर लाइन क्लीयर हुआ। अब दरवाज़ा नहीं खुल सकता।"

एक जगह पर चंदा कहती है :

"बिहारी बाबू, तुमने मुझे अपने खेल की सीनरी बना रक्खा है, मैं एक हारमोनियम हूँ, जिस पर बजाने वाला जिधर उँगली रखता है उधर ही पर्दा बोलता है।" इत्यादि

इसी प्रकार सिगनल (सिंगल) पैसेंजर (पसिंजर), पारसल, स्टेशन इत्यादि शब्द रूपांतर के अभाव में हिन्दी में प्रचलित हो गए हैं।

बीसवीं शताब्दी में हिन्दी का प्रचार उपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं और उपन्यासों द्वारा हुआ। उपयोगी साहित्य और पत्र पत्रिकाएँ हिन्दी में बिल्कुल नई थीं और पश्चिम से ली गई थीं। अतएव विज्ञान, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, व्यापार तथा समाचार-पत्र-सम्बन्धी अनेक शब्द-विशेष अँगरेज़ी से रूपांतरित होकर हिन्दी में आए। अस्तु, विज्ञान में लाइट (Light), नाइट्रोजन (Nitrogen), आक्सीजन (Oxygen), ग्रैवीटेशन (Gravitation), सेन्टर आफ़ ग्रैविटी (Centre of Gravity), फ़िज़ियालॉजी (Physiology), मिकैनिज़्म (Mechanism), स्पेक्ट्रम अनलीसिस (Spectrum Analysis) फोसाइल्स (Fossils), बैरोमीटर (Barometre) फ़ोटोग्राफ़ी (Photography), और थ्योरी आफ़ रिलेटिविटी (Theory of Relativity) इत्यादि का हिन्दी रूपांतर क्रमपूर्वक प्रकाश, नत्रजन, अम्लजन, गुरुत्वाकर्षण केन्द्राकर्षण शक्ति, शरीर शास्त्र, यन्त्र-विद्या, किरण-विकिरण, निखात द्रव्य, वायुमापक यन्त्र, आलोक-चित्रण तथा सापेक्ष्यवाद बना। सोलर सिस्टम (Solar System) का अनुवाद सौर-मंडल और सवितृ-मण्डल किया गया

मेडिसिन (Medicine) में आपरेशन (Operation) और हाइड्रोफोबिया (Hydrophobia) का रूपान्तर 'शस्त्रोपचार' और 'जलातंक रोग' हुआ। अर्थ शास्त्र मे पोलिटिकल इकानामिक्स (Political-Economics) सम्पत्ति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र कहलाया। लेबर (Labour), प्रोडक्टिव लेबर (Productive Labour), अनप्रोडक्टिव लेबर, (Unproductive Labour), वेजेज़ (Wages), एक्सचेज (Exchange), को आपरेटिव सोसाइटी (Co-operative Society) का रूपांतर क्रमश. श्रम अथवा मेहनत, उत्पादक श्रम, अनुत्पादक श्रम, वेतन, विनिमय, सम्भूय समुत्थान बनाया गया। राजनीतिक क्षेत्र में लोकल सेल्फ गवर्नमेंट (Local-self-Government), मॉनर्की (Monarchy), एनार्की (Anarchy), सोसियलिजम (Socialism) का अनुवाद 'स्वायत्त शासन', 'अखड सत्ता', 'अराजकता', 'सामाजिक पंथ अथवा 'समाजवाद' किया गया। असहयोग, सत्याग्रह, निष्क्रिय प्रतिरोध, घरना इत्यादि कुछ नए शब्द भी आविष्कृत हुए। दर्शन क्षेत्र मे यूटिलिटेरियनिजम (Utilitarianism) और इवाल्यूशन (Evolution) का अनुवाद उपयोगितावाद और विकासवाद हुआ। समाचार-पत्रों के भी कितने ही विशेष-शब्द, जैसे कालम, लीडिङ्ग आर्टिकिल, इन्टरव्यू, एडीटर पब्लीकेशन और प्रिंटिङ्ग इत्यादि का रूपातर स्तम्भ, अग्रलेख, भेंट, सपादक, प्रकाशन और मुद्रण हुआ।

विशेष शब्दों के अतिरिक्त बहुत से सामान्य शब्द भी अँगरेज़ी से रूपातरित हुए। शार्ट हैन्ड-राइटिङ्ग, रिलेटिव, एब्सोल्यूट (Absolute), दी साइन्स आफ न्यू लाइफ (The science of new life), यूनिवर्सिटी, कारपोरल रेलिक्स, (Corporal Relics), एनसाइक्लोपीडिया (Encyclopedia), इन्ट्रोडक्शन (Introduction), एपिलॉग (Epilogue) किनशिप (Kinship), कन्टेम्पोरेरी (Contemporary), रिज़रेक्शन (Reseirection), कामन सेन्स (Common-sense), और कॉलोनी (Colony) इत्यादि का अनुवाद क्रमशः शीघ्र लिपि-प्रणाली, सापेक्ष, निरपेक्ष, नव-जीवन विज्ञान, विश्वविद्यालय धातु, विश्व-कोष, उपोद्घात, उपसंहार, सगोत्रता, समकालीन अथवा समसामयिक, पुनरुत्थान, सहज बुद्धि, और उपनिवेश के रूप में हुआ। एक्सेप्शन (Exception) का रूपातर अपवाद अथवा प्रवाद बनाया गया। प्यारेलाल-रचित उपन्यास

'लवगलता' में हनीमून (Honey-moon) क रूपातर 'नव-युग्म-पर्यटन' और शेक-हैन्ड (Shake hand) का 'कर-मर्दन' किया गया है। समालोचना साहित्य के कितने ही नए शब्द अँगरेज़ी से रूपातरित होकर आए। 'कला' शब्द अँगरेज़ी के आर्ट (Art) का पर्यायवाची है। रहस्यवाद, शैली, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अभिव्यक्तिवाद, कला कला के लिए इत्यादि अँगरेज़ी के मिस्टीसिज्म (Mysticism), स्टाइल (Style), आइडियलिज्म (Idealism), रियलिज्म (Realism), एक्सप्रेशनिज्म (Expressionism) और आर्ट फार आर्ट्स सेक (Art for Art's sake) के छायानुवाद हैं। पैस्टोरल पोइट्री (Pastoral-poetry) का रूपातर 'पशुचारण-काव्य' बना। सच तो यह है कि उपयोगी साहित्य और समालोचना के क्षेत्र में हिन्दी, भाषा और भाव दोनों के लिए ही, अँगरेज़ी साहित्य की विशेष ऋणी है।

इन सामान्य और विशेष शब्दों के रूपातर के अतिरिक्त हिन्दी में कितने ही नए शब्द अँगरेजी शब्दों तथा वाक्यांशों के आधार पर गढ़े गए हैं। कन्हैयालाल पोद्दार 'महाकवि माघ' नामक लेख में एक स्थान पर लिखते हैं :

यह सच है कि प्राचीन काल के निर्मित कुछ ग्रंथ ऐसे भी पाए जाते हैं जिसमें थोड़ी ऐतिहासिक बातें भी अंगीभाव से मिलती हैं। इत्यादि

[सरस्वती, अगस्त १९०५]

इसमें 'अंगीभाव' शब्द अँगरेज़ी के पार्टली (Partly) शब्द की छाया है। महेशप्रसाद 'अरबी काव्य-दर्शन' में लिखते हैं :

अपमान की जो मर्यादा (Standard) उनकी दृष्टि में थी उसकी परिभाषा दुस्तर अवश्य है।

इसमें 'मर्यादा' स्टैन्डर्ड का अर्थ देता है और 'परिभाषा' डेफ़िनीशन (Definition) का अनुवाद है। इसी प्रकार अँगरेज़ी वाक्यांश 'ऐंगिल आफ विज़न' (Angle of vision) का रूपातर 'दृष्टिकोण', 'प्वाइन्ट आफ व्यू' (Point of view) का 'विचार-बिन्दु', 'ए बर्ड्स आई-व्यू' (A bird's eye-view) का 'विहगम-दृष्टि', 'टु कैच रेड-हैन्डेड' (To catch redhanded) का 'रँगे हाथों पकड़ना' और 'कैसिल इन दी एयर' (Castle in the air) का 'हवाई क़िला' बनाया गया है। अँगरेज़ी वाक्यांश 'एबव-सेड' (Above-said)' का हिन्दी रूपातर 'उप-

रोक्क' बना और क्रमशः इस शब्द ने इसी अर्थ के द्योतक संस्कृत शब्द 'उपयुक्त' का प्रचार बिल्कुल कम कर दिया। प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है 'मैं तो कुल्हाड़ी को कुल्हाड़ी कहता हूँ', जो अँगरेज़ी के I call a spade a spade का छायानुवाद मात्र है।

कुछ शब्द अँगरेज़ी और हिन्दी मिलाकर भी बनाए गये। 'सनातनिस्ट' और 'समाजिस्ट' शब्द ऐसे ही हैं जिनमें हिन्दी शब्दों में अँगरेज़ी प्रत्यय लगा दिये गये हैं। इसी प्रकार अँगरेज़ी शब्द 'कांग्रेस' में हिन्दी प्रत्यय लगा कर 'कांग्रेसी' अथवा 'कांग्रेसिया' शब्द बना। इस प्रकार के विचित्र मिश्रित शब्द बहुत ही कम हैं।

हिन्दी का शब्द-भण्डार भरने में अँगरेज़ी के पश्चात् बँगला का ही स्थान है। जिस प्रकार उपयोगी साहित्य और पत्र पत्रिकाओं में अँगरेज़ी के शब्द अधिक संख्या में आए उसी प्रकार उपन्यासों में बँगला शब्द और पदावली की भरमार रही। आधुनिक भारतीय भाषाओं में बँगला ने ही हिन्दी को सबसे अधिक प्रभावित किया, यहाँ तक कि सुधाकर द्विवेदी ने अपनी 'राम कहानी' में हिन्दी को 'बँगला की दुहिता' नाम दिया। बँगला के इस अत्यधिक प्रभाव के मुख्य दो कारण हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं में बंगला में ही सबसे अधिक प्रौढ़ और उन्नतिशील साहित्य मिलता है और हिन्दी के पड़ोसी होने के नाते उसका प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। फिर संयुक्त प्रांत के बाहर बंगाल में ही हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन सबसे अधिक संख्या में होता रहा है। १९०१-२ में जब कि बम्बई में ४०, पंजाब में ६६ और मध्यप्रांत में केवल २१ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुई, अकेले बंगाल में १३३ हिन्दी पुस्तकें निकलीं, अर्थात् बम्बई, पंजाब और मध्यप्रांत सब में मिलाकर १२२ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुईं उससे अधिक अकेले बङ्गाल से निकलीं। इसी प्रकार १९०३-४ में बम्बई, पंजाब और मध्यप्रांत तीनों में मिलकर ९२ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुई और अकेले बंगाल से १७५ हिन्दी पुस्तकें निकलीं। फिर बंगाल की राजधानी और भारतवर्ष का सर्वप्रधान नगर कलकत्ता, मारवाड़ी तथा हिन्दी-भाषी जनता के कारण हिन्दी का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है और संयुक्तप्रांत के बाहर तो यह सबसे बड़ा केन्द्र है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दस वर्षों में अनेक बँगला उपन्यास हिन्दी में अनुवादित हुए और इन अनुवादों के द्वारा अनेक नए शब्द हिन्दी के शब्द-भंडार में आए। उदाहरण के लिए कुछ नए शब्द इस प्रकार हैं—त्रैकालिक

आकाश[1], अप्रतिहत[1], विचक्षण[1], दोर्दण्ड प्रताप[1], निष्पत्ति[2], निगूढ[2], प्रमथिता[3], प्रव्रजिता[3], स्फीत[3], उच्छ्वसित[3], सश्रव[3], स्थूलोज्ज्वल[4], प्रकोष्ठ[4], श्मश्रु[4], जलोच्छ्वास[5], अवसन्न[5], आधिक्लिष्ट मुख[5], कर्णाभिमुखी[6], आप्लुत[6], वाताभिहता[6] और ह्रद[6]। ब्रजनन्दन सहाय राधिकारमण सिंह इत्यादि अगणित लेखकों ने अपने मौलिक ग्रंथों में भी बँगला शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया। यथा, 'अरण्य-बाला' में ब्रजनन्दन सहाय लिखते हैं :

कल जो नदी कलकल नाद करती हुई सुन्दर क्षुद्र वीचिका-माला को अपने वक्षस्थल पर खेलाती हुई मंद गति से सागरोन्मुख अग्रसर हो रही थी, आज वह उत्ताल तरंगों से उत्पलित होती हुई जल राशि को छिन्न भिन्न करती हुई, अपने करारों को ढहाती हुई, तीरस्थ द्रुमों को गिराती, घोर नाद करती, प्रबल वेग से जलधि की ओर दौड़ने लगेगी। इत्यादि

उपरोक्त उद्धरण में रेखांकित शब्द और पदावली बँगला से प्रभावित हैं। निस्सन्देह वे सभी शब्द शुद्ध संस्कृत तत्सम हैं, परन्तु हिन्दी में वे बँगला के प्रभाव से ही आए, सीधे संस्कृत से नहीं लिए गए।

जिस प्रकार अँगरेजी से हिन्दी को कितने ही नये वाक्यांश और मुहावरे मिले, उसी प्रकार बँगला से कोमल-कान्त-पदावली मिली। अनुवाद-ग्रन्थों में इस प्रकार की कोमल-कान्त-पदावली बहुत मिलेगी। जैसे, वर्षा-जल-निषिक्त-पद्म[3], वसन्त-निकुञ्ज-प्रह्लादिनी[3], वर्षा-वारि-राशि प्रमथिता[3], श्मश्रु सुशोभित-प्रशांत-ललाट[4], वीचि-विभङ्ग मयी-गङ्गा[7] तरङ्ग ताड़ित तृण-गुच्छ[7], वेश-वेश-प्रसाधन-रता तरुणी[7], स्नेह-निर्झर[7], आशैशव अभ्यस्त-जीवन-प्रवाह[7], इत्यादि। एक और उदाहरण 'विरागिनी' से लीजिये :

इस समय स्वर्ण इन कुछ बातों को भूल-सी गई, केवल याद रहा निर्मल-जल पूर्ण तालाब, पुष्पित चंपक-वृक्ष सुरभिवाही-धीर-समीरण, निविड़ शाखा-पत्र-भेदी अस्ताचल-गामी-सूर्य-किरणें, आन्दोलित छाया हृदय-स्पर्शी मर्म भेदी विहग-रव, वही अमृतमय परिचित-मृदु-कण्ठ स्वर, संक्षिप्त आनन्द का संभाषण, अपूर्व-ज्योतिर्मयी यंत्रणा युक्त-चितवन और वही मल्लिका कुसुम सुन्दर मृदु-स्पर्श-

१—महाराष्ट्र-जीवन-प्रभात। २—गोरा[illegible]। ३—दुर्गेशनन्दिनी। ४—चन्द्रशेखर। ५—विष-वृक्ष। ६—[illegible] सुन्दरी। ७—[illegible]।

चुम्बन एवं सुख-सुप्त जीवन का प्रथम जागरण, अंग का प्रथम प्रेम-स्पर्श, जीवनामृत का प्रथम आस्वादन और फिर प्राण-प्रवाह का प्रथम तरंग। इत्यादि पूरा उद्धरण कोमल-कान्त-पदावली मे पूर्ण है। यहाँ बँगला की देन है।

अँगरेजी और बँगला के अतिरिक्त मराठी और संस्कृत ने भी हिन्दी शब्द-भण्डार की वृद्धि की। प्रत्यवाय, घटाटोप, सजग, प्रगति, लागू, चालू, बाजू, सीताफल, श्रीमन्ती (श्रीमन्ती हार) इत्यादि शब्द मराठी की देन हैं; और संस्कृत से तो अगणित शब्द हिन्दी मे आए। कुछ संस्कृत शब्द हिन्दी में बिल्कुल भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त होने लगे हैं। 'बाधित' का संस्कृत में अर्थ था 'बाधा दिया गया' परन्तु हिन्दी में उसका प्रयोग 'कृतज्ञ' के अर्थ में होने लगा है। इसी प्रकार निर्भर, आन्दोलन, कटिबद्ध इत्यादि शब्द हिन्दी मे संस्कृत से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

भक्तिकाल तथा रीतिकाल में उर्दू, फारसी और अरबी ने हिन्दी के शब्द-भण्डार में काफी वृद्धि की थी। 'उमर-दराज महराज तेरी चाहिए' तथा 'मैंने विभीषण की कुछ न सबील की' में 'उमर-दराज' और 'सबील' फ़ारसी के शब्द हैं। परन्तु बीसवीं शताब्दी में हिन्दी-उर्दू-संघर्ष के कारण फ़ारसी और अरबी शब्दों के प्रयोग के स्थान पर उनका बहिष्कार ही अधिक श्रेयस्कर समझा गया। फिर भी जब जनता में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा तब बहुत से उर्दू और फारसी के हिन्दू विद्वान् उर्दू लिखना छोड़ हिन्दी की ओर झुके, और साथ-ही-साथ फारसी के शब्द-भण्डार से कुछ शब्द लेते ही आए। पद्मसिंह शर्मा, महेशप्रसाद, प्रेमचन्द और सुदर्शन इत्यादि उर्दू फ़ारसी के विद्वान् और लेखक थे, उनकी हिन्दी-रचनाओं में उर्दू और फारसी शब्दों के दर्शन हो जाते हैं, परन्तु बहुत कम।

हिन्दी के नए शब्द भण्डार की परीक्षा करने पर उनमें दो मुख्य विशेषताएँ मिलती हैं। पहली विशेषता यह है कि नए शब्दों में प्रतिशत नब्बे से अधिक शब्द संस्कृत धातु-रूपों के आधार पर बनाए गए हैं। जब नए शब्द गढ़ने की आवश्यकता हुई तब संस्कृत ही एक ऐसी भाषा पाई गई जिसमें निश्चित धातुओं के आधार पर असंख्य शब्द सरलतापूर्वक गढे जा सकते थे। बँगला ने पहले ही संस्कृत की इस विशेषता का पूर्ण उपयोग किया था और बीसवीं शताब्दी में आवश्यकता पड़ने पर हिन्दी ने भी बँगला का अनुसरण किया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम में मद्रास की अदयार लाइब्रेरी के संचालक डाक्टर श्रेडर ने भारतवर्ष की सभी प्रधान भाषाओं के सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् यह निश्चित किया था कि मूल संस्कृत (Basic Samskrita) ही एकमात्र भारत की सामान्य भाषा Lingua-Franca) हो सकती है, क्योंकि नए शब्द गढ़ने की योग्यता इस भाषा से बढ़कर किसी भी भाषा में मिलनी संभव नहीं है। बीसवीं शताब्दी में जब कि आधुनिक भारतीय भाषाओं की पर्याप्त उन्नति और विकास हो चुका है, मूल संस्कृत को सामान्य भाषा मानना किसी भी प्रकार संभव न था, परंतु इसके पश्चात् जो बात संभव थी वही हुआ अर्थात् संस्कृत के मूल धातुओं से नए शब्द गढे जाने लगे। फिर बँगला, जिसका हिन्दी पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, मूलतः संस्कृत शब्दों से भरी हुई थी। मुसलमानों ने हिन्दी का बहुत अधिक विरोध किया था इस से हिन्दुओं तथा हिन्दी-विद्वानों को उर्दू, फारसी तथा अरबी शब्दों से घृणा-सी हो गई थी और वे संस्कृत शब्दों की ओर झुके। इसके अतिरिक्त पुरातत्त्व विभाग की खोजों से हिन्दुओं को अपने अतीत गौरव और संस्कृति का अभिमान हो चला और वे प्राचीन साहित्य, इतिहास, दर्शन और संस्कृति का अध्ययन और मनन करने लगे और उनका ध्यान संस्कृत की ओर गया। फिर ललित-कलाओं—संगीत, चित्रकला, स्थापत्य तथा वास्तुकला—के पुनरुत्थान से प्राचीन कला और साहित्य की ओर हिन्दू-जनता की दृष्टि गई। पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के काव्य और नाटकों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करके भारतीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत-काव्य और नाटकों की ओर आकर्षित किया और नित्य अधिक संख्या में लोग संस्कृत का अध्ययन करने लगे। इन सभी कारणों से हिन्दी में संस्कृत का शब्द-भंडार क्रमशः बढने लगा और अगणित नए शब्द संस्कृत से लिए और गढ़े गए।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि जब हिन्दी-प्रदेश की विविध ग्रामीण बोलियों से कितने ही नए और उपयुक्त शब्द लिए जा सकते थे तब संस्कृत से कठिन शब्द लेने और गढ़ने की क्या आवश्यकता थी। बात यह थी कि हिन्दीभाषी-प्रदेश उत्तरी भारत में दूर तक फैला हुआ है और एक हिन्दी-प्रांत की बोली के शब्द दूसरे प्रांत के आदमियों की समझ में ठीक से नहीं आ सकते। इसलिए प्रांतज शब्दों की अपेक्षा संस्कृत शब्द, जो पंजाब के अतिरिक्त सभी जगह समझे जा सकते थे, अधिक संख्या में लिए गए। फिर बोलियों के शब्दों में कुछ ग्रामीणता और अश्लीलता की गंध

चुम्बन एवं सुप्त-लुप्त जीवन का प्रथम जागरण, अंग का प्रथम प्रेम-स्पर्श, जीवनामृत का प्रथम आस्वादन और फिर प्राण प्रवाह का प्रथम तरंग। इत्यादि पूरा उद्धरण कोमल-कान्त-पदावली से पूर्ण है। यही बँगला की देन है।

अँगरेजी और बँगला के अतिरिक्त मराठी और संस्कृत ने भी हिन्दी शब्द-भण्डार की वृद्धि की। प्रत्यवाय, घटाटोप, ग्रन्थ, प्रगति, लागू, चालू, बाजू, सीताफल, श्रीमन्ती (श्रीमन्ती ठाट) इत्यादि शब्द मराठी की देन हैं; और संस्कृत से तो अगणित शब्द हिन्दी में आए। कुछ संस्कृत शब्द हिन्दी में बिल्कुल भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं। 'बाधित' का संस्कृत में अर्थ था 'बाधा दिया गया' परन्तु हिन्दी में उसका प्रयोग 'कृतज्ञ' के अर्थ में होने लगा है। इसी प्रकार निर्भर, आदोलन, कदाचित् इत्यादि शब्द हिन्दी में संस्कृत से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

भक्तिकाल तथा रीतिकाल में उर्दू, फारसी और अरबी ने हिन्दी के शब्द-भण्डार में काफी वृद्धि की थी। 'उमर-दराज महराज तेरी चाहिए' तथा 'मैंने बिभीषण की कुछ न सबील की' में 'उमर-दराज' और 'सबील' फ़ारसी के शब्द हैं। परन्तु बीसवीं शताब्दी में हिन्दी-उर्दू-संघर्ष के कारण फारसी और अरबी शब्दों के प्रयोग के स्थान पर उनका बहिष्कार ही अधिक श्रेयस्कर समझा गया। फिर भी जब जनता में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा तब बहुत से उर्दू और फारसी के हिन्दू विद्वान् उर्दू लिखना छोड़ हिन्दी की ओर झुके, और साथ-ही-साथ फारसी के शब्द-भण्डार से कुछ शब्द लेते ही आए। पद्मसिंह शर्मा, महेशप्रसाद, प्रेमचन्द और सुदर्शन इत्यादि उर्दू फारसी के विद्वान् और लेखक थे, उनकी हिन्दी-रचनाओं में उर्दू और फ़ारसी शब्दों के दर्शन हो जाते हैं, परन्तु बहुत कम।

हिन्दी के नए शब्द भण्डार की परीक्षा करने पर उनमें दो मुख्य विशेषताएँ मिलती हैं। पहली विशेषता यह है कि नए शब्दों में प्रतिशत नब्बे से अधिक शब्द संस्कृत धातु-रूपों के आधार पर बनाए गए हैं। जब नए शब्द गढ़ने की आवश्यकता हुई तब संस्कृत ही एक ऐसी भाषा पाई गई जिसमें निश्चित धातुओं के आधार पर असंख्य शब्द सरलतापूर्वक गढे जा सकते थे। बँगला ने पहले ही संस्कृत की इस विशेषता का पूर्ण उपयोग किया था और बीसवीं शताब्दी में आवश्यकता पड़ने पर हिन्दी ने भी बँगला का अनुसरण किया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मद्रास की अद्यार लाइब्रेरी के संचालक डाक्टर श्रेडर ने भारतवर्ष की सभी प्रधान भाषाओं के सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् यह निश्चित किया था कि मूल संस्कृत (Basic Samskrita) ही एकमात्र भारत की सामान्य भाषा (Lingua-Franca) हो सकती है, क्योंकि नए शब्द गढ़ने की योग्यता इस भाषा से बढ़कर किसी भी भाषा में मिलनी संभव नहीं है। बीसवीं शताब्दी में जब कि आधुनिक भारतीय भाषाओं की पर्याप्त उन्नति और विकास हो चुका है, मूल संस्कृत को सामान्य भाषा मानना किसी भी प्रकार संभव न था, परंतु इसके पश्चात् जो बात संभव थी वही हुआ अर्थात् संस्कृत के मूल धातुओं से नए शब्द गढ़े जाने लगे। फिर बँगला, जिसका हिन्दी पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, मूलतः संस्कृत शब्दों से भरी हुई थी। मुसलमानों ने हिन्दी का बहुत अधिक विरोध किया था इस से हिन्दुओं तथा हिन्दी-विद्वानों को उर्दू, फारसी तथा अरबी शब्दों से घृणा-सी हो गई थी और वे संस्कृत शब्दों की ओर झुके। इसके अतिरिक्त पुरातत्त्व विभाग की खोजों से हिन्दुओं को अपने अतीत गौरव और संस्कृति का अभिमान हो चला और वे प्राचीन साहित्य, इतिहास, दर्शन और संस्कृति का अध्ययन और मनन करने लगे और उनका ध्यान संस्कृत की ओर गया। फिर ललित-कलाओं—संगीत, चित्रकला, स्थापत्य तथा वास्तुकला—के पुनरुत्थान से प्राचीन कला और साहित्य की ओर हिन्दू-जनता की दृष्टि गई। पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के काव्य और नाटकों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करके भारतीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत-काव्य और नाटकों की ओर आकर्षित किया और नित्य अधिक संख्या में लोग संस्कृत का अध्ययन करने लगे। इन सभी कारणों से हिन्दी में संस्कृत का शब्द-भंडार क्रमशः बढ़ने लगा और अगणित नए शब्द संस्कृत से लिए और गढ़े गए।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि जब हिन्दी-प्रदेश की विविध ग्रामीण बोलियों से कितने ही नए और उपयुक्त शब्द लिए जा सकते थे तब संस्कृत से कठिन शब्द लेने और गढ़ने की क्या आवश्यकता थी। बात यह थी कि हिन्दीभाषी-प्रदेश उत्तरी भारत में दूर तक फैला हुआ है और एक हिन्दी-प्रांत की बोली के शब्द दूसरे प्रांत के आदमियों की समझ में ठीक से नहीं आ सकते। इसलिए प्रांतज शब्दों की अपेक्षा संस्कृत शब्द, जो पंजाब के अतिरिक्त सभी जगह समझे जा सकते थे, अधिक संख्या में लिए गए। फिर बोलियों के शब्दों में कुछ ग्रामीणता और अश्लीलता की गंध

आती है जिसे नगरनिवासी सहन नहीं कर सकते। इस कारण भी बोलियों के शब्द भाषा में बहुत कम लिए गए।

हिन्दी के शब्द भंडार की दूसरी विशेषता यह थी कि बहुत से शब्द केवल इसलिए प्रयुक्त हो रहे थे कि वे नए और श्रुति-मधुर थे। 'अभिनव' उसी अर्थ का द्योतक है जिसका 'नव' फिर भी 'अभिनव' का प्रचार 'नव' के समान ही रहा। इसी प्रकार प्रभावित, प्रसाधन, शौर्य, प्रांगण प्रभावना, बाहुल्य, गौरव, लाघव, निखिल, विनिन्दित, माधुर्य इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ जब कि इनसे सरल और समान अर्थवाले शब्द [illegible], साधन, शूरता प्रसन्नता भावना, बहुलता, गुरुता, लघुता, अखिल, निन्दित और मधुरता शब्द भाषा में पहले भी प्रयुक्त हो रहे थे। निस्सन्देह बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में इन शब्दों ने भाषा में अराजकता फैलाने में विशेष भाग लिया था, उस समय पाठकों को ये नए शब्द व्यर्थ और भार स्वरूप जान पड़ते थे, परंतु कुछ ही वर्षों के पश्चात् जब कि गद्य में लय और संगीत लाने का प्रयत्न होने लगा, तब ये ही शब्द द्विगुणित उपयोगी प्रमाणित हुए क्योंकि इन्होंने भाषा की व्यंजना-शक्ति बहुत बढ़ा दी और साथ ही साथ मधुर तथा कोमल कांत पदावली की सृष्टि की। इस शब्द समूह को नवीन शैलीकार तथा कलाकारों ने गद्य में लय और संगीत उत्पन्न करने के लिए सफलता-पूर्वक प्रयुक्त किया। इन शब्दों के बिना 'प्रसाद', राय कृष्णदास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री कलात्मक गद्य-रचना में कभी सफल न हो सकते थे।

गद्य शैली का विकास

हिन्दी की गद्य-शैली के विकास के दो पक्ष हैं—प्रथम हिन्दी की जातीय शैली (National Style) और द्वितीय भिन्न भिन्न लेखकों की व्यक्तिगत शैली।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि बीसवीं शताब्दी के पहले हिन्दी का गद्य साहित्य गोष्ठी साहित्य था और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसके लिए जातीय शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया। परंतु बीसवीं शताब्दी में जब हिन्दी का प्रचार सर्वसाधारण में होने लगा और संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी जानने वाले लोग भी हिन्दी के लेखक बनने लगे, तब वे ज्ञात और अज्ञात रूप में उन साहित्यों की विविध शैलियों का अनुकरण करने

लगे। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी की जातीय शैलियाँ हिन्दी पर अपना प्रभाव प्रकट करने लगीं परंतु अंत में हिन्दी-प्रदेश की जातीय विशेषताओं ने अपना रूप प्रकट किया और हिन्दी की जातीय शैली का विकास होने लगा। किसी एक साहित्य की किसी विशेषता को ग्रहण किया गया और जो विशेषताएँ अपनी जातीय विशेषताओं से मेल न खाती थीं उनका बहिष्कार हुआ। किसी भाषा के शब्द और वाक्यांश तो प्रयुक्त किए गए और दूसरी भाषा के शब्द और वाक्यांश त्याज्य समझे गए। इस प्रकार ग्रहण और त्याग की नीति से अपनी जातीय शैली की आत्मा पर प्रकाश पड़ता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब कि हिन्दी में बँगला शब्द और कोमल-कांत-पदावली की बाढ़-सी आ रही थी, कुछ विद्वान् बँगला शब्दों तथा पदावली के प्रयोग के विरुद्ध अपनी आवाज़ ऊँची उठा रहे थे, और दूसरी ओर उर्दू के मुहावरे, कहावतों और बोलचाल की भाषा के प्रयोग की ओर लोगों रुचि बढ़ रही थी। परंतु शीघ्र ही हिन्दी की जातीय विशेषताओं ने अपना प्रभाव प्रकट किया और उर्दू के मुहावरे और 'आम फहम' भाषा तथा बँगला की कोमल-कांत पदावली अपनी जातीयता से मेल न खाने के कारण ग्राह्य नहीं हुए।

संस्कृत-साहित्य-काल में भी भिन्न भिन्न प्रांतों की भाषाओं की जातीय शैली और विशेषताएँ भिन्न भिन्न हुआ करती थीं। अस्तु, संस्कृत में गौडी, विदर्भी और पांचाली शैलियाँ गौड देश—बंगाल, विदर्भ देश—आधुनिक बरार और पांचाल देश—आधुनिक पश्चिमी संयुक्त-प्रांत से संबंध रखने वाली भाषाओं की विशेषताओं की द्योतक थीं। इससे यह निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि किसी प्रांत की जातीय शैली उस प्रांत के निवासियों की संस्कृति तथा अन्य विशेषताओं से निकट संबंध रखती है। हिन्दी की जातीय शैली की भी अपना व्यक्तित्व है।

संस्कृत की जातीय शैली की विशेषताएँ हैं—भाषा का शाब्दिक-इन्द्रजाल, अलंकार-प्रियता और वर्णन नैपुण्य। रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने एक लेख 'कादम्बरी का चित्र' में संस्कृत की जातीय शैली की विशेषताओं का दर्शन करते हैं :

इसके सिवा संस्कृत भाषा में ऐसा स्वर-वैचित्र्य, ध्वनि की गंभीरता और स्वाभाविक आकर्षण है कि इसका संचालन अगर निपुणता के साथ किया जा सके तो अनेक बाजों का एक ऐसा 'कन्सर्ट' बज उठता है, इसके अंतर्निहित

आती है जिसे नगरनिवासी सहन नहीं कर सकते। इस कारण भी बोलियों के शब्द भाषा में बहुत कम लिए गए।

हिन्दी के शब्द भंडार की दूसरी विशेषता यह थी कि बहुत से शब्द केवल इसलिए प्रयुक्त हो रहे थे कि वे नए और श्रुति-मधुर थे। 'अभिनव' उसी अर्थ का द्योतक है जिसका 'नव' फिर भी 'अभिनव' का प्रचार 'नव' के समान हो रहा। इसी प्रकार प्रभावित, प्रसाधन, शौर्य, प्राखर्य प्रभावना, बाहुल्य, गौरव, लाघव, निर्मल, विनिन्दित, माधुर्य इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ जब कि इनसे सरल और समान अर्थवाले शब्द भावित, साधन, शूरता, प्रखरता भावना, बहुलता, गुरुता, लघुता, अमल, निन्दित और मधुरता शब्द भाषा में पहले भी प्रयुक्त हो रहे थे। निस्सन्देह बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में इन शब्दों ने भाषा में अराजकता फैलाने में विशेष भाग लिया था, उस समय पाठकों को ये नए शब्द व्यर्थ और भार स्वरूप जान पड़ते थे, परन्तु कुछ ही वर्षों के पश्चात् जब कि गद्य में लय और संगीत लाने का प्रयत्न होने लगा, तब ये ही शब्द द्विगुणित उपयोगी प्रमाणित हुए क्योंकि इन्होंने भाषा की व्यंजना-शक्ति बहुत बढ़ा दी और साथ ही साथ मधुर तथा कोमल कांत पदावली की सृष्टि की। इस शब्द समूह को नवीन शैलीकार तथा कलाकारों ने गद्य में लय और संगीत उत्पन्न करने के लिए सफलता-पूर्वक प्रयुक्त किया। इन शब्दों के बिना 'प्रसाद', राय कृष्णदास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री कलात्मक गद्य-रचना में कभी सफल न हो सकते थे।

गद्य शैली का विकास

हिन्दी की गद्य शैली के विकास के दो पक्ष हैं—प्रथम हिन्दी की जातीय शैली (National Stylo) और द्वितीय भिन्न भिन्न लेखकों की व्यक्तिगत शैली।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि बीसवीं शताब्दी के पहले हिन्दी का गद्य साहित्य गोष्ठी साहित्य था और भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने उसके लिए जातीय शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया। परन्तु बीसवीं शताब्दी में जब हिन्दी का प्रचार सर्वसाधारण में होने लगा और संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी जानने वाले लोग भी हिन्दी के लेखक बनने लगे, तब वे ज्ञात और अज्ञात रूप में उन साहित्यों की विविध शैलियों का अनुकरण करने

दूसरी ओर बँगला गद्य-शैली की विशेषताएँ हैं—रसात्मकता की बाढ़, कोमल-कांत-पदावली, व्यंजनापूर्ण विशेषण, मधुर और सरस वर्णन। उसमें शाब्दिक जाल और अलंकारों की योजना बहुत कम मिलती है। राधिका-रमण सिंह ने बँगला गद्य शैली का सफल अनुकरण किया। 'बिजली' नामक कहानी में वे लिखते हैं :

रुं झुं! रुं झुं!! मेरी आँखें खुल जाती थीं—कान खुल जाते थे! भगवन्! यह सुरीली काकली कहाँ से आ रही है! किस कंठ का यह भूषण है? क्या कोई पंचम सुर से गा रहा है? क्या पृथ्वी की एक एक कण से बाँसुरी बज रही है? फिर क्या था! बाजा बजने लगा—आकाश से, पाताल से, फूलों से, गुल्मों से, घंटा की धमक से और सरसी के हिल्लोल से वही सुमधुर प्राण-प्लावी 'रु झुं' बजने लगी। न जाने इसमें किस विषाद, किस प्रमोद या किस अनुराग का सुर भरा था; किन्तु एक एक कल्लोल लहरी में ऐसा प्रतीत होता था कि किसी का प्राण थिरक रहा हो, या कोई भाव-विह्वल हृदय ढला पड़ता हो। इत्यादि

[गल्प-कुसुमावली—पृ० ३०]

यहाँ भाव और रस की प्रधानता है और भाषा का काम लेखक की सरस भावनाओं को कोमल कांत शब्द और लय में प्रकट करना है।

मराठी गद्य की विशेषता उसकी अलंकारिकता है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों की भरमार रहती है। सरसता और मधुरता का उसमें अभाव-सा होता है। यथा, छत्रसाल' में रामचंद्र वर्मा लिखते हैं :

रमज़ान के चौबीसवें चाँद को-प्रकाश से सहायता देने के लिए परोपकारी भगवान अंशुमाली पश्चिम दिशा में धीरे धीरे चमकने लगे। अपने परोपकारी पति का श्रम दूर करने के लिए पश्चिमा सुंदरी विश्रांत गृह के द्वार पर सलज्ज खड़ी थी। पशु पक्षी आदि अपनी अपनी भाषाओं में अपने उपकार-कर्त्ता महाराज का गुणानुवाद गाने और उनसे फिर जल्दी ही लौट आने लिए प्रार्थना करने लगे। इत्यादि

इसमें प्रवाह बहुत ही मंद है और भाषा अलंकारों से बेतरह लदी हुई है। ठीक इसके विपरीत उर्दू भाषा में शीघ्र-प्रवाह, एक आकर्षक सरलता और नाज़ व अदाज़ मिलता है। भाषा में उछल-कूद अधिक है, गंभीरता का कहीं

रागिनी में एक ऐसी अनिर्वचनीयता है कि कनिगण उस वाणी की निपुणता के द्वारा विद्वान् श्रोताओं को मुग्ध करने का क्षोभ नहीं छोड़ सकते। इसी से जिस स्थान पर भाषा को संक्षिप्त करके विषय को शीघ्रता के साथ बढ़ाने की आवश्यकता है, वहाँ भी भाषा का प्रलोभन छोड़ना कठिन हो जाता है। फल यह होता है कि ग्रंथ का विषय तो छिप जाता है और केवल शब्दाडम्बर रह जाता है। विषय की अपेक्षा शब्द अधिक बहादुरी दिखाने की चेष्टा करते हैं, और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त होती है। मोरपंख के बने ऐसे अनेक अच्छे अच्छे पंखे हैं जिनसे अच्छी तरह हवा नहीं निकलती किन्तु हवा करने का उपलक्ष्य मात्र करके केवल शोभा के लिए राजसभाओं में उनका व्यवहार होता है। इसी प्रकार राजसभा में संस्कृत-काव्य भी घटना-विन्यास के लिए उतना अधिक व्यग्र नहीं होते। केवल उनका शब्दाडम्बर, उपमा-कौशल, वर्णन-नैपुण्य ही प्रत्येक गति में राजसभा को विस्मित करता रहता है।

[प्राचीन-साहित्य—इंडियन प्रेस संस्करण—पृ० ६२-६३]

अतः रवीन्द्रनाथ के अनुसार संस्कृत की गद्य शैली मोरपंख के समान है जिसमें भाषा का शब्दाडम्बर, अलंकार और वर्णन-नैपुण्य ही की प्रधानता होती है। गोविन्दनारायण मिश्र ने अपनी अपूर्ण पुस्तिका 'कवि और चित्रकार' में संस्कृत गद्य शैली का अनुकरण किया :

सहज सुन्दर मनहर सुभाव-छबि-सुभाव-प्रभाव से सबका चितचोर सुचारु-सजीव-चित्र-रचना-चतुर-चितेरा, और जब देखो तब ही अभिनव सब नव-रस-रसीली नित नव नव भाव भरस रसीली, अनूप-रूप सरूप-गरबीली, सुजन-जन मोहन-मंत्र की कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार-सिंगार साज-सजीली छबीली कविता कल्पना-कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस जग-जन-मोहिनी, मन की सबला, सुभाव-सुंदरी अति सुकोमला अबला की नवेली, अलबेली, अनोखी छबि को आँखों के आगे परतच्छ खड़ी सी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना, तरसाना, सरसाना, हरसाना और रिझाना ही है। इत्यादि

[गोविन्द-निबंधावली—पृ० १]

यहाँ, भाव से कहीं अधिक महत्त्व भाषा को प्राप्त है और लेखक भाषा को अनुप्रास और यमक आदि आभूषणों से सज्जित करने का अतिशय प्रयत्न करता दिखाई पड़ता है।

दूसरी ओर बँगला गद्य-शैली की विशेषताएँ हैं—रसात्मकता की बाढ़, कोमल-कांत-पदावली, व्यंजनापूर्ण विशेषण, मधुर और सरस वर्णन। उसमें शाब्दिक जाल और अलंकारों की योजना बहुत कम मिलती है। राधिका-रमण सिंह ने बँगला गद्य शैली का सफल अनुकरण किया। 'बिजली' नामक कहानी में वे लिखते हैं :

रुं झुं ! रुं झुं !! मेरी आँखें खुल जाती थीं—कान खुल जाते थे ! भगवन् ! यह सुरीली काकली कहाँ से आ रही है ! किस कंठ का यह भूषण है ? क्या कोई पंचम सुर से गा रहा है ? क्या पृथ्वी की एक एक कण से बाँसुरी बज रही है ? फिर क्या था ! बाजा बजने लगा—आकाश से, पाताल से, फूलों से, गुल्मों से, घंटा की धमक से और सरसी के हिल्लोल से वही सुमधुर प्राण-प्लावी 'रुं झुं' बजने लगी। न जाने इसमें किस विषाद, किस प्रमोद या किस अनुराग का सुर भरा था : किन्तु एक एक कल्लोल लहरी में ऐसा प्रतीत होता था कि किसी का प्राण थिरक रहा हो, या कोई भाव-विह्वल हृदय ढला पड़ता हो। इत्यादि

[गल्प-कुसुमावली—पृ० ३०]

यहाँ भाव और रस की प्रधानता है और भाषा का काम लेखक की सरस भावनाओं को कोमल कांत शब्द और लय में प्रकट करना है।

मराठी गद्य की विशेषता उसकी अलंकारिकता है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों की भरमार रहती है। सरलता और मधुरता का उसमें अभाव-सा होता है। यथा, 'छत्रसाल' में रामचंद्र वर्मा लिखते हैं :

रमज़ान के चौबीसवें चाँद को-प्रकाश से सहायता देने के लिए परोपकारी भगवान अंशुमाली पश्चिम दिशा में धीरे धीरे चमकने लगे। अपने परोपकारी पति का श्रम दूर करने के लिए पश्चिमा सुंदरी विश्रांत गृह के द्वार पर सलज्ज खड़ी थी। पशु पक्षी आदि अपनी अपनी भाषाओं में अपने उपकार-कर्त्ता महाराज का गुणानुवाद गाने और उनसे फिर जल्दी ही लौट आने लिए प्रार्थना करने लगे। इत्यादि

इसमें प्रवाह बहुत ही मंद है और भाषा अलंकारों से बेतरह लदी हुई है। ठीक इसके विपरीत उर्दू भाषा में ओज-प्रवाह, एक आकर्षक चंचलता और नाज व अंदाज मिलता है। भाषा में उछल-कूद अधिक है, गंभीरता का कहीं

लेश-मात्र भी नहीं । उक्ति-वैचित्र्य और अतिशयोक्ति उर्दू की विशेषता है । पद्मसिंह शर्मा के शैली में उर्दू की गद्य शैली का सुंदर उदाहरण मिलता है । उदाहरण के लिए 'बिहारी की सतसई-भाष्य' से एक उद्धरण लीजिए

ज़रा सा दिल और इतनी मुसीबतों का सामना ! आग की भट्टी, जल की बाढ़ और आँधी का तूफ़ान—इन सब में से बारी बारी गुज़रना ! आग से बचा तो जल बहा रहा है । वहाँ से छूटा तो आँधी उड़ा रही है । ऐसे मुआमले से घबराकर ही शायद् किसी ने यह प्रार्थना की है :

मेरी क़िस्मत में ग़म गर इतना था,
दिल भी यारब ! कई दिये होते ।

[सरस्वती, अगस्त १९११, पृ० ९८५]

अँगरेज़ी की गद्य-शैली की विशेषता—भावों की स्पष्ट और सरल व्यंजना और प्रभावशालिता है । सत्यदेव (परिव्राजक) के लेखों में अँगरेज़ी गद्य-शैली की छाप मिलती है । यथा

नर हत्या का पाप भाषा-हत्या के पाप के सामने कुछ भी नहीं है । सुंदर भाषा गिरे हुओं को उठाती है, मुर्दों में जान डाल देती है, बुज़दिलों को बहादुर बना देती है आत्मा को योग का रस चखाती है, बुरी भाषा में लिखी पुस्तकें आचार को भ्रष्ट करती हैं और मन में बुरे से बुरे बीज बोती है । भाषा का दुरुपयोग करनेवाला मनुष्य समाज का भारी शत्रु है । इत्यादि

['हिन्दी साहित्य और हमारे काम', सरस्वती, अक्तूबर १९०९, पृष्ठ ४६३]

इतनी प्रकार की शैलियाँ हिन्दी पर अपना प्रभाव डाल रही थीं । हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अँगरेज़ी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यंजकता, बँगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गंभीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया । साथ-ही-साथ उसने अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगंभीरता और अतिशयोक्ति, मराठी की अलंकारिता, बँगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक प्रियता और अद्भुत शब्द-जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया । हिन्दी की जातीय शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रेमचंद की कहानी 'मुक्ति मार्ग' से लीजिए :

अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि पक्ष के योद्धा मर-मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत होकर शस्त्र प्रहार करने लगते थे। मानव पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्जवल थी, वह 'बुद्धू' था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल बाल बचकर, निकल आता था। अंत में मानव दल की विजय हुई, किन्तु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती। इत्यादि

[प्रेम-पचीसी, पृष्ठ १०९-११०]

इस भाषा में गभीरता के साथ प्रवाह है, भाव-व्यंजकता और स्पष्टता के साथ ही साथ मधुरता और सरसता है, लय और संगीत है, सरलता के साथ ही साथ गुरु गभीरता भी है। हिन्दी की जातीय शैली में संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेजी भाषाओं के सभी गुण मिलते हैं और उनके अवगुणों से वह बिल्कुल अछूती है।

हिन्दी गद्य में व्यक्तिगत शैली का विकास दो उत्थानों में हुआ। प्रथम उत्थान में शैली और कुछ नहीं, केवल वर्णित विषय को बिना किसी अलंकार अथवा सजावट के उत्कृष्ट भाषा में स्पष्ट-रूप से प्रकट कर देना मात्र था। परंतु द्वितीय उत्थान में गद्य में भी काव्य-कला के गुणों का आरोप होने लगा और वर्णित विषय को चित्र-चित्रण और लय-संगीत-संयुक्त भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न हुआ।

शैली का जन्म तो बहुत पहले उन्नीसवीं शताब्दी ही में बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में हो गया था। प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में भी व्यक्तिगत शैली की स्पष्ट छाप है। परंतु इन तीनों लेखकों की शैली गोष्ठी-साहित्य के लिए ही उपयुक्त थी, साधारण जनता के लिए उसमें आकर्षण बहुत कम था। विशेषकर बालकृष्ण भट्ट की शैली तो सर्वसाधारण पर बहुत कम प्रभाव डाल सकी। साधारण जनता में हिन्दी-प्रचार के साथ ही यह समस्या भी उठ खड़ी हुई थी कि किसी ऐसी शैली का आविष्कार होना आवश्यक है जो साधारण जनता की रुचि के अनुकूल हो। हिन्दी गद्य और शैली का कोई अन्य आदर्श लेखकों के सामने न था, उन्हें अपनी रुचि और समय के अनुकूल शैली का आविष्कार करना पड़ा। इन नवीन शैलीकारों में

लेश-मात्र भी नहीं। उक्ति-वैचित्र्य और अतिशयोक्ति उर्दू की विशेषता है। पद्मसिंह शर्मा की शैली में उर्दू की गद्य शैली का सुंदर उदाहरण मिलता है। उदाहरण के लिए 'बिहारी का विरह-वर्णन' से एक उद्धरण लीजिए.

ज़रा सा दिल और इतनी मुसीबतों का सामना! आग की भट्टी, जल की बाढ़ और आँधी का तूफ़ान—इन सब में से बारी बारी गुज़रना! आग से बचा तो जल बहा रहा है। वहाँ से छूटा तो आँधी उड़ा रही है। ऐसे मुआमले से घबराकर ही शायद किसी ने यह प्रार्थना की है :

मेरी क़िस्मत में ग़म गर इतना था,
दिल भी यारब! कई दिये होते।

[सरस्वती, अगस्त १९११, पृ० ३८५]

अँगरेज़ी की गद्य-शैली की विशेषता—भावों की स्पष्ट और सरल व्यंजना और प्रभावशालिता है। सत्यदेव (परिव्राजक) के लेखों में अँगरेज़ी गद्य-शैली की छाप मिलती है। यथा

नर हत्या का पाप भाषा-हत्या के पाप के सामने कुछ भी नहीं है। सुंदर भाषा गिरे हुओं को उठाती है, मुर्दों में जान डाल देती है, बुज़दिलों को बहादुर बना देती है आत्मा को योग का रस चखाती है, बुरी भाषा में लिखी पुस्तकें आचार को भ्रष्ट करती हैं और मन में बुरे से बुरे बीज बोती है। भाषा का दुरुपयोग करनेवाला मनुष्य समाज का भारी शत्रु है। इत्यादि

['हिन्दी साहित्य और हमारे काम', सरस्वती, अक्तूबर १९०९, पृष्ठ ४६३]

इतनी प्रकार की शैलियाँ हिन्दी पर अपना प्रभाव डाल रही थीं। हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अँगरेज़ी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यंजकता, बँगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गंभीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया। साथ-ही-साथ उसने अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगंभीरता और अतिशयोक्ति, मराठी की अलंकारिता, बँगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक प्रियता और अद्भुत शब्द-जाल को बिलकुल नहीं अपनाया। हिन्दी की जातीय शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रेमचंद की कहानी 'मुक्ति मार्ग' से लीजिए :

अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि पक्ष के योद्धा मर-मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत होकर शस्त्र प्रहार करने लगते थे। मानव पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह 'बुद्धू' था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल बाल बचकर, निकल आता था। अंत में मानव दल की विजय हुई, किन्तु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती। इत्यादि

[प्रेम-पचीसी, पृष्ठ १०९-११०]

इस भाषा में गभीरता के साथ प्रवाह है, भाव-व्यंजकता और स्पष्टता के साथ ही साथ मधुरता और सरसता है, लय और संगीत है; सरलता के साथ ही साथ गुरु गभीरता भी है। हिन्दी की जातीय शैली में संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेजी भाषाओं के सभी गुण मिलते हैं और उनके अवगुणों से वह बिल्कुल अछूती है।

हिन्दी गद्य में व्यक्तिगत शैली का विकास दो उत्थानों में हुआ। प्रथम उत्थान में शैली और कुछ नहीं, केवल वर्णित विषय को बिना किसी अलंकार अथवा सजावट के उत्कृष्ट भाषा में स्पष्ट-रूप से प्रकट कर देना मात्र था। परन्तु द्वितीय उत्थान में गद्य में भी काव्य-कला के गुणों का आरोप होने लगा और वर्णित विषय को चित्र-चित्रण और लय-संगीत-संयुक्त भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न हुआ।

शैली का जन्म तो बहुत पहले उन्नीसवीं शताब्दी ही में बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में हो गया था। प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं में भी व्यक्तिगत शैली की स्पष्ट छाप है। परन्तु इन तीनों लेखकों की शैली गोष्ठी-साहित्य के लिए ही उपयुक्त थी, साधारण जनता के लिए उसमें आकर्षण बहुत कम था। विशेषकर बालकृष्ण भट्ट की शैली तो सर्वसाधारण पर बहुत कम प्रभाव डाल सकी। साधारण जनता में हिन्दी-प्रचार के साथ ही यह समस्या भी उठ खड़ी हुई थी कि किसी ऐसी शैली का आविष्कार होना आवश्यक है जो साधारण जनता की रुचि के अनुकूल हो। हिन्दी गद्य और शैली का कोई अन्य आदर्श लेखकों के सामने न था, उन्हें अपनी रुचि और समय के अनुकूल शैली का आविष्कार करना पड़ा। इन नवीन शैलीकारों में

लेश-मात्र भी नहीं। उक्ति-वैचित्र्य और अतिशयोक्ति उर्दू की विशेषता है। पद्मसिंह शर्मा के शैली में उर्दू की गद्य शैली का सुंदर उदाहरण मिलता है। उदाहरण के लिए 'बिहारी का विरह-वर्णन' से एक उद्धरण लीजिए :

ज़रा सा दिल और इतनी मुसीबतों का सामना! आग की भट्टी, जल की बाढ़ और आँधी का तूफ़ान—इन सब में से बारी बारी गुज़रना! आग में पड़ा तो जल बहा रहा है। वहाँ से छूटा तो आँधी उड़ा रही है। ऐसे मुक़ाबले से घबराकर ही शायद किसी ने यह प्रार्थना की है :

मेरी क़िस्मत में ग़म गर इतना था,
दिल भी यारब! कई दिये होते।

[सरस्वती, अगस्त १९११, पृ० ३८५]

अँगरेज़ी की गद्य-शैली की विशेषता—भावों का स्पष्ट और सरल व्यंजना और प्रभावशालिता है। सत्यदेव (परिव्राजक) के लेखों में अँगरेज़ी गद्य-शैली की छाप मिलती है। यथा

नर हत्या का पाप भाषा-हत्या के पाप के सामने कुछ भी नहीं है। सुंदर भाषा गिरे हुओं को उठाती है, मुर्दों में जान डाल देती है, बुज़दिलों को बहादुर बना देती है आत्मा को योग का रस चखाती है, बुरी भाषा में लिखी पुस्तकें आचार को भ्रष्ट करती हैं और मन में बुरे से बुरे बीज बोती है। भाषा का दुरुपयोग करनेवाला मनुष्य समाज का भारी शत्रु है। इत्यादि

['हिन्दी साहित्य और हमारे काम', सरस्वती, अक्तूबर १९०९, पृष्ठ ४६३]

इतनी प्रकार की शैलियाँ हिन्दी पर अपना प्रभाव डाल रही थीं। हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अँगरेज़ी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यंजकता, बँगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गंभीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया। साथ-ही-साथ उसने अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगंभारता और अतिशयोक्ति, मराठी की अलंकारिता, बँगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक-प्रियता और अद्भुत शब्द-जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया। हिन्दी की जातीय शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रेमचंद की कहानी 'मुक्ति मार्ग' से लीजिए :

अग्नि मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि पक्ष के योद्धा मर मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत होकर शस्त्र प्रहार करने लगते थे। मानव पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्जवल थी, वह 'बुद्धू' था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल बाल बचकर, निकल आता था। अंत में मानव दल की विजय हुई, किन्तु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती। इत्यादि

[प्रेम-पचीसी, पृष्ठ १०९-११०]

इस भाषा में गंभीरता के साथ प्रवाह है, भाव-व्यंजकता और स्पष्टता के साथ ही साथ मधुरता और सरसता है, लय और संगीत है, सरलता के साथ ही साथ गुरु गंभीरता भी है। हिन्दी की जातीय शैली में संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेजी भाषाओं के सभी गुण मिलते हैं और उनके अवगुणों से वह बिल्कुल अछूती है।

हिन्दी गद्य में व्यक्तिगत शैली का विकास दो उत्थानों में हुआ। प्रथम उत्थान में शैली और कुछ नहीं, केवल वर्णित विषय को बिना किसी अलंकार अथवा सजावट के उत्कृष्ट भाषा में स्पष्ट-रूप से प्रकट कर देना मात्र था। परंतु द्वितीय उत्थान में गद्य में भी काव्य-कला के गुणों का आरोप होने लगा और वर्णित विषय को चित्र-चित्रण और लय-संगीत-संयुक्त भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न हुआ।

शैली का जन्म तो बहुत पहले उन्नीसवीं शताब्दी ही में बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में हो गया था। प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में भी व्यक्तिगत शैली की स्पष्ट छाप है। परंतु इन तीनों लेखकों की शैली गोष्ठी-साहित्य के लिए ही उपयुक्त थी, साधारण जनता के लिए उसमें आकर्षण बहुत कम था। विशेषकर बालकृष्ण भट्ट की शैली तो सर्वसाधारण पर बहुत कम प्रभाव डाल सकी। साधारण जनता में हिन्दी-प्रचार के साथ ही यह समस्या भी उठ खड़ी हुई थी कि किसी ऐसी शैली का आविष्कार होना आवश्यक है जो साधारण जनता की रुचि के अनुकूल हो। हिन्दी गद्य और शैली का कोई अन्य आदर्श लेखकों के सामने न था, उन्हें अपनी रुचि और समय के अनुकूल शैली का आविष्कार करना पड़ा। इन नवीन शैलीकारों में

लेश-मात्र भी नहीं। उक्ति-वैचित्र्य और अतिशयोक्ति उर्दू की विशेषता है। पद्मसिंह शर्मा के शैली में उर्दू का गद्य शैली का सुंदर उदाहरण मिलता है। उदाहरण के लिए 'बिहारी का विरह-वर्णन' से एक उद्धरण लीजिए :

ज़रा सा दिल और इतनी मुसीबतों का सामना! आग की भट्टी, जल की बाढ़ और आँधी का तूफ़ान—इन सब में से बारी बारी गुज़रना! आग से बचा तो जल बहा रहा है। वहाँ से छूटा तो आँधी उड़ा रही है। ऐसे मुआमले से घबराकर ही शायद किसी ने यह प्रार्थना की है :

मेरी क़िस्मत में ग़म गर इतना था,
दिल भी यारब! कई दिये होते।

[सरस्वती, अगस्त १९११, पृ० ३८५]

अँगरेज़ी का गद्य-शैली की विशेषता—भावों का स्पष्ट और सरल व्यंजना और प्रभावशालिता है। सत्यदेव (परिव्राजक) के लेखों में अँगरेज़ी गद्य-शैली की छाप मिलती है। यथा

नर हत्या का पाप भाषा-हत्या के पाप के सामने कुछ भी नहीं है। सुंदर भाषा गिरे हुओं को उठाती है, मुर्दों में जान डाल देती है, बुज़दिलों को बहादुर बना देती है आत्मा को योग का रस चखाती है, बुरी भाषा में लिखी पुस्तकें आचार को भ्रष्ट करती हैं और मन में बुरे से बुरे बीज बोती हैं। भाषा का दुरुपयोग करनेवाला मनुष्य समाज का भारी शत्रु है। इत्यादि

['हिन्दी साहित्य और हमारे काम', सरस्वती, अक्तूबर १९०९, पृष्ठ ४६३]

इतनी प्रकार की शैलियाँ हिन्दी पर अपना प्रभाव डाल रही थीं। हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अँगरेज़ी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यंजकता, बँगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गंभीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया। साथ-ही-साथ उसने अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगंभीरता और अतिशयोक्ति, मराठी की अलंकारिता, बँगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक-प्रियता और अद्भुत शब्द-जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया। हिन्दी की जातीय शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रेमचंद की कहानी 'मुक्ति मार्ग' से लीजिए :

अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि पक्ष के योद्धा मर-मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत्त होकर शस्त्र प्रहार करने लगते थे। मानव पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह 'बुद्धू' था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल बाल बचकर, निकल आता था। अंत में मानव दल की विजय हुई, किन्तु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती। इत्यादि

[प्रेम-पचीसी, पृष्ठ १०९-११०]

इस भाषा में गभीरता के साथ प्रवाह है, भाव-व्यजकता और स्पष्टता के साथ ही साथ मधुरता और सरसता है, लय और संगीत है, सरलता के साथ ही साथ गुरु गंभीरता भी है। हिन्दी की जातीय शैली में सस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँगरेजी भाषाओं के सभी गुण मिलते हैं और उनके अवगुणों से वह बिल्कुल अछूती है।

हिन्दी गद्य में व्यक्तिगत शैली का विकास दो उत्थानों में हुआ। प्रथम उत्थान में शैली और कुछ नहीं, केवल वर्णित विषय को बिना किसी अलकार अथवा सजावट के उत्कृष्ट भाषा में स्पष्ट-रूप से प्रकट कर देना मात्र था। परतु द्वितीय उत्थान में गद्य में भी काव्य-कला के गुणों का आरोप होने लगा और वर्णित विषय को चित्र-चित्रण और लय-सगीत-सयुक्त भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न हुआ।

शैली का जन्म तो बहुत पहले उन्नीसवीं शताब्दी ही में बालकृष्ण भट्ट के निबधों में हो गया था। प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में भी व्यक्तिगत शैली की स्पष्ट छाप है। परतु इन तीनों लेखकों की शैली गोष्ठी-साहित्य के लिए ही उपयुक्त थी, साधारण जनता के लिए उसमें आकर्षण बहुत कम था। विशेषकर बालकृष्ण भट्ट की शैली तो सर्वसाधारण पर बहुत कम प्रभाव डाल सकी। साधारण जनता में हिन्दी-प्रचार के साथ ही यह समस्या भी उठ खड़ी हुई थी कि किसी ऐसी शैली का आविष्कार होना आवश्यक है जो साधारण जनता की रुचि के अनुकूल हो। हिन्दी गद्य और शैली का कोई अन्य आदर्श लेखकों के सामने न था, उन्हें अपनी रुचि और समय के अनुकूल शैली का आविष्कार करना पड़ा। इन नवीन शैलीकारों ने

सर्वश्रेष्ठ शैली महावीर प्रसाद द्विवेदी की थी, क्योंकि उन्होंने कहानी कहने की अत्याकर्षक और मनोमुग्धकर शैली को सफलतापूर्वक साहित्यिक साँचे में ढाल दिया। कहानी कहने की कला उत्तरी भारत में सभी जगह आदर की दृष्टि से देखी जाती है। गाँवों में कहानी कहने में निपुण वक्ता श्रोताओं को माया-मंत्र के समान मुग्ध कर लेते हैं। द्विवेदी ने साहित्यिक गद्य-शैली में उसी निपुणता का परिचय दिया। कठिन से कठिन और अत्यंत जटिल समस्या को भी वे अपनी घरेलू और चित्ताकर्षक शैली में प्रकट करने में समर्थ हुए। यदि उन्हें अपने पाठकों को संस्कृत के अति कठिन काव्य 'हंस-संदेश' की कथा सुनानी पड़ती है, तो वे कहानी कहने की अद्भुत आकर्षक शैली में प्रारंभ करते हैं :

संस्कृत में 'सत्वयानंद' नामक एक बहुत ही सरस काव्य है। उसके कर्ता कवि की जुबानी एक पुरानी कथा सुनिए :

निषध देश का राजा नल एक बार वन-विहार को निकला। इत्यादि

[रसज्ञ-रंजन, पृ० ६७]

और इसी प्रकार सीधी-सादी भाषा में वे सारी कथा सुना डालते हैं। बहुत ही सीधे और सरल शब्द लेकर उन्हें वे इस प्रकार सजा देते हैं कि पाठकों को ऐसा जान पड़ता है मानों कोई कहानी ही सुन रहे हों। एक चतुर कहानी कहने वाले की भाँति बीच-बीच में पाठकों की कहानी सुनने की प्रकृति को वे गुदगुदाते भी जाते हैं। यथा :

मामूली बातें हो चुकने पर हंस ने मतलब की बात शुरू की, जिसे सुनने के लिए नल घबरा रहा था। उसने कहा "मित्र, तेरे लिए एक अनन्य असाधारण कन्या ढूँढने में मुझे बड़ी हैरानी उठानी पड़ी। पर एक भी सर्वोत्तमा रूपवती मुझे न देख पड़ी। तब मैंने ठेठ अमरावती की राह ली।" इत्यादि

[रसज्ञ-रंजन, पृ० ६९]

यदि महावीर प्रसाद द्विवेदी को कोई बहुत ही कवित्वपूर्ण और गंभीर बात भी कहानी पड़ती, तो वे उसमें इस प्रकार का घरेलू वातावरण उपस्थित कर देते, इस प्रकार के संकेत और ध्वनि ले आते, बात को इस प्रकार घुमा फिरा कर कहते कि पाठक उसे बड़ी सरलता से समझ जाते और उसका पूरा आनंद उठा पाते थे। अस्तु, जब उन्हें कालिदास के 'मेघदूत' का

एक मंदाक्रांता पाठकों को समझाना पड़ता है, तब वे अपनी शैली में कहते हैं :

ज़रा इस यक्ष की नादानी तो देखिए। आग, पानी, धुएँ और वायु के संयोग से बना हुआ कहाँ जड़ मेघ और कहाँ बड़े ही चतुर मनुष्यों के द्वारा भेजा जाने योग्य संदेशा! परंतु वियोग-जन्य दुख से व्याकुल हुए यक्ष ने इस बात का कुछ भी विचार न किया। उत्सुकता और आतुरता के कारण उसे इस बात का ध्यान ही न रहा कि बेचारा मेघ भला किस तरह संदेश ले जायगा। बात यह है कि जिस दशा में यक्ष था, उस दशा को प्राप्त होने पर लोगों की बुद्धि मारी जाती है। वे चेतन, अचेतन पदार्थों का भेद ही नहीं जान सकते। अतएव, जो काम जिसके करने योग्य नहीं उससे भी उसे करने के लिए वे प्रार्थना करने लगते हैं।

[मेघदूत, पृ० ३]

कितनी सीधी तरह लेखक ने इतनी गभीर बात कह डाली और केवल इतना ही नहीं, कालिदास के सभी महाकाव्यों और भारवि के 'किरातार्जुनीय' की कथा भी लेखक ने इसी प्रकार अपनी आकर्षक शैली में लिखी है। द्विवेदी की अद्भुत गद्य-शैली की यही विशेषता है।

गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' में जिस प्रकार पौराणिक कला की पूर्णता मिलती है; उसी प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी की गद्य-शैली में कहानी कहने की कला की पूर्ण पराकाष्ठा है। सर्वसाधारण में हिन्दी-प्रचार-आंदोलन के नेता के रूप में द्विवेदी की अद्भुत सफलता का रहस्य उनकी इस गद्य-शैली में निहित है। उनमें एक कुशल कहानी कहने वाले की सभी कला और चातुर्य था। कभी वे उपदेश देने का प्रयत्न करते, कभी तीव्र आलोचना करते, कभी हँसाने की चेष्टा करते और कभी व्यंग्य छोड़ते, परंतु उनके उपदेश और आलोचना, हास्य और व्यंग्य के पीछे सर्वदा कुशल कहानी कहने वाले की कला छिपी रहती थी। विषय के अनुसार उनका शब्द-भंडार, उनका ध्वान और लय में भी परिवर्तन होता रहता, कभी बड़ी गंभीरता से तत्सम शब्दों का प्रयोग करते, कभी हलकी तबियत से उर्दू मुहावरों, कहावतों और चुटीली उक्तियों की मार करते, परंतु सभी स्थानों में उनकी सरलता, घरेलूपन और सीधेपन का परिचय मिलता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी गद्य के सर्वश्रेष्ठ शैलीकार और

इन छोटे-छोटे वाक्यों में चित्राकर्षण-शक्ति और नाटकीय प्रभाव वास्तव में अद्भुत है। इनमें सरलता के साथ ही कितना ओज, कितनी शक्तिमत्ता है! गणेशशंकर विद्यार्थी की रचनाओं में इस गद्य-शैली का पूर्ण विकास मिलता है। उसमें ओज तो कूट-कूट कर भरा है। 'कर्मवीर प्रताप' से एक अंश देखिए :

"महान् पुरुष—निस्सन्देह महान् पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतंत्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी जन्मभूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की? देश-भक्त लेकिन देश पर अह-सान जताने वाला नहीं, पूरा राजा—लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया! अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उसपर जानें निछावर करते थे।

[जीवित-हिन्दी, पृ०—१३१-१३२]

भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी-अपनी रुचि, प्रकृति और झुकाव के अनुकूल इन विशेष गद्य-शैलियों का निर्माण और विकास किया। कुछ लेखकों ने अँगरेजी, संस्कृत, बँगला, मराठी और उर्दू साहित्य की शैलियों का भी अनुकरण किया जिनका विवरण पीछे दिया जा चुका है (पृ० १७४ से १७६)। इनके अतिरिक्त एक अन्य गद्य-शैली का भी बहुत अधिक प्रचार हुआ जिसे अलंकृत शैली कह सकते हैं। इस गद्य-शैली की भाषा पाण्डित्यपूर्ण और अलंकारों से सुसज्जित है। तत्सम शब्दों के प्रयोग से उसमें गंभीरता और गुरुता भी विशेष रहती है, परन्तु फिर भी वह कविता नहीं है। अनेक लेखकों ने जाने और अनजाने भी इस गद्य-शैली का प्रयोग किया है। यथा. 'कवि-दरबार' में लल्लीप्रसाद पाण्डेय लिखते हैं :

एक रत्न-जटित सिंहासन पर कविता देवी विराजमान थीं। अहा! उनका वह निरिस्मत वदन-मंडल क्या ही कमनीय था! सारे अंगों में थोड़ा सा आभूषण "प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी" के समान और भी मनोज्ञ थे! मस्तक पर मुकुट और हाथ में मनोहारिणी वीणा था। घुँघराले केशों की छवि ही निराली थी। बाल-रवि के सदृश मुख-मंडल पर दीप्ति झलक रही थी। इत्यादि

और सुमित्रानंदन पंत 'पल्लव' के 'प्रवेश' में लिखते हैं :

इसमें लेखक ने बातचीत की शैली का ही अनुकरण नहीं किया वरन
चीत के साधारण शब्द (Slang) जैसे 'गनेडाग', 'कुटैया', 'जोते
'घिस्से लगाए' इत्यादि का प्रयोग भी किया। एक उदाहरण बा
श्रीवास्तव का भी लीजिए

प्रेम, तुम्हारा नाम किस अक्लमन्द ने रखा है ? श्रोगों के धन्धे और
नयन-सुख ! नाम इतना प्यारा और असलियत इतनी खोटी। जिसको मैं
करूं उसी का बुरा ताकूं, उसको चैन से सोते न देख सकूं, उसको किसी
से मज़े में दिन काटते देखकर जल मरूं, ईश्वर से पाहो दिनरात प्रार्थना
कि वह भी मेरी तरह तड़पे, वह भी बेचैन रहे, वह भी हरदम करवटें बद
रहे, ठंडी आहें भरती रहे ताकि मेरे दिल को तस्कीन हो। वाह, वाह,
अच्छा मुहब्बती हूं जो दूसरों को तड़पाकर अपना कलेजा ठंडा कर
चाहता हूं। इत्यादि

इस गद्य-शैली में बातचीत की सभी विशेषताएं मिलती हैं।

इनके अतिरिक्त, कुछ लेखकों ने वक्तृत्व कला (Public-Speak
or Oratory) की विशेषताओं से अपनी गद्य शैली का निर्माण कि
वक्तृत्व कला भाषण कला से भिन्न है, वह भाषण से अधिक स्पष्ट
ओजपूर्ण होती है। वक्ता अनेक उद्देश्यों की सिद्धि का प्रयत्न करता
कभी तो वह प्रमाणों द्वारा कोई सिद्धांत समझाता है, कभी किसी महत्त्व
विषय पर प्रकाश डालता है और कभी जनता को किसी कार्य के
उत्तेजित करता है। वह अपनी बात को जनता के हृदय-तल पर चित्र
करने का प्रयत्न करता है, उसका ढंग अधिकतर नाटकीय होता है। अध्
पूर्णसिंह की गद्य शैली में वक्तृत्व कला की सभी विशेषताएं मिलती
वे एक अद्भुत चित्र सा अंकित कर देते हैं। 'सच्ची वीरता'
लिखते हैं :

दुनिया के जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने मार
तैयार हो रहे हैं। गोलियां पानी की बूँदों की तरह मूसलाधार बरस रही
यह देखो वीर को जोश आया। उसने कहा, 'हाल्ट !'' (ठहरो !) तमाम
निस्तब्ध होकर सकते की हालत में खड़ी हो गई। आल्प्स (Alps) के प
पर फौज़ ने चढ़ना ज्यों ही असम्भव समझा त्यों ही वीर ने कहा—"आल
ही नहीं।" फौज़ को निश्चय होगया कि आल्प्स नहीं है और सब लोग
हो गए। इत्यादि

इन छोटे-छोटे वाक्यों में चित्राकण-शक्ति और नाटकीय प्रभाव वास्तव में अद्भुत हैं। इनमें सरलता के साथ ही कितना ओज, कितनी शक्तिमत्ता है! गणेशशंकर विद्यार्थी की रचनाओं में इस गद्य-शैली का पूर्ण विकास मिलता है। उसमें ओज तो कूट-कूट कर भरा है। 'कर्मवीर प्रताप' से एक अंश देखिए :

"महान् पुरुष—निस्सन्देह महान् पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतंत्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी जन्मभूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की? देश-भक्त लेकिन देश पर अहसान जताने वाला नहीं, पूरा राजा—लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया! अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उसपर जानें निछावर करते थे।

[जीवित-हिन्दी, पृ०—१३१-१३२]

भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी-अपनी रुचि, प्रकृति और झुकाव के अनुकूल इन विशेष गद्य-शैलियों का निर्माण और विकास किया। कुछ लेखकों ने अँगरेजी, संस्कृत, बँगला, मराठी और उर्दू साहित्य की शैलियों का भी अनुकरण किया जिनका विवरण पीछे दिया जा चुका है (पृ० १७४ से १७६)। इनके अतिरिक्त एक अन्य गद्य-शैली का भी बहुत अधिक प्रचार हुआ जिसे अलंकृत शैली कह सकते हैं। इस गद्य-शैली की भाषा पांडित्यपूर्ण और अलंकारों से सुसज्जित है। तत्सम शब्दों के प्रयोग ने उसमें गंभीरता और गुरुता भी विशेष रहती है, परंतु फिर भी वह कविता नहीं है। अनेक लेखकों ने जाने और अनजाने भी इस गद्य-शैली का प्रयोग किया है। यथा, 'कवि-दरबार' में लल्लीप्रसाद पांडेय लिखते हैं :

एक रत्न-जटित सिंहासन पर कविता देवी विराजमान थीं। अहा! उनका वह निश्चिन्त वदन-मंडल क्या ही कमनीय था! सारे अंगों में थोड़ा सा वास्-पन्थ "प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी" के समान और भी मनोज्ञ थे! मस्तक पर मुकुट और हाथ में मनोहारिणी वीणा था। घुँघराले केशों की छवि तो निराली थी! बाल-रवि के सदृश मुख-मंडल पर दीप्ति दमक रही थी। इत्यादि

और सुमित्रानंदन पंत 'पल्लव' के 'प्रवेश' में लिखते हैं :

इसमें लेखक ने बातचीत की शैली का ही अनुकरण नहीं किया वरन बात चीत के साधारण शब्द (Slang) जैसे 'गठिदार', 'फुटैया', 'गोते गए', 'घिस्से लगाए' इत्यादि का प्रयोग भी किया। एक उदाहरण ना थी श्रीवास्तव का भी लीजिए .

प्रेम, तुम्हारा नाम किस अहमक ने रखा है? ओंलों के अन्धे और नाम नयन-सुख! नाम इतना प्यारा और असलियत इतनी खोटी। जिसको मैं प्यार करूँ उसी का बुरा ताकूँ, उसको चैन से सोने न देख सकूँ, उसको हमी खुशी से मज़े में दिन काटते देखकर जल मरूँ, ईश्वर से यही दिनरात प्रार्थना करूँ कि वह भी मेरी तरह तड़पे, वह भी बेचैन रहे वह भी हरदम करवटें बदलती रहे, ठंडी आहें भरती रहे ताकि मेरे दिल को तस्कीन हो। वाह, वाह, मैं तो अच्छा मुहब्बती हूँ जो दूसरों को तड़पाकर अपना कलेजा ठंडा कर लेना चाहता हूँ। इत्यादि

इस गद्य-शैली में बातचीत की सभी विशेषताएँ मिलती हैं।

इनके अतिरिक्त, कुछ लेखकों ने वक्तृत्व कला (Public-Speaking or Oratory) की विशेषताओं से अपनी गद्य शैली का निर्माण किया। वक्तृत्व कला भाषण कला से भिन्न है, वह भाषण से अधिक स्पष्ट और ओजपूर्ण होती है। वक्ता अनेक उद्देश्यों की सिद्धि का प्रयत्न करता है। कभी तो वह प्रमाणों द्वारा कोई सिद्धांत समझाता है, कभी किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डालता है और कभी जनता को किसी कार्य के लिए उत्तेजित करता है। वह अपनी बात को जनता के हृदय-तल पर चित्रांकित करने का प्रयत्न करता है, उसका ढंग अधिकतर नाटकीय होता है। अध्यापक पूर्णसिंह की गद्य शैली में वक्तृत्व कला की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। वे एक अद्भुत चित्र सा अंकित कर देते हैं। 'सच्ची वीरता' में वे लिखते हैं :

दुनिया के जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूँदों की तरह मूसलाधार बरस रही हैं। यह देखो वीर को जोश आया। उसने कहा, 'हाल्ट!'' (ठहरो!) तमाम फ़ौज निस्तब्ध होकर सकते की हालत मे खड़ी हो गई। आल्प्स (Alps) के पहाड़ों पर फ़ौज ने चढ़ना ज्यों ही असम्भव समझा त्यों ही वीर ने कहा—"आल्प्स है ही नहीं!" फ़ौज को निश्चय होगया कि आल्प्स नहीं है और सब लोग पार हो गए। इत्यादि

इन छोटे-छोटे वाक्यों में चित्राकरण-शक्ति और नाटकीय प्रभाव वास्तव में अद्भुत हैं। इनमें सरलता के साथ ही कितना ओज, कितनी शक्तिमत्ता है! गणेशशंकर विद्यार्थी की रचनाओं में इस गद्य-शैली का पूर्ण विकास मिलता है। उसमें ओज तो कूट-कूट कर भरा है। 'कर्मवीर प्रताप' से एक अंश देखिए :

"महान् पुरुष—निस्सन्देह महान् पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतंत्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी जन्मभूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की? देश-भक्त लेकिन देश पर अहसान जताने वाला नहीं, पूरा राजा—लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया! अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उसपर जानें निछावर करते थे।

[जीवित-हिन्दी, पृ०—१३१-१३२]

भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी-अपनी रुचि, प्रकृति और झुकाव के अनुकूल इन विशेष गद्य-शैलियों का निर्माण और विकास किया। कुछ लेखकों ने अँगरेजी, सस्कृत, बँगला, मराठी और उर्दू साहित्य की शैलियों का भी अनुकरण किया जिनका विवरण पीछे दिया जा चुका है (पृ० १७४ से १७६)। इनके अतिरिक्त एक अन्य गद्य-शैली का भी बहुत अधिक प्रचार हुआ जिसे अलकृत शैली कह सकते हैं। इस गद्य-शैली की भाषा पांडित्यपूर्ण और अलकारों से सुसज्जित है। तत्सम शब्दों के प्रयोग से उसमें गभीरता और गुरुता भी विशेष रहती है, परतु फिर भी वह कविता नहीं है। अनेक लेखकों ने जाने और अनजाने भी इस गद्य-शैली का प्रयोग किया है। यथा, 'कवि-दरबार' में लल्लीप्रसाद पाडेय लिखते हैं :

एक रत्न-जटित सिंहासन पर कविता देवी विराजमान थीं। अहा! उनका वह निश्चिन्त वदन-मंडल क्या ही कमनीय था! मानो अंगों में थोड़ा सा आभूषण "प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी" के समान और भी मनोज्ञ थे! मस्तक पर मुकुट और हाथ में मनोहारिणी वीणा था। घुँघराले केशों की छवि तो निराली थी। बाल-रवि के सदृश मुख-मंडल पर दीप्ति झलक रही थी। इत्यादि

और सुमित्रानन्दन पंत 'पल्लव' के 'प्रवेश' में लिखते हैं :

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण गर्भ से भौतिक सुख शान्ति के प्रसारक प्रसूत हुए उसी प्रकार मानसिक सुख शान्ति के नायक भी, जो प्रातःस्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु वल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णांकित हैं, इतिहास के ही नहीं देश के हृदय पर उनकी अक्षय अष्टछाप, उनकी सभ्यता के पथ पर ध्रुवतम चिह्न अमिट और अमर हैं। इन्हीं युग-प्रवर्तकों के गंभीर अन्तस्तल से ईश्वरीय-अनुराग के अनन्त-उद्गार उमड़कर देश के आकाश में घनाकार छा गए। इत्यादि।

शिवपूजन सहाय ने इस अलंकृत शैली का सफल प्रयोग अपने 'महिला-महत्त्व' नामक ग्रंथ में किया। वे इस शैली के पंडित जान पड़ते हैं। यथा :

किसी को मस्त और किसी को पस्त करने वाला, किसी को चुस्त और किसी को सुस्त करने वाला, कहीं अमृत और कहीं विष बरसाने वाला — कहीं निरानन्द बरसाने वाला और कहीं रसानन्द सरसाने वाला, तथा अखिल ब्रह्मांड-कटाह में नयी जान, नयी रोशनी नयी चाशनी, नयी लालसा और नयी नयी सत्ता का संचार करने वाला सरस वसन्त पहुँच चुका था। नव-पल्लव-पुष्प-गुच्छों से हरे-भरे कुंज-पुंजों में वसंत वसीठी मीठी-मीठी बोली बोलती और विरह में रस घोलती थी।

[महिला-महत्त्व, पृ०—१०३-१०४]

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की भाषा तो अत्यंत पांडित्यपूर्ण और कहीं-कहीं जटिल और दुरूह भी है। यथा, 'नंदन-निकुंज' का एक उदाहरण लीजिए :

हृदय की उत्तप्त-भूमि में अभिलाषा और आशा की धधकती हुई चिता के आलोक में गत जीवन की पूर्व स्मृति, प्रेम-पुंज की भाँति अट्टहास कर रही है। मैं देख रहा हूँ, सहस्र वृश्चिक-दंशन के मध्य में, तीव्र मद के भयंकर उन्माद में, रौरव नरक की धधकती हुई ज्वाला में स्थित होकर मैं दुर्भाग्य के किसी अज्ञेय एवं अचिन्त्य विधान से जीवित रहकर इस पैशाचिक मृत्यु को देख रहा हूँ।

गद्य की यह अलंकृत-भाषा पद्य की भाषा के बहुत निकट पहुँचती है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में पद्य की भाषा को गद्य की भाषा के निकट लाने का प्रयत्न किया गया था, परंतु अभी बीस वर्ष भी न बीतने पाए थे कि गद्य की भाषा को पद्य की भाषा के निकट ले जाने का प्रयत्न होने लगा। लेखकगण, गद्य की भाषा को भी यमक और अनुप्रास, उपमा

और उत्प्रेक्षा से सुसज्जित करने लगे। जयशंकर प्रसाद ने इस अलंकृत शैली का और भी विकास किया। उनकी कवि-प्रतिभा ने इस अलंकृत शैली में जो सजीवनी शक्ति और पूर्णता प्रकट की वह किसी अन्य लेखक की शैली में न मिल सकी। 'समुद्र- सतरण' नामक कहानी का प्रारंभ देखिए :

क्षितिज में नील जलधि और व्योम का चुम्बन हो रहा है। शान्त प्रदेश में शोभा की लहरियों उठ रही हैं। गोधूली का करुण प्रतिबिम्ब, वेला की बालुकामयी भूमि पर दिगन्त की प्रतीक्षा का आवाहन कर रहा है। इत्यादि

[आकाश-दीप, पृ० १२३]

इस गद्य-शैली का आनद तो कुछ थोड़े विद्वान ही ले सकते हैं। साधारण पाठक तो समझ ही न सकेंगे कि इस चित्र में कितना रंग भरा है, इसकी लय में कितना संगीत छिपा है। इसीलिए साधारणतः इसका प्रचार भी बहुत कम हुआ। परतु कला और शैली की दृष्टि से इसमें अद्वितीय और अद्भुत गुण हैं। 'प्रसाद' की शैली में हिन्दी गद्य की अलंकृत शैली का चरम विकास मिलता है।

हिन्दी गद्य के द्वितीय उत्थान-काल में स्वच्छदवाद आदोलन के दर्शन होते हैं। इस स्वच्छदवाद की विशेषता थी गद्य में कला की विजय। आधुनिक युग का बुद्धिवाद ही इस स्वच्छदवाद का मूल कारण है। आधुनिक बुद्धिवादियों ने कवित्व का विश्लेषण करके यह निश्चित किया कि कविता का सार तत्त्व कवितागत भाव और लय में ही निश्चित किया छद और तुक में नहीं, जैसा कि रीतिकालीन कवि और आचार्य समझते थे। और यदि कविता का मूल-तत्त्व भाव और लय में ही निहित है, तब तो गद्य में भी सुदर कविता लिखी जा सकती है, क्योंकि भाव तो गद्य में लाए ही जाते हैं, प्रयत्न करने पर लय भी गद्य में लहाई जा सकती है। इस प्रकार कविता के लिए गद्य, पद्य से भी अधिक उपयुक्त प्रमाणित हो सकता है, क्योंकि गद्य में छंदों की एकस्वरता नहीं रहती। इसी भाव से प्रेरित होकर कुछ आधुनिक गद्य-लेखकों ने गद्य में लय लाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार कलात्मक गद्य का प्रारंभ हुआ।

आधुनिक गद्य के कलाकार, कवि-कलाकारों की भाँति चित्र-चित्रण तथा नाद-संगीत अथवा लय के द्वारा कलात्मक गद्य की सृष्टि करते हैं। प्रेमचंद, चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' तथा जयशंकर प्रसाद इत्यादि

लेखक गद्य में चित्र चित्रण करने में अत्यंत निपुण हैं। 'विस्मृति' नामक कहानी में प्रेमचंद लिखते हैं :

प्रकाश की धुँधली सी झलक में कितनी आशा कितना बल, कितना आश्वासन है यह उस मनुष्य से पूछो जिसे अन्धेरे ने एक घने वन में घेर लिया था। प्रकाश की यह प्रभा उसके लड़खड़ाते हुए पैरों को शीघ्रगामी बना देती है, उसके शिथिल शरीर में जान डाल देती है। जहाँ एक-एक पग रखना दुस्तर था वहाँ इस जीवन-प्रकाश को देखते हुए वह मीलों और कोसों तक प्रेम की उमंगों में उछलता हुआ चला जाता है। इत्यादि

[प्रेम-पचीसी—१०१११]

प्रेमचंद मनोवैज्ञानिक भावों के अत्यन्त सूक्ष्म और स्पष्ट चित्र-चित्रण में अद्वितीय हैं। उनकी उपमाएँ और रूपक साधारण जीवन के भावमय तथा चित्ताकर्षक अंग-चित्रों से लिए हुए होते हैं। यथा, 'ईश्वरीय न्याय' नामक कहानी में वे नदी-तट का चित्रांकण करते हैं :

'जिस तरह कलुषित हृदयों में कहीं कहीं धर्म का धुँधला प्रकाश रहता है, उसी तरह नदी की काली सतह पर तारे झिलमिला रहे थे। तट पर कई साधु धूनी रमाये पड़े थे। ज्ञान की ज्वाला मन की जगह बाहर दहक रही थी। इत्यादि

[सरस्वती, जुलाई १९१७]

चतुरसेन शास्त्री के चित्र कुछ लंबे अवश्य होते हैं, किन्तु और भी अधिक स्पष्ट, भावपूर्ण और सूक्ष्म होते हैं। उदाहरणार्थ 'प्यार' का एक चित्र लीजिए :

उसने कहा—'नहीं'
मैंने कहा—'वाह !'
उसने कहा—'वाह'
मैंने कहा—'हूँ ऊँ'
उसने कहा—'उँहुँक'
मैंने हँस दिया।
उसने भी हँस दिया।

अँधेरा था, पर बाइसकोप के तमाशे की तरह सब दीखता था। मैं उसी को देख रहा था। जो दीखता था उसे बताना असम्भव है। रक्त की एक-एक

घूँघट नाच रही थी और प्रत्येक क्षण में सौ सौ चक्कर खाती थी। हृदय में पूर्ण चन्द्र का ज्वार आ रहा था। वह हिलोरों में डूब रहा था, प्रत्येक क्षण में उसकी प्रत्येक तरंग पत्थर की चट्टान बनती थी और किसी अज्ञात बल से पानी हो जाती थी। आत्मा की तंत्री के सारे तार मिले धरे थे, उँगली छुआते ही सब झनझना उठते थे। वायु-मण्डल विहाग की मस्ती में झूम रहा था। रात का अंचल खिसक कर अस्त-व्यस्त हो गया था। पर्वत नंगे खड़े थे और वृक्ष इशारे कर रहे थे। तारिकायें हँस रही थीं। चन्द्रमा बादलों में मुँह छिपाकर कहता था 'भई! हम तो कुछ देखते भालते नहीं।' चमेली के वृक्ष पर चमेली के फूल अँधेरे में मुँह नीचे झुकाये गुपचुप हँस रहे थे। उन्होंने कहा, 'ज़रा इधर तो आओ!' मैंने कहा, "अभी ठहरो!" वायु ने कहा, 'हैं! हैं! यह क्या करते हो?' मैंने कहा, "दूर हो, भीतर किसके हुक्म से घुस आये तुम!" झट से द्वार बन्द कर लिया। अब कोई न था। मैंने अघाकर साँस ली। वह साँस छाती में छिप रही। छाती फूल गई। हृदय धड़कने लगा। अब क्या होगा? मैंने हिम्मत की। पसीना आ गया था। मैंने उसकी पर्वा न की।

आगे बढ़कर मैंने कहा—"ज़रा इधर आना।"
उसने कहा—"नहीं"
मैंने कहा—"वाह"
उसने कहा—"वाह"
मैंने कहा—"हूँ ऊँ"
उसने कहा—"उँहुँक"
मैंने हँस दिया,
उसने भी हँस दिया।

[प्यार, अंतस्तल, पृ०—४-५]

यह 'प्यार' का एक बहुत ही सुन्दर चित्र है—वह प्यार जिसका कोई रहस्य नहीं। पूरा चित्र व्यंजनापूर्ण संवादों तथा भावपूर्ण वर्णनों द्वारा चित्रित किया गया है। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति तो अपूर्व है। प्रेमचंद के चित्र साधारण मानव-जीवन के भावपूर्ण अंगों तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों से लिए गए उपमाओं और रूपकों द्वारा चित्रित होते हैं, परन्तु चतुरसेन शास्त्री उपमाओं और रूपकों द्वारा चित्रण नहीं करते, वरन् व्यंजनापूर्ण संवादों तथा भावपूर्ण वर्णनों द्वारा करते हैं, और अत्यन्त सफलता के साथ करते हैं। इतना सुंदर और भावपूर्ण चित्रण हिन्दी में और कोई नहीं कर सका।

'प्रसाद' अपने चित्रों में उपमा और रूपक तथा भाषा की व्यंजना शक्ति दोनों का उपयोग करते हैं। उनकी उपमाएँ और रूपक सभी प्रकृति से लिए गए होते हैं और उनकी भाषा में नाद-ध्वनि की विशेषता होती है। 'आकाश-दीप' नामक कहानी में उनका एक सुन्दर चित्र देखिए :

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे उसमें न थे। धवल अपांग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग रंजित संध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण-बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता। इत्यादि

[आकाश दीप, पृ०—८]

'प्रसाद' अपने चित्रों के लिए पहले उनके ही उपयुक्त पृष्ठभूमि और वातावरण की सृष्टि करते हैं और फिर रंगों की कूची से एक सुन्दर और भावपूर्ण चित्र अंकित करते हैं। उनके चित्रों में रंगों तथा भावों का अपूर्व सामंजस्य मिलता है।

गद्य-कलाकारों का दूसरा ढंग नाद-ध्वनि अथवा लय की सृष्टि करना है। 'कालिन्दी कूल' में वियोगी हरि का लयपूर्ण गद्य देखिए :

आख़िर, वह रागिणी हुई क्या? अलापनेवाला कहाँ गया? कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ! सोचा था उस रागिनी की धवल धारा से अन्तःकरण पखारूँगी, गायक को देखकर यह निस्तेज दृष्टि सौन्दर्य सुधा से अनुप्लावित करूँगी। पर यह कुछ न हुआ। सुना क्या?—उत्कण्ठित हृदय की धीमी प्रकम्पन-ध्वनि! देखा क्या?—अदृष्ट का धुँधला मान-चित्र! जान पड़ता है यह विश्व व्यापी अन्धकार मेरी ही निराशा का प्रतिबिम्ब है। तो क्या वह मोहिनी रागिनी भी मेरे ही विक्षिप्त अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि थी? राम जाने क्या था? इत्यादि

[अंतर्नाद, पृ०—९]

उसी प्रकार प्रोफ़ेसर शैवाल की कहानी 'चन्द्र-ग्रहण' से एक उदाहरण लीजिए :

आज चाँद सोलहो शृंगार करके आया था। प्रकृति के सौन्दर्य की यदि कोई सीमा हो सकती है तो वह उस दिन थी। ललनाओं के आकर्षण की पूर्णता अगर सोलहवाँ वर्ष है तो उस दिन सोलहवें वर्ष का पूर्ण उन्मेष था। युवाओं के निर्व्याज जीवन का पूर्ण विकास यदि प्रणय के प्रथम विजय में होता है तो वह दिन पूर्ण विकास का था। यदि विधाता की सृष्टि में स्वर्ग और मर्त्य के भेद भाव को भुला देने का कोई उत्सव हो सकता है तो उस दिन था। मर्त्यलोक की यंत्रणाओं में फँसा हुआ मानव हृदय यदि देवताओं की महिमा को तुच्छ समझने का साहस कर सकता है तो वह दिन उस साहस का था। यदि मनुष्य का लावण्य षोडशी की तरह मनुष्य को आकर्षित कर सकता है तो मानव-इतिहास में वह घटना उस आकर्षण की पूर्णिमा थी। इत्यादि

[सरस्वती—अप्रैल १९२४]

इसमें लय का उतार और चढ़ाव बहुत ही सुन्दर है।

चित्र-चित्रण और लय-संगीत दोनों का सुंदर सम्मिश्रण केवल कुछ ही लेखक कर सके हैं। चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचंद और 'प्रसाद' जैसे कुछ इने गिने शैलीकारों ने ही इनका सफल सम्मिश्रण किया है और वह भी कहीं-कहीं। उदाहरण के लिए शास्त्री की कहानी 'जीजा जी' का अंतिम चित्र लीजिए :

इस बार उस ध्वनि में न वह उन्माद था न हाहाकार! उस मध्य-रात्रि में मानों विहाग रागिनी का एक स्वर था। पर वह स्त्री-हृदय का अन्तिम उच्छ्वास था। उस हर्ष के उद्वेग में एकाएक उसके हृदय का स्पन्दन बन्द हो गया। मुसकिराने को जो दाँत निकले थे वे निकले ही रह गए। मस्तानी रागिनी का जो स्वर उठा था वह बीच ही में टूट गया। पंछी उड़ गया, पिंजड़ा रह गया।'

[माधुरी, जून १९२२]

कलात्मक गद्य लिखने के प्रधान दो ढंग हैं और ये दोनों ढंग लेखकों की प्रकृति, स्वभाव और रुचि पर निर्भर करते हैं। प्रेमचंद, बेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री इत्यादि की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और पैनी है, वे अपने चारों ओर की वस्तुओं पर बहुत ही सावधानी और सूक्ष्मता के साथ दृष्टि डालते हैं. अपने आस-पास के मनुष्यों की चाल-ढाल, रहन-सहन और बोल-चाल को बड़े ध्यान से देखते और सुनते हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि अस्थि-चर्म को बेधकर अंतस्तल तक पहुँचती है। इसी कारण उनकी रचनाओं में

मानव-जीवन की सूक्ष्मतम बातों का सुंदर चित्रण मिलता है। वे अतिशयोक्ति से दूर ही रहते हैं और सभी वस्तुओं का ठीक चित्रण और वास्तविक लय तथा संगीत प्रस्तुत कर देते हैं। 'आत्माराम' नामक कहानी में प्रेमचन्द का एक वास्तविक सुंदर चित्र देखिए :

वह अपने सायबान में प्रातः से सन्ध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खट खट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गए थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती तो जान पड़ता था कोई चीज़ गायब हो गई है। वह नित्य प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजरा लिये हुए कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य का उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्योंही लोगों के कानों में आवाज़ आती 'सत्त गुरुदत्त, शिवदत्त दाता', लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

[प्रेम-पचीसी—पृ० १]

इन यथार्थवादी लेखकों की मुख्यतः दो या तीन भिन्न-भिन्न शैलियाँ हैं। प्रेमचंद वर्णनात्मक शैली के प्रमुख लेखक हैं। उपरोक्त उद्धरण उनकी वर्णन-शैली की सरलता और पूर्णता का एक अच्छा उदाहरण है। चतुरसेन शास्त्री कलात्मक गद्य में संवाद-शैली के सर्वोत्तम लेखक हैं। यथा :

आशा ! आशा ! अरी भलीमानस ! ज़रा ठहर तो सही, सुन तो सही, कितनी दूर है ? मंज़िल कहाँ है ? ओर छोर किधर है ? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता। क्या अन्धेर है ! छोड़, मुझे छोड़ ! इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज़ आया। पड़ा रहने—मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता। ना—ना—अब दम नहीं रहा—यह देखो, यह हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गए, साँस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी सत्यानाशिनी ? किस सब्ज़ बाग का झाँसा दिया था ! किस मृग तृष्णा में ला डाला मायाविनी ! छोड़, छोड़, मेरी जान छोड़ ! मैं यहीं पड़ा रहूँगा। इत्यादि

[आशा—अन्तस्तल—पृ०—४२]

चतुरसेन शास्त्री ने अपनी गद्य-रचना में बातचीत का लय और संगीत स्पष्ट रूप से उतार दिया। वही बातचीत की बेतकल्लुफी, वही रुकना, वही तोड़,

वही उतार-चढ़ाव और वही मनमोहकता, सभी कुछ पूर्ण रूप से मिलती है। कहीं-कहीं उन्होंने वर्णनात्मक और संवाद शैलियों का सुंदर सामंजस्य भी उपस्थित किया है। 'प्यार', 'रूप', 'लालसा' 'आशा' इत्यादि निबंधों में इस सुंदर सामंजस्य के दर्शन होते हैं। 'उग्र' की भी वर्णन-शैली उल्लेखनीय है, उसमें व्यंजना और स्वाभाविकता कूट-कूट कर भरी है। 'अभागा किसान' में वे लिखते हैं :

जिस समय भिक्खन घर लौट रहा था उस समय शीतल मंद समीरण चल रहा था। अनन्त नक्षत्र मुक्ता मण्डित-नीलाम्बर से निशा-सुंदरी की शोभा चौगुनी हो रही थी। निशा के शृंगारमय रूप पर निशापति फूले नहीं समाते थे। प्रकृति की उस शोभा को यदि कोई कवि देखता तो उसकी कल्पना का स्रोत मारे प्रबलता के फूट पड़ता। चित्रकार देखता तो उसकी तूलिका आनन्द-मुग्ध होकर इधर उधर थिरकने लगती। मनचले 'बाबू' देखते तो वासना-तरंगिणी में गोते लगाने लगते। पर अभागे भिक्खन के लिए प्रकृति की वह रूप छटा व्यर्थ थी। इत्यादि

[बलात्कार, पृ० १३०१३१]

'उग्र' की शैली में वर्णनात्मक और अलंकृत शैली का सम्मिश्रण मिलता है।

दूसरी ओर राय कृष्णदास और वियोगी हरि इत्यादि लेखक प्रधान रूप से आध्यांतरिक Subjective) गद्य लिखते हैं जिसके सौन्दर्य और प्रभाव का आधार लेखक की अंतर्निहित सत्य और सुंदर भावनाएँ तथा उसकी भावुकता है। लेखक की भावनाएँ जितनी ही अधिक सत्य और सुंदर होंगी, उसमें जितनी भावुकता होगी, उतनी ही उसकी रचना में सौन्दर्य और संगीत की सृष्टि हो सकेगी। उदाहरण के लिए राय कृष्णदास की 'साधना' से एक उद्धरण देखिए :

मैं समझता था कि जिस प्रकार रंग बिरंगे फूल देकर माता-पिता पुत्रों को प्रसन्न करते हैं उसी प्रकार तूने भी यह विचित्र सृष्टि हमको दी है। फिर तू इससे मुझे अलग क्यों करता है? क्या खिलौने छीनकर लड़के विरुद्ध किये जाते हैं?

या मैं भूल रहा हूँ? इससे हटा कर तू मुझे अपनी छाती से लगाकर चूमना चाहता है, यह सुख जिसके लिए बच्चे खिलौनों को स्वयं फेंक देते हैं। इत्यादि

[साधना—पृ० ७]

आध्यांतरिक गद्य के कलाकार गद्य में गीति-काव्य की रचना करते हैं। लय और संगीत उसकी विशेषता है। इन गद्य-गीतियों में गद्य-कलाकारों के स्वप्न, ध्यानावस्था के विचार और भाव तथा उनके स्वगत भाषण ही अधिकांश मिलते हैं। स्वगत भाषण की नाटकीय शैली का सौन्दर्य इन रचनाओं में पूर्ण रूप से मिलता है। यथा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'बावली' नामक कहानी का प्रारंभ इस प्रकार करते हैं :

मैं किसकी लड़की थी ? चूल्हे में जाय यह सवाल। इसी ने सब नाश कर दिया। मेरी लगी लगाई को भुला दी। आशा पर पानी फेर दिया। अपने आपको सुखी करवाने की मेरी इच्छा का उन्मूलन कर दिया। मैं तृषित रह गई। किसी ने समवेदना के दो आँसू भी न बहाये ! हा ! हा !! हा !!! मेरा क्या बिगड़ा ?—आह ! बहुत कुछ। इत्यादि

[प्रभा, जून १९२२]

इसे पढ़ कर ऐसा जान पड़ता है कि नाटक का कोई पात्र स्वगत-भाषण कर रहा हो। कुछ लेखकों ने गद्य में स्तोत्र शैली का भी अनुकरण किया। यथा, हेमचंद्र जोशी 'प्रेमिका का प्रलाप' में लिखते हैं :

तेरे अधर मेरे प्रार्थना के श्लोक हैं।
तेरे नेत्र मेरे प्रकाश के देवालय हैं।

[माधुरी, दिसम्बर १९२५]

गीति-काव्य की भाँति अध्यातरिककलात्मक गद्य, जिसे गद्य-गीत की संज्ञा दी गई है, आधुनिक गद्य की प्रमुख विशेषता है। गद्य में काव्य, नाटक और कला का यह संयोग अपूर्व है और गद्य-साहित्य के चरम विकास का द्योतक है।

चौथा अध्याय

नाटक

सिंहावलोकन

हिन्दी में नाट्य-साहित्य पर विचार करते हुए जो सबसे पहली बात ध्यान में आती है वह है नाटकों का अभाव। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के पूर्व सब मिलाकर हिन्दी में एक दर्जन नाटक भी न मिलेंगे और वे भी केवल नाम मात्र के नाटक थे, क्योंकि वार्तालाप, प्रवेश और प्रस्थान के अतिरिक्त उनमें नाटकत्व के प्रधान लक्षण नहीं दिखलाई पड़ते। संस्कृत में नाट्य-साहित्य बहुत ही समृद्ध है फिर भी हिन्दी में नाटकों की रचना नहीं हुई। विद्वानों ने इसके लिए अनेक कारण बताए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि हमारे यहाँ राष्ट्रीय रंगमंच न था, अन्य लोग नाटक का अभाव गद्य-साहित्य की हीनता के कारण बताते हैं और तीसरे पक्ष के लोग इसका कारण मुसलमान शासकों का विरोध बताते हैं, क्योंकि इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार किसी की नक़ल उतारना पाप माना गया है। ये तीनों ही कारण किसी अंश तक ठीक हो सकते हैं, परंतु ये वास्तव में गौण कारण हैं। मुग़ल-शासन में हिन्दुओं ने कितने ही मंदिर और राजप्रासाद निर्मित किए और यदि वे चाहते तो राष्ट्रीय रंगमंच का भी निर्माण निर्विरोध कर सकते थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' जैसी दो सुंदर गद्य-रचना से प्रारंभ हुए गद्य-साहित्य का विकास भी अच्छी तरह किया जा सकता था। मुसलमान शासकों के विरोध के संबंध में कहा जा सकता है कि केवल औरंगज़ेब को छोड़कर, जो कि संगीत कला तक के विरोधी थे, अन्य शासक इतने कट्टर

विचार के नहीं थे कि नाट्य-साहित्य के विकास में बाधा डालते। हिन्दी का प्रथम नाटक 'इन्दरसभा' एक मुसलमान शासक की अभिभावकता में ही एक मुसलमान लेखक द्वारा लिखा गया था। इससे यह बात निस्संदेह प्रमाणित हो जाती है कि नाटकों के अभाव के मुख्य कारण इन से भिन्न हैं और इनकी खोज पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी के इतिहास में होनी चाहिए।

मुसलमानों के उत्तरी भारत पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी में एक 'मानसिक हलचल' (Intellectual movement) की लहर सारे उत्तरी भारत में दौड़ गई, जिसके फल स्वरूप साहित्य में संत-साहित्य की अवतारणा हुई और धर्म-क्षेत्र में गोरखपंथ, कबीर-पंथ, दादू-पंथ और नानक पंथ इत्यादि अनेक पंथों का उदय हुआ। यह आंदोलन बड़ा ही विस्तृत और प्रभावशाली था। भारतीय इतिहास में भगवान् बुद्ध के समय में भी ठीक इसी प्रकार का आंदोलन चला था। परंतु उस आंदोलन की प्रवृत्ति बहुत कुछ नैतिक तथा दार्शनिक थी और तत्कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव उतना अधिक नहीं पड़ा। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में यह आंदोलन जनता में प्रारंभ हुआ और इसका प्रभाव उस समय के साहित्य और विचारों पर बहुत अधिक पड़ा। नामदेव कबीर, दादू, नानक सभी इस आंदोलन से प्रभावित हुए और सभी ने एक स्वर में स्वीकार किया कि इस संसार में केवल दुःख ही दुःख है। कबीर कहते हैं :

> जो देखा सो दुखिया देख, तन धर सुखिया ना देखा।
> उदय अस्त की बात कहत हौं, ताकर करहु विसेखा।

संत कवियों ने अपनी 'अटपटी' बानी में इसी दुःखवाद की घोषणा की, परन्तु जनता को दुःखों से युद्ध कर उन पर विजय पाने की शिक्षा न दी। इसके विपरीत उन्होंने संसार-त्याग की शिक्षा दी। उनका सिद्धांत था संसार से छुट्टी लो और ईश्वर का नाम भजो। भाग्यवाद की दुहाई देकर उन्होंने निराश जनता को आलसी बना डाला। मलूकदास ने शिक्षा दी :

> **अजगर करै न चाकरी, पछी करै न काम।**
> **दास मलूका कह गए, सब के दाता राम।**

ऐहिक जीवन के प्रति किसी में कुछ भी उत्साह न था। नाटक प्रगतिशील

जीवन का चित्र है, अजगर की भाँति जीवन व्यतीत करने वालों के जीवन का चित्र नहीं। अतः इस दशा में नाटकों की आशा ही क्या की जा सकती है?

परंतु यद्यपि इस मानसिक हलचल के कारण वास्तविक नाट्य-साहित्य का अभाव था, किन्तु नाटक के साहित्यिक रूप का अभाव न था। परंपरा की ऐसी ही महान् शक्ति होती है। संस्कृत में नाटकों को साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला है, इसीलिए नाटकीय प्रवृत्ति के एकांत अभाव में भी कितने ही नाटक लिखे गए। आधुनिक खोज से पता चलता है कि रीतिकाल में कई नाटक लिखे गए थे, परंतु वे सुंदर नहीं थे। अतः उनका अधिक प्रचार भी नहीं हुआ और वे काल के गर्भ में विलीन हो गए। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कवियों के प्रधान विषय नायिका भेद और रस-निरूपण—भी नाटक से ही संबंध रखने वाले थे। दरबार और दरबारी वातावरण से बहुत दूर साधारण जनता में भी इस नाटकीय रूप का काफी प्रचार था। विवाह के समय में शास्त्रार्थ की योजना, उत्सवों के अवसर पर स्वांग और नकल का प्रचार इसी का द्योतक है। कठपुतली का तमाशा और छाया-चित्रों का भी काफी प्रचार था। रामलीला के अवसर पर रावण, कुंभकर्ण आदि की कागज़ की विशाल मूर्तियाँ प्राचीन छाया-चित्रों के अवशेष हैं।

मध्यदेश में नाटकों का प्राचीनतम रूप रामलीला और रासलीला में मिलता है। इनके अतिरिक्त कुछ पर्वों पर उनसे संबंध रखने वाले महापुरुषों के जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाएँ भी नाटक-रूप में दिखलाई जाती थीं। इस प्रकार की लीलाएँ हमें ब्रज तथा पंजाब के दक्षिणी भाग में अधिक मिलती हैं। विलियम रिजवे ने अपनी पुस्तक 'दि ड्रामा ऐंड दि ड्रामेटिक डान्सेज़ ग्राव द नान-यूरोपियन रेसेज़' (The Drama and the Dramatic dances of the Non European Races) में अनेक म्यूजियमों के उत्तरदायी अफ़सरों के कुछ पत्र उद्धृत किए हैं। उनमें रायबहादुर पंडित राधाकृष्ण मथुरा ने लिखते हैं :

12th April, 1913.

"On the Indian New Year's day, some portions of Ramayan were recited. and leaves of Neem and sugar-candy pieces distributed in the temple and the Calendar, called Putra

विचार के नहीं थे कि नाट्य-साहित्य के विकास में बाधा डालते। हिन्दी का प्रथम नाटक 'इन्दरसभा' एक मुसलमान शासक की अभिभावकता में ही एक मुसलमान लेखक द्वारा लिखा गया था। इससे यह बात निस्संदेह प्रमाणित हो जाती है कि नाटकों के अभाव के मुख्य कारण इन से भिन्न हैं और इनकी खोज पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी के इतिहास में होनी चाहिए।

मुसलमानों के उत्तरी भारत पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी में एक 'मानसिक हलचल' (Intellectual movement) की लहर सारे उत्तरी भारत में दौड़ गई, जिसके फल स्वरूप साहित्य में संत-साहित्य की अवतारणा हुई और धर्म-क्षेत्र में गोरखपंथ, कबीर-पंथ, दादू-पंथ और नानक पंथ इत्यादि अनेक पंथों का उदय हुआ। यह आंदोलन बड़ा ही विस्तृत और प्रभावशाली था। भारतीय इतिहास में भगवान् बुद्ध के समय में भी ठीक इसी प्रकार का आंदोलन चला था। परंतु उस आंदोलन की प्रवृत्ति बहुत कुछ नैतिक तथा दार्शनिक थी और तत्कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव उतना अधिक नहीं पड़ा। परंतु पन्द्रहवीं शताब्दी में यह आंदोलन जनता से प्रारंभ हुआ और इसका प्रभाव उस समय के साहित्य और विचारों पर बहुत अधिक पड़ा। नामदेव, कबीर, दादू, नानक सभी इस आंदोलन से प्रभावित हुए और सभी ने एक स्वर में स्वीकार किया कि इस संसार में केवल दुःख ही दुःख है। कबीर कहते हैं :

जो देखा सो दुखिया देख, तन धर सुखिया ना देखा।
उदय अस्त की बात कहत हौं, ताकर करहु विसेखा।

संत कवियों ने अपनी 'अटपटी' बानी में इसी दुःखवाद की घोषणा की, परंतु जनता को दुःखों से युद्ध कर उन पर विजय पाने की शिक्षा न दी। इसके विपरीत उन्होंने संसार-त्याग की शिक्षा दी। उनका सिद्धांत था संसार से छुट्टी लो और ईश्वर का नाम भजो। भाग्यवाद की दुहाई देकर उन्होंने निराश जनता को आलसी बना डाला। मलूकदास ने शिक्षा दी :

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, सब के दाता राम।

ऐहिक जीवन के प्रति किसी में कुछ भी उत्साह न था। नाटक प्रगतिशील

जीवन का चित्र है, अजगर की भाँति जीवन व्यतीत करने वालों के जीवन का चित्र नहीं। अतः इस दशा में नाटकों की आशा ही क्या की जा सकती है!

परंतु यद्यपि इस मानसिक हलचल के कारण वास्तविक नाट्य-साहित्य का अभाव था, किन्तु नाटक के साहित्यिक रूप का अभाव न था। परंपरा की ऐसी ही महान् शक्ति होती है। संस्कृत में नाटकों को साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला है, इसीलिए नाटकीय प्रवृत्ति के एकांत अभाव में भी कितने ही नाटक लिखे गए। आधुनिक खोज से पता चलता है कि रीतिकाल में कई नाटक लिखे गए थे, परंतु वे सुंदर नहीं थे। अतः उनका अधिक प्रचार भी नहीं हुआ और वे काल के गर्भ में विलीन हो गए। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कवियों के प्रधान विषय नायिका भेद और रस-निरूपण—भी नाटक से ही संबंध रखने वाले थे। दरबार और दरबारी वातावरण से बहुत दूर साधारण जनता में भी इस नाटकीय रूप का काफी प्रचार था। विवाह के समय में शास्त्रार्थ की योजना, उत्सवों के अवसर पर स्वांग और नकल का प्रचार इसी का द्योतक है। कठपुतली का तमाशा और छाया-चित्रों का भी काफी प्रचार था। रामलीला के अवसर पर रावण, कुंभकर्ण आदि की कागज़ की विशाल मूर्तियाँ प्राचीन छाया-चित्रों के अवशेष हैं।

मध्यदेश में नाटकों का प्राचीनतम रूप रामलीला और रासलीला में मिलता है। इनके अतिरिक्त कुछ पर्वों पर उनसे संबंध रखने वाले महापुरुषों के जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाएँ भी नाटक रूप में दिखलाई जाती थीं। इस प्रकार की लीलाएँ हमें व्रज तथा पंजाब के दक्षिणी भाग में अधिक मिलती हैं। विलियम रिज़वे ने अपनी पुस्तक 'दि ड्रामा ऐंड दि ड्रामेटिक डान्सेज़ आव द नान-यूरोपियन रेसेज़' The Drama and the Dramatic dances of the Non European Races) में अनेक म्यूज़ियमों के उत्तरदायी अफसरों के कुछ पत्र उद्धृत किए हैं। उनमें रायबहादुर पंडित राधाकृष्ण मथुरा से लिखते हैं .

12th. April, 1913.

"On the Indian New Year's day, some portions of Ramayan were recited, and leaves of Neem and sugar-candy pieces distributed in the temple and the Calendar, called Putra

read to the people assembled—Paisa given to Putra. In this part of the country, particularly at Muttra and Brindaban, performances of plays from Ramayan, or reading from Ramayan on the New Year's day have been done away with some ten or fifteen years In lieu of this at some Bagichi—places of recreation—dancing girls are invited, and music and dancing beguile a few hours of those assembled."

× × ×

"In some temples Lord Krishna's Ras-Lila performances are performed by the Rasdhari companies. These Rasdharies applaud in high terms the sanctity and magnificence of Swami Ballabhacharya and his descendents before commencing the Ras-Lila Ghat-Sthapan (घट-स्थापन) ceremony, in which a pitcher full of water is placed and covered with a coconut, is also performed and commences on the New Year's day"

"*On Ram Naumi Ram's birthday is usually* observed and certain portions of Ramayan are sung and read. On the thirteenth day of the month, Hanuman is celebrated and his exploits and deeds from Ramavan are occasionally seen performed dramatically in Hanuman-Mandir. On the twenty-ninth day of the second month—the birthday of Nrisingh—dramatical performances of Nrisingh killing Hiranyakasyap and Prahlad is shown."

"On the twenty-fifth day of the third month

—that is on Ganga-Dasera—the villagers dance and sing in clusters the exploits of Indal, son of Udal, Prince of Banapur. The theme is the carrying off of Indal, son of Udal, when bathing at Bithur, by one witch Chitralekha who was enamoured of his beauty.

"On the twenty-sixth day of the fourth month, villagers are seen singing the glories of a royal couple Dhola the prince of Narwar C. I. and Maro, a beautiful princess of Mewar family.

× × ×

"In Aswin many modern Hindu plays, rather imaginary, are performed and appear to have originated from the Moghal period. Quite modern heroes form the themes and appear to me not at all connected with their history. The songs sung are in many cases as late as 1850 or even 1960 A. D Heroes are imaginary and supposed to be connected with royalties in the Moghal period.

अर्थात् १२ अप्रैल, १९१३।

भारतीय संवत्सर के प्रथम दिवस पर 'रामायण' के कुछ अंश गाए जाते हैं, और नीम की पत्तियाँ और बताशे मंदिरों में बाँटे जाते हैं, और पुत्र नामक पंचांग पढ़कर एकत्रित जनता को सुनाया जाता है, पुत्र को पैसा दिया जाता है। प्रांत के इस भाग में, विशेषतः मथुरा और वृंदावन में, वर्ष के प्रथम दिवस पर 'रामायण' के आधार पर नाटकों की लीलाएँ, अथवा 'रामायण' का पाठ, पिछले दस या पंद्रह वर्षों से बन्द कर दिया गया है। इसके स्थान पर कुछ बग़ीचों में वारांगनाएँ निमंत्रित होती हैं और एकत्रित जनता का कुछ समय संगीत और नृत्य में व्यतीत होता है।

× × ×

कुछ मंदिरों में रासधारी कंपनियों द्वारा भगवान् कृष्ण की रासलीला खेली जाती है। ये रासधारी रासलीला प्रारंभ करने से पहले स्वामी वल्लभाचार्य और उनके वंशजों की पवित्रता और विभूति की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। घट-स्थापन उत्सव भी मनाया जाता है। इसमें एक कलश में पूर्ण घट रक्खा

जाता है और एक नारियल से ढक दिया जाता है। यह नव मास के प्रथम दिवस से प्रारंभ होता है।

रामनवमी पर प्राय: रामजन्म मनाया जाता है 'रामायण' के कुछ अंश गाए और पढे जाते हैं। इस मास की पूर्णिमा को हनुमान का उत्सव होता है और कभी कभी हनुमान मन्दिरों में 'रामायण' से लेकर हनुमान के वीर कृत्यों की नाटकीय लीला की जाती है। दूसरे महीने के उन्तीसवें दिन—नृसिंह के जन्म दिवस पर—नृसिंह का हिरण्यकश्यप वध और प्रह्लाद की लीलाएँ नाटकीय रूप में दिखाई जाती हैं।

तीसरे महीने के पच्चीसवें दिन, अर्थात् गंगा दशहरा के दिन, गाँववाले झुंड के झुंड नाचते और ऊदल के पुत्र, बानपुर के राजकुमार इन्दल के वीर कृत्यों का गायन करते हैं। इसका कथानक बिठूर में स्नान करते समय ऊदल के पुत्र इन्दल को उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर चित्रलेखा नाम की एक जादूगरनी द्वारा उड़ा ले जाना है।

चौथे महीने के छब्बीसवें दिन गाँववाले एक राजदम्पति—नरवर के राजकुमार ढोला और मेवाड़ वंश की सुंदरी राजकुमारी मारू—की कीर्ति का गायन करते पाये जाते हैं।

× × ×

आश्विन में कुछ कल्पित आधुनिक हिन्दू नाटक खेले जाते हैं जिनका उदय मुग़लकाल में हुआ प्रतीत होता है। काफी नए वीर कथानक के विषय होते हैं और मुझे उनके इतिहास से उनका कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। उनमें गाए हुए बहुत से गीत १८५७ और १८६७ तक के हैं। ये वीर कल्पित हैं और मुगलकालीन राज्य वंशों से उनका संबंध माना जाता है। ऊपर के उद्धरण से यह साफ पता चलता है कि रामलीला और रासलीला के अतिरिक्त भी कुछ कथाएँ नाटक-रूप में दिखाई जाती थीं। इनका प्रारंभ मुग़लकाल से ही होता है। इनके कथानक केवल पौराणिक ही नहीं, कुछ किम्वदंतियों के महावीर, जैसे इंदल और रौझा, तथा कुछ मध्यकालीन ऐतिहासिक महापुरुष और कुछ कल्पित वीरों की कथाओं के आधार पर भी हैं।

हिन्दू जनता ने धार्मिक भावना तथा वीर-पूजा की भावना से प्रेरित होकर कुछ धार्मिक और लौकिक लीलाओं का प्रारंभ किया, परंतु क्रमश उनमें नाट्य कला के बीज अंकुरित होने लगे। ऐसा होना अनिवार्य भी था,

क्योंकि जनता धार्मिक भावना की संतुष्टि के साथ ही साथ अपना मनोरंजन भी चाहती थी। मुख्य उद्देश्य तो उनका धार्मिक ही बना रहा, परंतु साथ ही साथ उन्हें अधिक चित्ताकर्षक और कर्णप्रिय बनाने का प्रयत्न होता रहा। मध्यदेश के भिन्न भिन्न भूभागों में जनता की रुचि भिन्न थी। इस रुचि-भेद और वातावरण-भेद के कारण प्रत्येक प्रदेश में नाटक के पृथक् पृथक् रूप का प्रचार हुआ। इन नाटकों में जनता को आकर्षित करने के लिए नृत्य और संगीत का प्रवेश हुआ और उनके बाह्य रूप को अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार हमें एक साथ ही तीन प्रकार के नाटकों का विकास मिलता है। अवध, काशी और मिथिला में रामलीला का प्राधान्य था, यद्यपि राजपूताना, पश्चिमी संयुक्त-प्रांत मैसूर और मध्यप्रांत में भी रामलीला होती रही है। इन तीन पूर्वी प्रदेशों में आश्विन में पूरे एक महीने तक राम की लीलाएँ नाटक रूप में दिखाई जाती थी। ब्रज तथा उसके आस पास के प्रदेशों में रासलीला का प्राधान्य था जिसमें राधा और कृष्ण की प्रेमलीला दिखाई जाती थी और दक्षिणी पंजाब तथा पश्चिमी संयुक्त प्रांत, अर्थात् खड़ी बोली के मूल प्रदेश में नौटंकी अथवा सांगीत का अधिक प्रचार था।

साधारणतः रामलीला जनता के सामने केवल संवादों के रूप में आती है। इसमें रंगमंच तथा अन्य नाटकीय उपकरणों का एक मात्र अभाव है। इसका कथानक इतना विस्तृत है कि नाटकों के सीमित स्थान, समय और कार्य से मेल नहीं खाता। यद्यपि इन संवादों में काव्यत्व के साथ ही साथ चरित्र-गांभीर्य भी विशेष मात्रा में है, परंतु जनता वहाँ काव्य और चरित्र की आलोचना करने नहीं जाती। उसके लिए तो जितना आनन्द परशुराम और लक्ष्मण तथा रावण और अंगद के संवाद में मिलता है उतना भरत के राज्यत्याग के समय के लंबे भाषण तथा राम और सीता के सुन्दर चरित्र-चित्रण में नहीं मिलता। वास्तव में रामलीला केवल धार्मिक लीला के रूप में ही रह गई, उसमें नाटकत्व का विकास बिल्कुल नहीं हुआ।

रामलीला के प्रभाव से जिस नाट्य कला का विकास हिन्दी में हुआ उसमें गद्य अथवा पद्य में संवाद तथा वार्तालाप मात्र हुआ करता था। गोपाल प्रसाद का 'जिह्वा-दंत नाटक' इसी प्रकार की एक रचना है जिसमें जिह्वा और दंत कवित्त सवैयों में वाद-विवाद करते हुए अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार रंभा-शुक संवाद में भी रंभा और शुकदेव मुनि का कटोक्ति वार्तालाप मात्र है।

दूसरी ओर रासलीला में रंगमंच का विकास दिखाई पड़ता है। इसमें राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओं का प्रदर्शन होता है जो आकार में छोटे होने के कारण नाटकों के सीमित समय, स्थान और कार्य के बंधन में बाँधे जा सकते थे। इन लीलाओं का आधार-रूप सूर तथा अष्टछाप कवियों के स्वतंत्र खंडकाव्य अथवा भजन हैं जो छोटे और प्रदर्शन-योग्य हैं। इसी कारण रासलीला में रंगमंच भी मिलता है, यद्यपि वह केवल कामचलाऊ और घरेलू ढंग का हुआ करता था। रासधारी मंडलियाँ स्थापित करके मथुरा के चौबे उत्तर में पंजाब, पूर्व में बंगाल, दक्षिण में पूना और बरार तथा पश्चिम में राजपूताना तक यात्रा करते थे।

रासलीलाओं में भी कितने ही दोष थे। उनके वार्तालाप असंगत और कार्य अस्वाभाविक हुआ करते थे, परंतु उनके मधुर गानों में एक ऐसे आध्यात्मिक सौन्दर्य की ओर संकेत होता था कि जनता मुग्ध हो जाती थी। बात यह थी कि रासलीला पर सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों का बहुत प्रभाव पड़ा था और अधिकांश सूर के ही पद गाए जाते थे। उनमें संगीत का सौन्दर्य और रस का आनन्द दोनों पूर्णरूप से रहता था। परन्तु उनमें राम-लीला के महाकाव्य का गांभीर्य, प्रभावशाली तथा उच्च कोटि के वार्तालाप और चरित्र-गांभीर्य का अभाव था। यदि कोई अनुभवी नाटककार रासलीला के संगीत और रस-प्रवाह के साथ रामलीला के महाकाव्य का गांभीर्य, प्रभाव-शाली वार्तालाप तथा चरित्र-गांभीर्य का मिलन करा देता तो एक ऐसी नाट्य-कला का विकास होता जिस पर हमें समुचित गर्व होता। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से अब तक भी ऐसा नहीं हो सका।

उन्नीसवीं शताब्दी में रासलीला पर रीति-कवियों का प्रभाव पड़ा जिसके फल-स्वरूप उसमें न तो उतनी रस की मात्रा ही रह गई और न उतना सुन्दर संगीत ही, वरन् इनके स्थान पर दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। रासलीला में संगीत के साथ ही साथ नृत्य भी था। इस प्रकार रासलीला हमारे प्राचीन नाट्य-साहित्य का उपयुक्त प्रतिनिधि है जिसमें नाटक का मुख्य उद्देश्य रसात्मकता है और मनोरंजन के लिए नृत्य और संगीत का उपयोग होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विख्यात नाटिका 'श्री चंद्रावली' रासलीला के प्रभाव से विशेष प्रवाहित है और बीसवीं शताब्दी में वियोगी हरि ने 'श्री छद्मयोगिनी नाटिका' लिखकर उसी रासलीला का अनुकरण उपस्थित किया।

उत्तर पश्चिम संयुक्त-प्रांत, दिल्ली और विशेषकर पंजाब में सांगीत का

बड़ा प्रचार था जिसे साधारण जनता 'नौटंकी' के नाम से पुकारती थी। इसमें किम्वदंतियों के विख्यात पुरुषों तथा अनेक लौकिक वीरों की कथाएँ नाटक-रूप में मिलती हैं। पंजाब में गोपीचंद, पूरन भक्त तथा हकीकत राय का सांगीत बहुत प्रसिद्ध है। लखनऊ म्यूज़ियम के क्यूरेटर (Curator) पं० हीरानन्द शास्त्री रिजवे की पुस्तक में उद्धृत एक पत्र में लिखते हैं :

"I beg to say that in the Punjab at least such performances are given. At least I can name three excluding those connected with the scenes of the Epics or the Purans—where more modern and mundane heroes are the themes They are Gopichand, Puran and Hakikat. The last named is too modern and belongs to the late Moghal period. The former two are connected with a period of early Hindu History. Gopichand is very often represented in frescoes also."

अर्थात्—मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि कम से कम पंजाब में ऐसी लीलाएँ होती हैं। मैं, कम से कम, ऐसी तीन लीलाओं का नाम गिना सकता हूँ जिनका महाकाव्यों और पुराणों के प्रसंगों से कोई सम्बन्ध नहीं और जिनके नायक अधिक आधुनिक और लौकिक हैं। ये लीलाएँ गोपीचन्द, पूरन और हकीकत की हैं। इनमें अंतिम बहुत नवीन है और उत्तर मुग़ल-काल से सम्बन्ध रखती है। पहली दो लीलाओं का सम्बन्ध हिन्दू इतिहास के प्राचीन युग से है। गोपीचन्द की लीला प्रायः भित्ति-चित्रों में भी अंकित मिलती है।

गोपीचन्द और पूरन भक्त सारे उत्तरी भारत में विख्यात हैं। रासधारी मंडलियों की भाँति नौटंकी मंडलियाँ भी बहुत दूर दूर तक घूम-घूम कर नाटक दिखाती थीं। रासलीला की ही भाँति नौटंकी का रंगमंच भी कामचलाऊ और घरेलू था और इसमें भी छोटे बालक स्त्रियों के वेष में स्त्रियों का अभिनय किया करते थे। दृश्यान्तर का अभाव सूत्रधार पूरा किया करता था जो समय समय पर आकर दर्शकों को बतलाया करता कि अमुक दृश्य कहाँ हो रहा है और पात्र कौन-कौन हैं।

रामलीला, रासलीला और सांगीतों में वास्तविक नाट्य-कला के अंकुर

विद्यमान थे, फिर भी उनसे नाट्य-कला का विकास नहीं हुआ। इनमें कथानक था, जो धार्मिक ग्रंथों तथा जनता के प्रिय महापुरुषों के जीवन से सम्बन्ध रखता था, इनमें संगीत था और नृत्य भी, साथ ही साथ हास्यरस का पुट भी काफी मिल जाता था, फिर भी इनका विकास न हो सका। पारसी कंपनियों के नाटकों ने, जो पाश्चात्य देश से लिए हुए रंगमंच, सुन्दर दृश्य, दृश्यांतर और आकर्षक वेश भूषा से युक्त थे इनके लिए दर्शक नहीं छोड़े। विज्ञान की सहायता से जिस रंगमंच ने भारत के कोने कोने तक हलचल डाल दी, उससे टक्कर लेने की शक्ति इन घरेलू, रंगमंचविहीन लीलाओं में न थी। फल यह हुआ कि इन घरेलू नाटकों का असमय में ही गला घोंट दिया गया।

इस बाह्य कारण के अतिरिक्त इन लीलाओं में स्वयं भी विकास के लिए अधिक सामग्री न थी। इनमें नाटकीय से अधिक अनाटकीय सामग्री थी। रासलीला में वार्तालाप कम था और उससे भी कम कार्य था, जो कुछ था वह केवल संगीत था। रामलीला बहुत बड़ी थी और नौटंकियों में वार्तालाप छंदों में हुआ करते थे और कार्य की बहुत कमी थी। कार्य का अभाव अति-नाटकीय तत्व (Melodrama) से पूरा कर लिया जाता था।

रामलीला, रासलीला और सांगीत के अतिरिक्त कितनी ही छोटी-मोटी कृतियाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में प्रचलित थीं। पूना के डा० आर० भाण्डार-कर ने गुजरात में प्रचलित 'भँवाई' का उल्लेख किया है। इस 'भँवाई' से ही मिलता-जुलता हमारे यहाँ भाँड़ों का तमाशा और नक़ल बहुत प्रचलित थी। जयशंकर प्रसाद इन भाँड़ों का सम्बन्ध संस्कृत के हास्यरस प्रधान एकांकी नाटक 'भाण' से जोड़ते हैं। 'भँवाई' की ही भाँति भाँड़ों की विशेषता उनके अश्लीलत्व में है। अश्लीलत्व के अतिरिक्त न तो उनमें हास्य ही है न नाटकत्व ही।

इन घरेलू नाटकों के अतिरिक्त १८५०-६० के आस-पास दो प्रकार के नाटक और प्रारंभ हुए। पहला नवाब वाजिदअली शाह के दरबार में १८५३ में मुंशी अमानत खाँ के 'इन्दर-सभा' के रूप में प्रकट हुआ। नाट्य कला की दृष्टि से 'इन्दर-सभा' ओपेरा (Opera) अर्थात् गीति-नाट्य है। इसमें दो तिहाई या इससे भी अधिक भाग गानों से भरे हैं। केवल एक तिहाई भाग में वार्तालाप है जो दोहों और ग़ज़लों में है। दृश्य का इसमें भी अभाव है। जो पात्र रंगमंच पर आते हैं वे पहले अपना परिचय देते हैं।

इन्द्र अपने ही दरबार में आकर पहले अपना परिचय इस प्रकार दर्शकों को देते हैं :

> राजा हूँ मैं क़ौम का और इन्दर मेरा नाम।
> बिन परियों के दीद के मुझे नहीं आराम।

और इसी प्रकार नीलम परी, पुखराज परी और लाल परी इत्यादि भी अपना अपना परिचय देती हैं। इस छोटे से नाटक में गानों की भरमार है। जनता ने इसे बहुत अधिक पसद किया। १६०० ई० तक जब कभी 'इन्दर-सभा' खेला जाता था तो दर्शकों की भीड़ सा लग जाती थी। इसकी सर्वप्रियता के कारण इसके गाने हैं।

'इन्दर-सभा' की तरह किसी दूसरे नाटक के लिखे जाने के पहले ही १८५६ में अवध की नवाबी ही समाप्त हो गई। नाट्य-कला के इस नए बीज का अभी अकुर मात्र ही उगा था कि उसका भी अंत हो गया। फिर न तो उत्तर भारत में कोई नवाबी ही रह गई न दूसरा 'इन्दर-सभा' ही निकला। परतु इस एक 'इन्दर-सभा' ही ने जनता के हृदय में स्थान कर लिया था। कई वर्षों बाद पारसी व्यवसायी कपनियों ने यह नाटक खेला और इसी के अनुकरण में भी कितने नाटक लिखे गए, परतु वे केवल अनुकरण मात्र रह गए। जो सौन्दर्य अमानत खाँ की 'इन्दर-सभा' में है वह 'मुन्दर-सभा', 'बदर-सभा' इत्यादि में देखने को भी नहीं मिलता।

इसके पश्चात् पारसी थियेटरों का युग आता है। १८७० ई० के आस पास सेठ पेस्टनजी फ्रेमजी ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कपनी' खोली और इसके पश्चात् कितनी ही और कपनियाँ खुलीं जिनमें मालीवाला का 'विक्टोरिया नाटक कपनी' और कावसजी की 'अलफ्रेड थियेट्रिकल कपनी' बहुत प्रसिद्ध हैं। इन कपनियों ने यद्यपि कोई सुदर नाटक अथवा प्रसिद्ध नाटककार उत्पन्न नहीं किया, परतु उन्होंने हमें एक अत्यन्त उपयोगी वस्तु—रगमच दी। रग-मच हमारे लिए एक नई वस्तु थी। अब तक हम रगमच का अर्थ समझते थे एक ऊँची जगह जिसके बीच में एक परदा 'ग्रीन रूम' और रगमच का सृजन करता था। परतु पारसी कपनियों ने हमें रगमच दिया जो शेक्सपियर के समय के इगलैंड के रगमच के आधार पर भारतीय वातावरण के उपयुक्त निर्मित किया गया। प्रत्येक कपनी का अपना नाटककार (Play-wright) होता था जो अपनी कपनी के लिए नए नए नाटक लिखता। वे

"The theatre shuld be closed against the untidy, heretics, strange-armed people, the immoral, the sick, the unappreciating and the reprobate The presiding man should be capable of being umpires, and be remarkable for carefulness, gravity, justice, modesty, taste, cheerfulness and a sound knowledge of music and dancing" [पृ० ६१]

अर्थात्—अस्वच्छ, विधर्मी, विचित्र अस्त्रधारी, पतित, रोगी, अरसिक और पापी मनुष्यों को नाट्यशाला में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। ऐसे पुरुष को सभापति बनाना चाहिए जिसमें निर्णय करने की योग्यता हो और जो अवधानता, गाम्भीर्य, न्याय, नम्रता, रुचि, प्रसन्नता तथा संगीत और नृत्य के सम्यक् ज्ञान आदि गुणों से अलंकृत हो।

इस प्रकार दर्शकों पर प्रतिबंध लगाकर आदर्शवादी नाटकों को काव्यमय बनाया जाता था। परंतु उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में जनसत्तावाद तथा व्यक्तिवाद के इस युग में दर्शकों पर कोई प्रतिबंध लगाना संभव न था। इसीलिए दर्शकों पर प्रतिबंध करने के स्थान पर साधारण जनता की रुचि के अनुकूल नाटकों को ही आदर्शवाद से नीचे उतारना पड़ा। दुर्भाग्यवश उन्नीसवीं शताब्दी में जनता की रुचि निकृष्टतम श्रेणी तक पहुँच गई थी। मानसिक हीनता और नैतिक पतन अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुके थे। कविगण राधाकृष्ण की प्रेमलीला की ओट में व्यभिचार और अनाचार को आश्रय दे रहे थे। उर्दू काव्य का बाजारू प्रेम जनता में विष-बीज बो रहा था। ऐसे अनैतिक वातावरण में ललित कलाओं का प्रारंभ, नृत्य और संगीत का प्रचार, जनता की विलासिता और पतन के वर्द्धक ही प्रमाणित हो सकते थे। पारसी थियेटर्स व्यवसायी कंपनियाँ थीं। उन्होंने पैसों के लिए जनता ने जो माँगा वही उपस्थित किया, जनता की रुचि परिमार्जित करना उनका ध्येय न था। अतः उनके नाटकों में नृत्य और संगीत के लिए नाट्य-कला का बलिदान हुआ। यद्यपि विद्वान् और पढे लिखे लोग पारसी थियेटर्स से घृणा करते थे, परंतु प्रतिदिन ऐसे दर्शकों की वृद्धि होती जाती थी जो इन नाटकों को बहुत पसंद करते थे।

हरिश्चंद्र जनता की इस भद्दी रुचि से भली भाँति परिचित थे। वे हिन्दी में एक नाट्य-कला का विकास करना चाहते थे, परंतु जनता की इस भद्दी रुचि

से वे सहमत नहीं हो सकते थे। एक बार वे किसी पारसी कंपनी का 'शकुन्तला' नाटक देखने गए थे जो कालिदास की अमर कृति के आधार पर लिखी गई थी। डाक्टर थीबो भी थियेटर हाल में उपस्थित थे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि नायिका 'शकुन्तला' एक हाथ कमर के नीचे और दूसरा अपने सिर पर रखे हुए नीच जाति की गँवारू स्त्रियों की तरह नाचती हुई गा रही है 'पतली कमर बल खाय', तब वे डाइरेक्टरों को कोसते हुए थियेटर से बाहर निकल आए। नाट्य-कला की इस चरम कृति में नायिका को इस ढंग से इस प्रकार भद्दे गीत गाती देखकर हरिश्चद्र के संस्कृत हृदय को एक ठेस-सी लगी। वे सस्कृत के आदर्शवादी नाट्य-कला के पुनरुत्थान में लग गए और भरत तथा धनजय की नाट्य-कला का पुनः अध्ययन प्रारभ हो गया। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हरिश्चंद्र ने प्रचीन नाटकीय आदर्शों का अध अनुकरण किया। धनजय के नियम इतने नपे-तुले और नियमित हैं कि उनमें मौलिकता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। फिर प्रत्येक मनुष्य अपने वातावरण और परपरा के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना रह भी नहीं सकता। हरिश्चद्र और उनके समकालीन नाटककारों पर इन दोनों का ही यथेष्ट प्रभाव पड़ा। हरिश्चद्र की 'श्री चन्द्रावली नाटिका' यद्यपि मूलरूप मे दशरूपक' मे वर्णित नाटिका' के नियमों का पूर्णरूप से पालन करती है, परन्तु उस पर रासलीला की छाप स्पष्ट है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' में सगीतों का कथानक-सौन्दर्य है; 'भारत-जननी' पर ओपेरा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और उनके प्रहसनों पर पारसी थियेटरों का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है। परन्तु ये सभी प्रभाव किसी एक नाटक में नहीं मिलते। दूसरी ओर हरिश्चद्र तथा उनके साथियों के नाटकों की शैली पर रीतिकालीन कविता का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है। रीतिकाल में केवल मुक्तकों की ही रचना प्रधान रूप से हुई, प्रबध-काव्य और नाटकों का प्रचार उस काल मे न था। इन मुक्तकों में जीवन के किसी एक अंग की कोई चमत्कारपूर्ण और अद्भुत घटना नाटकीय शैली में हृदयस्थ हुआ करती थी। जीवन की अनेकरूपता तथा उसका सगीत और लय जो काव्यों में पाया जाता है, मुक्तकों मे नहीं मिलता। तीन सौ वर्षों तक मुक्तक कविता में अभ्यस्त होने के कारण हिन्दी कवियों का मस्तिष्क और प्रतिभा ही कुछ इस साँचे में ढल गई थी कि वे जीवन के केवल किसी विशेष अंग की चमत्कारपूर्ण घटनाओं पर ही दृष्टि डाल पाते थे। इसलिए जब इन कवियों ने नाटक लिखना प्रारम्भ किया तो वे जीवन की कुछ अद्भुत और चमत्कारपूर्ण घटनाओं का संकलन एक अव्यवस्थित कहानी के रूप में कर

देने, जिसमें न तो कार्यों की एकरूपता होती न कथानक का अबाध प्रवाह। उनमें कुछ दृश्य तो ऐसे भी होते जिनका नाटक से कोई विशेष संबंध ही न होता और अनेक ऐसे दृश्य भी होते जिनका केवल उल्लेख मात्र ही पर्याप्त था। उदाहरण के लिए राधाकृष्ण दास के प्रसिद्ध नाटक 'राजस्थान-केसरी या राणा प्रतापसिंह' में प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य तथा चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य नाटक के मुख्य कथानक से कोई संबंध नहीं रखते और वे बिना किसी बाधा के नाटक से निकाले जा सकते थे। दूसरा अंक अकबर की नीति समझाने के लिए लिखा गया था जो नाटक के कथानक को आगे नहीं बढ़ाता और इस कारण नाटक में उसका कोई स्थान नहीं। 'रणधीर प्रेममोहिनी' में कितने ही दृश्य केवल संकेतमात्र में दिए जा सकते थे। इन नाटकों का कथानक अव्यवस्थित और शिथिल है। प्रबंध-काव्यों और गीति-काव्यों के अभाव के कारण इन नाटकों में महाकाव्य का गांभीर्य (Epic-grandeur), चरित्र-चित्रण और संगीत का एकांत अभाव है। संलाप अस्वाभाविक और असंगत हैं। उनमें न तो समानुपात का बोध (Sense of proportion) है न निर्देशन (direction) हाँ, उनमें रीतिकवियों की वाग्विदग्धता और दूर की सूझ खूब ही थी।

शैली की दृष्टि से ये नाटक तो और भी निराशाजनक हैं। ऐसा जान पड़ता है कि नाटक के पात्र स्वयं न तो कुछ सोच ही सकते हैं न उनका कोई व्यक्तित्व है, वे गूँगे और बहरे-से खड़े रहते हैं और कवि-नाटककार ही उनके पीछे खड़े होकर बोला करते हैं। क्या भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटक और क्या बल्देवप्रसाद मिश्र के, सभी स्थलों पर कवि पात्रों की ओट से बोलते हुए सुनाई पड़ते हैं।

हरिश्चंद्र-स्कूल के नाटक पारसी थियेटरों के अश्लील और भद्दे नाटकों से असंतोष और प्रतिक्रिया रूप में लिखे गए थे। इन नाटकों का जनता में प्रचार नहीं हुआ और केवल कुछ थोड़े से पढ़े लिखे लोग ही जो पारसी थियेटरों से असंतुष्ट थे, इन्हें पढ़ते और अभिनीत करते थे। इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य जनता की रुचि को उन्नत और संस्कृत बनाना था। कहा जा सकता है कि ये नाटक 'गोष्ठी-रंगमंच' (Drawing-room-theatre) के लिए लिखे गए थे जिसके दर्शक केवल कुछ इने-गिने विद्वान् ही हो सकते थे। शायद ये नाटककार यह सोचते थे कि विद्वान् लोग इन नाटकों से प्रभावित

होकर जनता में इन्हीं नाटकों का प्रचार करेंगे और इस प्रकार पारसी थियेटरों का प्रचार कम हो जायगा। किसी विशिष्ट रंगमंच के अभाव में इस 'गोष्ठी-नाट्य-साहित्य' ने पारसी रंगमंच को ही अपनाया।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में दो भिन्न प्रकार का नाट्य-कला का विकास हुआ। पारसी कंपनियों ने अपना रंगमंच शेक्सपीरियन रंगमंच के आधार पर भारतीय वातावरण के उपयुक्त निर्मित किया। नाटकों का वातावरण उर्दू काव्य की शोखी और शरारत तथा बाजारू प्रेम का रक्खा गया। कथानक फारसी की प्रेमकथाओं, अँगरेज़ी साहित्य की रोमांचकारी कहानियों, नाटकों, आख्यानों तथा पुराणों की मनोरंजक प्रेमकथाओं से लिया गया और मनोरंजन की सामग्री जनता में प्रचलित वेश्याओं के अश्लील नाच गानों तथा भाड़ों से उधार ली गई। इनमें एक और नई बात थी कथानक का वैचित्र्य। भारतवर्ष में नाटक का संबंध रस से बहुत घनिष्ट है। जब कोई रोता है या इसी प्रकार कोई और भाव प्रदर्शित करता है तो लोग कहते हैं—'क्या नाटक करते हो?' परंतु उन्नीसवीं शताब्दी में नाटक का अर्थ अँगरेजी का ड्रामा हो गया जिसका अर्थ होता है कथानक का वैचित्र्य। अँगरेजी नाटकों में कथानक के वैचित्र्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पारसी थियेटर्स के नाटकों में रस-प्रवाह के स्थान कथानक-वैचित्र्य ही अधिक रहता था। दूसरी ओर हरिश्चंद्र-स्कूल के साहित्यिक नाटकों में रंगमंच पारसी थियेटर्स से उधार लेकर उसे 'गोष्ठी रंगमंच' में परिवर्तित किया गया। इसके दर्शक केवल पढ़े-लिखे विशिष्ट लोग ही होते थे। कथानक संस्कृत नाटकों तथा पौराणिक कथाओं के आधार पर निर्मित हुए। उनका वातावरण रीति-काव्य के वातावरण से मिलता-जुलता था और उनकी शैली अलंकृत और आडंबरपूर्ण थी। कथानक-वैचित्र्य उनमें थोड़ा अवश्य था परंतु रस और भाव के अनर्गल प्रवाह में खो-सा गया था। नाट्य-कला की दृष्टि से हरिश्चंद्र-स्कूल की कला पारसी नाटकों से उन्नत न थी, हाँ इसका वातावरण और नैतिक चित्रण शुद्ध अवश्य था। दोनों में ही सुव्यवस्थित और सुंदर कथानक चरित्र-चित्रण, गंभीर और स्वाभाविक वार्तालाप का नितांत अभाव था। ये दोनों नाट्य-कलाएँ बीसवीं शताब्दी में भी चलती रहीं। नाटकों के द्वितीय उत्थान (१६१२-१६२५) में एक नवीन नाट्य-कला का विकास हुआ।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही पारसी थियेटर के नाटकों में उन्नति के अंकुर प्रकट होने लगे। नारायणप्रसाद 'बेताब' ने नाटक लिखना ही अपना

व्यवसाय बनाया और सबसे पहले नाटकों की भाषा में परिवर्तन किया। अब तक पारसी नाटकों की भाषा अधिकांश उर्दू होती थी और उनके गाने ग़ज़ल और थियेटर तर्ज़ के होते थे। 'बेताब' ने सरल हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया और गाने सब हिन्दी में लिखे। इस प्रकार उनकी भाषा अधिक कर्णप्रिय होगई। फिर कथानक में पौराणिक कथाओं को स्थान दिया गया। पारसी कंपनियों के अतिरिक्त और भी नाटक-मंडलियाँ खुलने लगीं और आगा हश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा', राधेश्याम कथा-वाचक इत्यादि कितने ही नाटककार रंगमंच के लिए नाटक लिखने लगे।

द्वितीय उत्थान में पारसी नाटकों की नाट्य-कला में कुछ चमत्कारपूर्ण परिवर्तन होने लगे। नाटकों में रोमांचकारी दृश्यों की अधिकता होने लगी जो सिनेमा अथवा बाइसकोप की देन थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही हमारे देश में सिनेमा का प्रचार बढ़ रहा था। बड़े-बड़े नगरों में दो दो तीन-तीन सिनेमा-घर खुल गए थे, जहाँ पर नागरिक जनता मेरी पिकफोर्ड के सौन्दर्य से आकृष्ट हो रही थी, डगलस फेयरबैंक्स के रोमांचकारी साहस और प्रणययुक्त हाव भावों पर मुग्ध थी और चार्ली चैपलिन के हास्योत्पादक अंग संचालन पर प्रसन्न हो रही थी। छोटे-छोटे नगरों में जहाँ सिनेमा-घर नहीं थे, कुछ भ्रमण करने वाली कंपनियाँ घूम-घूम कर खेल दिखाती थीं। हाँ, गाँवों में उनकी पहुँच न थी। इस प्रकार नगर की जनता क्रमशः इन चमत्कारपूर्ण रोमांचकारी दृश्यों के पीछे पागल होने लगी थी और नाटकों में भी ऐसे दृश्यों की खोज करती थी। कंपनी के मालिक और नाटककार जनता की इस रुचि की अवहेलना न कर सके और धीरे-धीरे नाटकों में भी ऐसे दृश्यों की अवतारणा होने लगी। यथा, राधेश्याम-रचित 'भक्त प्रह्लाद नाटक' में एक दृश्य देखिए :

हिरण्यकशिपु के सिर का ताज गायब होकर प्रह्लाद के सिर पर आ जाता है, हिरण्यकशिपु की तलवार टूट जाती है और उसका टूटा भाग बैकुंठ में भगवान विष्णु के हाथों में दिखाई देता है। इसी आश्चर्य पर यवनिका-पात होता है। इत्यादि

अथवा 'विश्व'-रचित 'भीष्म-प्रतिज्ञा' के द्वितीय अंक, पंचम-दृश्य में देखिए :

आवाज़ का होना, अग्नि की लपट निकलना, और काम का भीष्म के सामने आना। इत्यादि

अथवा लाल कृष्णचंद्र 'जेबा' रचित 'भारत दर्पण या क़ौमी तलवार' से लीजिए :

शब्द, दृश्य-परिवर्तन—एक बड़ा सा चर्खा दृष्टिगोचर होता है. चर्खा कठिन कृपाण के रूप में परिवर्तित हो जाता है। तलवार पर राष्ट्रीय अस्त्र (क़ौमी तलवार) यह शब्द अंकित है। एक शब्द होता है और योरोपीय व्यापार एक राक्षस के रूप में प्रकट होता है. पुनः शब्द होता है और भारत-माता प्रवेश करती हैं। माता चर्खा के समान आकार वाले उसी कठिन कृपाण को लेकर तीव्र गति से राक्षस को दिखाती हैं। योरोपीय व्यापार नामधारी राक्षस का हृदय भयभीत और शरीर कंपित हो जाता है।

ये दृश्य सिनेमा के दृश्यों से मिलते-जुलते हैं। जनता इन्हें बहुत ही रुचिपूर्वक देखती थी। 'उषा-अनिरुद्ध नाटक' की प्रस्तावना में राधेश्याम कथावाचक लिखते हैं :

नाटक दृश्य काव्य है। यह सीन सीनरी से लोगों में पास होता है।

यह उस काल के एक बहुत ही लोकप्रिय नाटककार की सम्मति है। भारतीय नाटककार जनता को वे दृश्य देने में असमर्थ थे जो सिनेमा में मिलते थे, फिर भी उन्होंने सिनेमा के दृश्यों से मिलते-जुलते कुछ ऐसे दृश्यों की कल्पना की जो आश्चर्यपूर्ण थे और जनता की कौतूहल-प्रवृत्ति को शांत कर सकते थे। संस्कृत नाटकों में भी कभी कभी ऐसे अद्भुत और भयानक रसपूर्ण दृश्य मिल जाया करते हैं। 'मालती-माधव' में श्मशान का दृश्य इसी प्रकार का है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक में भी श्मशान का दृश्य मिलता है।

सीन सीनरियों के अतिरिक्त जनता कुछ उत्तेजक सामग्री की भी खोज करती थी और नाटककार कुछ विशेष चरित्रों द्वारा इस प्रकार की सामग्री जुटाते थे। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण "हसरत" रचित 'महात्मा कबीर' नाटक में बदना (वेश्या) और उसकी नायिका का वार्तालाप सुनिए :

नायिका—अरी वाह बीबी बदना! आज तो गज़ब का जोबन बनाए फिरती हो। जिस ओर झुलावे के साथ घूम जाती हो, उधर ही कत्लेआम मचाती फिरती हो।

> हर अदा से पलकती है शरारत भरी हुई।
> हर बात में मचलती है जवानी भरी हुई। इत्यादि

अथवा "विश्व"-रचित 'भीष्म-प्रतिज्ञा' में लड़कियाँ गाती हैं :

> लड़कियाँ—गोरी धीरे चलो कमर लचक न जाय
> लचक न जाय गोरी मुरक न जाय,
> गोरी धीरे चलो कमर लचक न जाय।

यह छेड़छाड़ की प्रवृत्ति उर्दू कविता और रीति-काव्य से पूर्णतया मेल खाती है। जनता को इस प्रकार के दृश्य बहुत पसंद थे, इसीलिए नाटककारों ने इन्हें नाटकों में स्थान दिया।

बीसवीं शताब्दी नाटकों की एक और विशेषता हास्यरस की अवतारणा है। उन्नीसवीं शताब्दी के पारसी नाटकों में स्थान स्थान पर कुछ भद्दे और अश्लील हास्य-स्थल मिल जाया करते थे, परंतु हास्यात्मक दृश्यों की समुचित आयोजना पहले पहल आग़ा हश्र काश्मीरी ने की। उन पर शेक्सपियर का बहुत प्रभाव पड़ा। परंतु शेक्सपियर के विपरीत आग़ा हश्र ने अपने नाटकों में दो स्वतंत्र कथानकों की आयोजना की, जिसमें एक तो गंभीर होता और दूसरा हास्योत्पादक। जनता प्रायः गंभीर कथानक से अधिक हास्यमय कथानक को ही पसंद करती। धीरे-धीरे प्रत्येक नाटक में एक हास्यमय कथानक रखने का नियम ही चल पड़ा। समय के साथ यह फैशन इतने ज़ोर से बढ़ा कि जो लोग हास्यपूर्ण कथानक की रचना नहीं कर सकते थे, वे किसी दूसरे से प्रहसन लिखा कर अपने नाटकों के साथ जोड़ दिया करते। यथा, नंदकिशोर लाल वर्मा ने अपने 'महात्मा विदुर' नाटक में शिवनारायण सिंह रचित 'कलियुगी साधु' प्रहसन जोड़ दिया। जमुनादास मेहरा अपने प्रसिद्ध नाटक 'पाप-परिणाम' के वक्तव्य में लिखते हैं :

> **प्रस्तुत पुस्तक में हमने उद्योग किया है कि दोनों ही कार्य रहें, अर्थात् विषय सामाजिक, वर्तमान समय के उपयुक्त और उपदेशप्रद तथा चित्ताकर्षक हो और जो सदा से पार्सी कंपनियों के भक्त रहते आए हैं, वे भी यदि इसे खेलें, तो उनका भी मनोरंजन हो। इसलिए इसमें स्थान-स्थान पर पार्सी कंपनियों के ढंग की शायरी तथा हास्य कौतुक आदि भी दे दिया गया है।**

पारसी रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटकों की नाट्य-कला अराजक और अव्यवस्थित अवस्था में थी। किसी भी नाटककार को नाटक के वास्तविक आदर्श और मूल्य का ज्ञान नहीं था, वह न तो किसी नियम का निर्वाह करता और न नाटक लिखने का उसका कोई विशेष उद्देश्य ही होता। कला-सौन्दर्य

की सृष्टि के लिए जिस संयम और नियम-पालन की आवश्यकता होती है वह इन नाटककारों में न थी। नाटकों का ढेर अवश्य लग गया था, परंतु उनमें एक भी सुंदर कृति नहीं कही जा सकती। इस अराजकता के मुख्य दो कारण हैं—एक तो इन नाटककारों में कोई भी ऐसा श्रेष्ठ नाटककार पैदा नहीं हुआ जिसमें वास्तविक जीवन समझने की, और नाट्य-कला तथा रंगमंच के नियमों की रक्षा करते हुए उसे चित्रित करने की क्षमता हो। नाटककार तो अनगिनती हुए परंतु महान् नाटककार एक भी नहीं हुआ। जिन लोगों में जीवन के वास्तविक चित्रचित्रित करने की प्रतिभा थी, वे जनता की रुचि और मनोविज्ञान की अवहेलना करके साहित्यिक नाटक लिखने में लगे रहे जो एकांत में बैठकर पढ़े भर जा सकते थे, रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत नहीं हो सकते थे। दूसरा कारण था इन नाटककारों में नाटकीय निर्देशन का अभाव। वे यह भी निश्चय नहीं कर पाते थे कि कौन सा दृश्य प्रधान है और कौन सा गौण। वे कितने ही गौण दृश्यों को अधिक प्रधानता देकर विस्तारपूर्वक चित्रित करते थे और कितने ही प्रधान दृश्यों का केवल संकेत मात्र कर दिया करते।

परंतु इन रंगमंचीय नाटकों के विरुद्ध आंदोलन भी आरंभ हो गया था। हरिश्चंद्र ने पारसी नाटकों का विरोध किया ही था: १६०८-०६ के आसपास उनके दो भतीजों—श्री कृष्णचंद्र और श्री व्रजचंद्र ने बनारस में 'श्री भारतेन्दु-नाटक-मंडली' स्थापित की जहाँ साहित्यिक नाटकों का अभिनय हुआ करता था। दूसरी ओर बँगला से डी० एल० राय और गिरीश घोष के नाटकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहे थे, जिनमें साहित्यिकता के साथ ही साथ रंगमंचीय आवश्यकताओं की भी पूर्ति की गई थी। अनुवादों की एक बाढ़ सी आगई थी जिसमें मौलिक कृतियाँ विस्मृत-सी हो रही थीं। १६१२ तक किसी भी सुंदर मौलिक रचना का पता नहीं मिलता। १६१२ में 'कुरुवन दहन' प्रकाशित हुआ जिसमें नवीन नाट्य-कला के अंकुर थे। हरिश्चंद्र के नाटकों में 'नीलदेवी' में कथानक का सौन्दर्य मिलता है, 'भारत-जननी' में संगीत है, 'श्री चंद्रावली' में रस का अबाध प्रवाह है, 'सत्य हरिश्चंद्र' में चरित्रों का सुंदर चित्रण है और 'अंधेर नगरी' में हास्य का आनंद है, परंतु ये सभी गुण वे किसी एक नाटक में प्रदर्शित न कर सके। यह काम बदरीनाथ भट्ट ने १६१२ में 'कुरु-वन-दहन' में किया जो संस्कृत नाटक 'वेणी संहार' का रूपांतर है। इसमें उन्होंने कथानक का सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण और हास्य का सम्मिश्रण किया और साथ ही साथ इसे आधुनिक

वातावरण और रुचि के अनुकूल भी बनाया। फोरवर्ड (Foreword) में वे लिखते हैं :

Instead, I resolved to try another course which, I hoped, would allow me more freedom to my pen, that is, of remodelling it. The persent work is the result of that attempt I have completed it in seven acts, instead of six, and have tried to make it suit the modern tastes and conditions, as far as possible, by means of various additions, omissions and alterations in the speeches of the Dramatic Personæ I have even introduced some new characters together with humorous dialogues, whenever I thought it necessary. Infact, I have tried to make this work a type of the combination of English and Sanskrita Dramaturgy. Whenever the defect seemed unaccountable and whenever the exigencies of the drama required, I filled the wide gaps between one Act and another of the 'Veni-Samhar' by introducing new characters

अर्थात्—इसके स्थान पर, मैंने एक दूसरा पथ अनुसरण करने का निश्चय किया जिसमें मेरी लेखनी को अधिक स्वच्छंदता प्राप्त होने की आशा थी। यह पथ इसे ('वेणी सहार' को) रूपांतरित करना था। प्रस्तुत ग्रंथ उसी प्रयास का फल है। मैंने छ के स्थान पर इसे सात अंकों में समाप्त किया और नाटकीय पात्रों के भाषणों को अनेक स्थलों पर घटा, बढ़ा और परिवर्तित करके इसे यथासभव आधुनिक रुचियों और परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। कहीं-कहीं आवश्यक समझ कर मैंने कुछ नवीन पात्र और कुछ हास्यपूर्ण सलाप बढ़ा दिए हैं। वस्तुतः मैंने इस ग्रंथ को अँगरेज़ी और संस्कृत नाटकीय विधानों का समन्वय बनाने का प्रयत्न किया है। जहाँ कहीं दोषों का कोई कारण नहीं मिल सका और जहाँ कहीं नाटकीय प्रसगों के लिए आवश्यकता जान पड़ी, वहाँ वेणी-सहार' के अंकों के बीच रिक्त स्थलों को नवीन पात्रों के द्वारा भर दिया।

नाट्य कला में यह उन्नति बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रत्येक साधारण और महत्वहीन घटना के लंबे तथा पाण्डित्यपूर्ण संलापों को विस्तार से अंकित करने के स्थान पर इस प्रकार की कई साधारण घटनाओं को एक ही दृश्य में दो साधारण पात्रों के सलाप के रूप में दे दिया गया। इस प्रकार केवल महत्वपूर्ण दृश्यों और घटनाओं का ही विस्तारपूर्वक चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए 'कुरु-वन-दहन' में भीष्म की मृत्यु तो दो साधारण पात्रों के सलाप द्वारा एक छोटे से दृश्य में बतला दी जाती है, परन्तु जयद्रथ-वध का वर्णन बहुत ही विस्तार के साथ एक अंक में किया गया है। इस प्रकार नाट्य-कला में निर्देशन-नैपुण्य और कलात्मक सयम का सौन्दर्य आ गया है। दूसरा महत्वपूर्ण विकास हास्यमय दृश्यों की अवतारणा है। गभीर और हास्यमय दृश्यों तथा सभाषणों का सुदर सामजस्य हिन्दी में पहले पहल 'कुरु-वन-दहन' में ही मिलता है। नाटक का वातावरण कवित्वपूर्ण है, फिर भी उसमें इतनी रसात्मकता नहीं है कि कार्य में बाधा उपस्थित हो। चरित्र-चित्रण गभीर और सुदर है। अभिनय की दृष्टि से भी नाटक बहुत ही सरल और सुदर है और रंगमच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकता है। सस्कृत नाट्य-कला में रसात्मकता की प्रधानता के कारण जो कुछ दोष आ जाया करते थे 'कुरु-वन-दहन' में उनका भी निराकरण हो गया है। तात्पर्य यह कि 'कुरु-वन-दहन' में हिन्दी नाट्य-कला का महत्वपूर्ण विकास हुआ।

नाट्य-कला में एक और महत्वपूर्ण विकास माधव शुक्ल रचित 'महाभारत (१६१५) में मिलता है। उनपर भी पारसी रंगमंच का विपरीत प्रभाव पड़ा। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने पारसी नाटकों से निराश होकर संस्कृत नाट्य-कला की परपरा चलाई, उसी प्रकार माधव शुक्ल भी पारसी रंगमंच पर 'बेताब' के 'महाभारत' के अभिनय से निराश होकर अपना 'महाभारत' नाटक लिखा। इसमें भी बहुत कुछ दोष थे, फिर भी इसका सफल अभिनय कई स्थानों में कई बार हुआ। इस नाटक में स्वगत-भाषण और अपने आप से पृथक् भाषण बहुत हैं और कुछ अस्वाभाविक भी हैं, परन्तु इसका सबसे महत्वपूर्ण पक्ष संलापों में यथार्थवाद का मिश्रण है। इस नाटक में कृष्ण और दुश्शासन पात्र तो खड़ी बोली के साहित्यिक रूप का प्रयोग करते हैं और गाँववाले, मज़दूर इत्यादि अपनी बोलियों (dialects) में वार्तालाप करते हैं। मिश्रबंधु के 'नेत्रोन्मीलन' नाटक में भी इस पक्ष पर विशेष ज़ोर दिया गया है। यथा :

अमीर अली—लो सलामत मियाँ आ गये। कहिये भाई जान ! उधर का
क्या हाल है।

सलामत मियाँ—अरे भाई ! कहन क्या ? दरोगा जी चट्ट कमल अटर निमार का पकरे खिहिन। जब पकरा गवा तब विचारा निमार बहुत चिल्लाना, बहुत रिरियाना, बड़ी नोचा खिच्चा मचाइसि, मुला भाई, हुँआ सुनता कौनु है ? दरोगा जी अकेले गुमटेक नाहीं पाइनि, बस्तीहे पर बड़े जले जुल्मि भये। कानिस्टिबिल सुम्हरिउ गिरफ्तारी क छुटे हैं। माँगेच क नाउँ, अपन चौकस रहेउ। [१० २२]

'महाभारत' के पश्चात् माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक' (१६२२) और बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' नाटक में हिन्दी नाट्य कला का सुदर विकास मिलता है। दोनों में कथानक का वैचित्र्य और सौन्दर्य है, हास्यपूर्ण दृश्यों की सुदर अवतारणा हुई है, कार्य पर्याप्त मात्रा में है और भाषा सरल और साहित्यिक है। इनमें रसात्मकता और कवित्व के साथ ही साथ चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी सुदर है। इन नाटकों की भाषा-शैली (diction) निर्दोष नहीं कही जा सकती, फिर भी ये रगमच पर अभिनय के योग्य हैं। गोविन्दवल्लभ पत की 'वरमाला' भाषा-शैली में सर्वथा निर्दोष है, उसमें वार्तालाप के बीच में छद और तुकबदियाँ नहीं हैं, वरन् कवित्वपूर्ण वातावरण की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर सुंदर गाने हैं। वार्तालाप भी सगत, सरल और सक्षिप्त हैं। परतु स्थान-स्थान पर कुछ लम्बे स्वगत भाषण हैं और हास्यमय दृश्यों का एकात अभाव है। फिर भी कथानक की सरलता और सफलता तथा चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से 'वरमाला' सफल नाटक है।

इनके अतिरिक्त, जयशकर प्रसाद ने आदर्शवादी नाटकों (Romantic dramas) की परपरा चलाई। इस परपरा के नाटकों की भाषा-शैली बहुत ही कवित्वपूर्ण अलकृत अथवा गद्य-गीतों के समान है। गाने अधिकाश छायावादी ढग के रहस्यपूर्ण और कलापूर्ण हैं, कथानक बहुत ही जटिल और मिश्र हैं, जिनमें मुख्य कथावस्तु अनेक गौण कथानकों के जाल में बेतरह उलझा हुआ है, चरित्र सभी स्वच्छद, आदर्शवादी तथा कवि-दार्शनिक के समान हैं और नाटक का वातावरण बहुत ही स्वच्छद और कवित्वपूर्ण है। कवित्व की दृष्टि से ये नाटक नाट्य-साहित्य की विभूति और

सौन्दर्य है; उनकी शैली, चरित्र-चित्रण, भाव, विचार, संगीत सभी कवित्व रस में सराबोर होते हैं; परन्तु रंगमंच पर सफलता की दृष्टि से उनकी शैली (Diction) अत्यंत दोषपूर्ण है, और वे अभिनय के अयोग्य, जटिल, दुरूह और जनता की रुचि से बहुत दूर हैं।

नाटकीय विधानों में परिवर्तन

नाटकों के कलारूप से भी कहीं अधिक विकास और परिवर्तन आधुनिक नाटकीय विधानों में मिलता है। आधुनिक काल में मुख्यतः दो नाट्य शास्त्रों—संस्कृत और पाश्चात्य—का अधिक प्रभाव है। पारसी नाटकों में इन दोनों में से किसी भी नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन नहीं उनके नाटकीय विधान जनता की रुचि से निर्धारित होते थे। उनमें पाश्चात्य विधानों तथा रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग इत्यादि घरेलू नाटकों के नियमों का विचित्र सम्मिश्रण था। परंतु भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके साथियों ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुकरण से प्रारंभ किया और कला की गति के अनुसार समय समय पर पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र तथा जनता की रुचि के प्रभाव से नाटकीय विधानों में अनेक परिवर्तन किए।

संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटकों में पहले नांदी और प्रस्तावना की व्यवस्था हुआ करती थी और तब वास्तविक नाटक का प्रारंभ होता था। आधुनिक नाटकों में नांदी और प्रस्तावना की व्यवस्था हटा दी गई। हमारे पूर्वज और आचार्य धर्म की महिमा से प्रभावित थे, वे सभी कार्यों में ईश्वर की वंदना करना प्रथम कर्तव्य समझते थे, परंतु आधुनिक काल में यदि नाटककार को ईश्वर की सहायता की आवश्यकता नहीं तो उसे वंदना लिखने की भी आवश्यकता नहीं है। नांदी एक धार्मिक व्यवस्था थी और उसका नाटक से कोई संबंध न था, इसलिए उसके त्याग से नाटकीय विधानों का उल्लंघन नहीं होता। परंतु प्रस्तावना नाटक का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसकी उपयोगिता दो बातों के लिए है। प्रथम, प्रस्तावना के द्वारा ही नाटककार दर्शकों के सामने आता है। प्रस्तावना के अभाव में दर्शकों को नाटककार का परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। एक अँगरेज समालोचक ने लिखा है :

> One of the puzzles of our theatre is the comparative obscurity of the author as far as the general public is concerned.

अमीर अली—लो सलामत मियाँ आ गये। कहिये भाई जान! उधर का क्या हाल है।

सलामत मियाँ—अरे भाई! कहन क्या? दरोगा जी घट्ट कमल अठर निमार का पकरे लिहिन। जब पकरा गवा तब विचारा निमार बहुत चिचलाना, बहुत रिरियाना, पर नौ गोया लिखा मधाइमे, सुनु भाई, हुँआ सुनता कौनु है? दरोगा जी अकेले सुमटेक नाटै पाइनि, यत्तोहि पर यवे जले जुलिन भये। कानिस्टिबिल तुमहरिठ गिरपदारी क छुटे हैं। मालिय क नाटै, अपन चौकस रहेउ। [पृ० २२]

'महाभारत' के पश्चात् माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक' (१९२२) और बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' नाटक मे हिन्दी नाट्य-कला का सुदर विकास मिलता है। दोनों में कथानक का वैचित्र्य और सौन्दर्य है, हास्यपूर्ण दृश्यों की सुदर अवतारणा हुई है, कार्य पर्याप्त मात्रा में है और भाषा सरल और साहित्यिक है। इनमें रसात्मकता और कवित्व के साथ ही साथ चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी सुदर है। इन नाटकों की भाषा-शैली (diction) निर्दोष नहीं कही जा सकती, फिर भी ये रगमच पर अभिनय के योग्य हैं। गोविन्दवल्लभ पत की 'वरमाला' भाषा-शैली में सर्वथा निर्दोष है, उसमें वार्तालाप के बीच में छद और तुकबन्दियाँ नहीं हैं, वरन् कवित्वपूर्ण वातावरण की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर सुंदर गाने हैं। वार्तालाप भी सगत, सरल और सक्षिप्त हैं। परतु स्थान-स्थान पर कुछ लम्बे स्वगत भाषण हैं और हास्यमय दृश्यों का एकात अभाव है। फिर भी कथानक की सरलता और सफलता तथा चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से 'वरमाला' सफल नाटक है।

इनके अतिरिक्त, जयशकर प्रसाद ने आदर्शवादी नाटकों (Romantic dramas) की परपरा चलाई। इस परपरा के नाटकों की भाषा-शैली बहुत ही कवित्वपूर्ण अलकृत अथवा गद्य-गीतों के समान है। गाने अधिकाश छायावादी ढग के रहस्यपूर्ण और कलापूर्ण हैं; कथानक बहुत ही जटिल और मिश्र हैं, जिनमें मुख्य कथावस्तु अनेक गौण कथानकों के जाल में बेतरह उलझा हुआ है, चरित्र सभी स्वच्छद, आदर्शवादी तथा कवि-दार्शनिक के समान हैं और नाटक का वातावरण बहुत ही स्वच्छंद और कवित्वपूर्ण है। कवित्व की दृष्टि से ये नाटक नाट्य-साहित्य की विभूति और

सौन्दर्य हैं, उनकी शैली, चरित्र-चित्रण, भाव, विचार, संगीत सभी कवित्व रस में सराबोर होते हैं; परंतु रंगमंच पर सफलता की दृष्टि से उनकी शैली (Diction) अत्यंत दोषपूर्ण है, और वे अभिनय के अयोग्य, जटिल, दुरूह और जनता की रुचि से बहुत दूर हैं।

नाटकीय विधानों में परिवर्तन

नाटकों के कलारूप से भी कहीं अधिक विकास और परिवर्तन आधुनिक नाटकीय विधानों में मिलता है। आधुनिक काल में मुख्यतः दो नाट्य शास्त्रों—संस्कृत और पाश्चात्य—का अधिक प्रभाव है। पारसी नाटकों में इन दोनों में से किसी भी नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन नहीं उनके नाटकीय विधान जनता की रुचि से निर्धारित होते थे। उनमें पाश्चात्य विधानों तथा रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग इत्यादि घरेलू नाटकों के नियमों का विचित्र सम्मिश्रण था। परंतु भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके साथियों ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुकरण से प्रारंभ किया और कला की गति के अनुसार समय समय पर पाश्चात्य नाट्य शास्त्र तथा जनता की रुचि के प्रभाव से नाटकीय विधानों में अनेक परिवर्तन किए।

संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटकों में पहले नांदी और प्रस्तावना की व्यवस्था हुआ करती थी और तब वास्तविक नाटक का प्रारंभ होता था। आधुनिक नाटकों में नांदी और प्रस्तावना की व्यवस्था हटा दी गई। हमारे पूर्वज और आचार्य धर्म की महिमा से प्रभावित थे, वे सभी कार्यों में ईश्वर की वंदना करना प्रथम कर्तव्य समझते थे, परंतु आधुनिक काल में यदि नाटककार को ईश्वर की सहायता की आवश्यकता नहीं तो उसे वंदना लिखने की भी आवश्यकता नहीं है। नांदी एक धार्मिक व्यवस्था थी और उसका नाटक से कोई संबंध न था, इसलिए उसके त्याग से नाटकीय विधानों का उल्लंघन नहीं होता। परंतु प्रस्तावना नाटक का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसकी उपयोगिता दो बातों के लिए है। प्रथम, प्रस्तावना के द्वारा ही नाटककार दर्शकों के सामने आता है। प्रस्तावना के अभाव में दर्शकों को नाटककार का परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। एक अँगरेज समालोचक ने लिखा है:

One of the puzzles of our theatre is the comparative obscurity of the author as far as the general public is concerned.

अर्थात्—जहाँ तक साधारण जनता का सबंध है, नाटककार की अपेक्षाकृत प्रच्छन्नता हमारे रगमञ्च की एक विचित्र पहेली है।

नाटक देखते समय हमलोग नाटकीय दृश्य और वार्तालाप में इतने तन्मय हो जाते हैं कि हमें यह जानने का ध्यान भी नहीं रहता कि इस नाटक का रचयिता कौन है। इतना ही नहीं, कभी कभी तो हम अभिनेता और अभिनीत चरित्र को एक ही समझ लेते हैं। दर्शकों के लिए राम का अभिनय करने वाले अभिनेता के व्यक्तित्व और स्वर मे राम की भावना को अलग करना बहुत ही कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि नाटककार उस नाटक के लेखक के रूप मे अमर होना चाहता है, तो उसे लज्जा त्याग कर रगमच पर आ यह बताना ही पड़ेगा कि यह सुदर नाटक, जो आज इतने दर्शकों का मनोरजन करने जा रहा है, उस नाटककार की लेखनी से प्रसूत हुआ है। हमारे आचार्यों ने पहले ही से इसे जान लिया था और इसी कारण नाटककार का परिचय देने का निश्चित नियम बना दिया था।

प्रस्तावना की दूसरी उपयोगिता नाटक के कथानक से अपरिचित दर्शकों को नाटक के मुख्य विषय से परिचित कराना है। सस्कृत नाटक में तो प्रस्तावना अत्यत आवश्यक थी, क्योंकि उनका कथानक प्रायः बहुत ही प्रसिद्ध ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथा के आधार पर निर्मित होत था और नाटककार का मुख्य उद्देश्य रस का प्रवाह था कथानक व सौन्दर्य नहीं। यदि दर्शकों को कथानक समझने के लिए मस्तिष्क लगाना पड़े तो वे रसात्मकता का अबाध आनद नहीं उठा सकते। इस कारण अच्छे नाटककार प्रस्तावना में ही नाटक के कथानक को ओर सकेत कर दिया करते थे। परन्तु आधुनिक काल में नाटक के अर्थ और उद्देश्य में ही एक महान् परिवर्तन हो गया और रस तथा भावों के सूक्ष्म और विस्तृत निरूपण के स्थान पर नाटककार का मुख्य उद्देश्य कथान का सौन्दर्य और मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण हो गया। इस कारण प्रस्ताव का कोई मूल्य और महत्व नहीं रह गया, क्योंकि यदि दर्शकों को पहले कथानक सक्षेप में बता दिया जाय तो नाटक में कथानक-वैचित्र्य और सौन की विशेष क्षति होने की सभावना थी। आजकल कथा-वस्तु का क्रमि विकास इस प्रकार किया जाता है कि अतिम दृश्य तक दर्शकों को कथा के लिए कौतूहल बना रहे। इस अवस्था में प्रस्तावना की व्यवस्था ह देना ही उचित था, और हुआ भी ऐसा ही।

परंतु प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि नाटककार अपने दर्शकों से कभी-कभी कुछ ऐसी बातें करना चाहता है जिनका नाटक से कोई संबंध नहीं और इस-लिए नाटक में उनका उल्लेख संभव नहीं है। ऐसी अवस्था में पश्चिम में भूमिका (Preface) लिखने की प्रथा है। बर्नर्डशा के 'प्राफेसज़' उनके नाटकों से भी अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। भारत में इस प्रकार की सभी बातें प्रस्तावना के रूप में ही दी जाती हैं। यथा, गोपालराम गहमरी अपने 'बनवीर नाटक' की प्रस्तावना में लिखते हैं :

> जिस साहित्य में प्रेमिक और प्रेमिकाओं ही की याद है, जहाँ शृंगार रस की पपपपाहट के मारे औरों की पूछ नहीं, जिसमें आशिक-माशूक के नखरे और ओख-मिलौवल ही के चढ़ाव उतार पर पाठकों की रुचि ठहरती है, वहाँ इस नाटक को कौन पूछेगा? जिस साहित्य में स्त्रियों का पत्नीत्व ही स्नेह और लाड़-प्यार के पुष्पों से पूजा जाता है वहाँ यह नाटक किसको रुचेगा? इत्यादि

इसी प्रकार अन्य नाटककारों ने भी अपनी सफ़ाई पेश की है। कोई नाटक-विशेष लिखने का अपना उद्देश्य समझाता है, कोई प्रेम और सौन्दर्य पर एक निबंध लिख मारता है[१]। परंतु किसी आधुनिक नाटककार को प्रस्तावना में नाटक के संबंध में कुछ कहने को न था, इसी कारण अच्छे नाटकों में प्रस्तावना का लोप हो गया।

पारसी थियेटर्स में नाटकों का विभाजन अंकों और दृश्यों में किया गया। कथानक के वैचित्र्य और सौन्दर्य के लिए दृश्यों का शीघ्र परिवर्तन अत्यंत आवश्यक है। फिर पश्चिमी रंगमंच तथा विज्ञान की सुविधाओं के कारण दृश्यों का इच्छानुसार परिवर्तन करना भी संभव हो गया। रसोद्रेक के लिए एक स्थायी भाव की आवश्यकता पड़ती है, और स्थायी भाव की रक्षा के लिए दृश्यों का शीघ्र परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसी कारण संस्कृत नाटकों में, जहाँ नाटककार का मुख्य उद्देश्य रसोद्रेक होता था, नाटक बहुत लंबे अंकों में विभाजित होता था जिसमें दृश्य नहीं होते थे। परंतु कथानक वैचित्र्य के लिए आधुनिक काल में दृश्यों का शीघ्र परिवर्तन आवश्यक समझा गया। इसलिए आधुनिक नाटककारों ने नाटक का विभाजन अंकों और

---

[१] [illegible] सहाय, '[illegible]' की प्रस्तावना में

दृश्यों में करना प्रारम्भ कर दिया। संस्कृत नाटकों में कथानक के विकास के लिए कभी-कभी प्रवेशकों और विष्कम्भकों की योजना होती थी, परन्तु बहुत ही कम। किन्तु अब एक ही अंक में कथा वस्तु की आवश्यकता के अनुसार कितने ही छोटे छोटे दृश्य होते हैं।

प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटकों में पाँच से दस तक अंक हुआ करते थे और साधारणतः सात अंकों का प्रचार अधिक था। 'शकुन्तला', 'उत्तर रामचरित' और 'मुद्राराक्षस' में सात सात अंक हैं, 'वेणी संहार' में छः अंक हैं और 'मृच्छकटिक' में दस। परन्तु आधुनिक काल में, जब कि प्रत्येक अंक दृश्यों में विभाजित होते हैं और एक अंक में दृश्यों की संख्या इच्छानुसार घटाई बढ़ाई जा सकती है, साधारणतः नाटक में तीन अंक होते हैं। 'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटक तीन अंकों में समाप्त होते हैं, और यह वैज्ञानिक भी प्रतीत होता है। नाटकीय कथा-वस्तु के मुख्य तीन अंग होते हैं और प्रत्येक अंग के लिए एक अंक पर्याप्त है। प्रथम अंग नाटक का वह भूमिका भाग है जो नाटककार नाटक के मुख्य कथा वस्तु के समझने के लिए दर्शकों को संक्षेप रूप में बता देना चाहता है। नाटक का वातावरण, कथा का संघर्ष तथा अन्य आवश्यक बातें जो पहले प्रस्तावना में कही जाती थीं, अब प्रथम अंक में प्रकट की जाती हैं। कथा का क्रमिक विकास, संक्राति (Crisis) और संक्रमण विन्दु (Turning point) द्वितीय अंक में, तथा कथा का अंत तृतीय अंक में होता है। परन्तु हिन्दी के अधिकाश नाटककार कथा के अंकों तथा दृश्यों में विभाजन को एक यथाविधि (Formal) कार्य समझते हैं, उसका वास्तविक मूल्य और महत्व उन्हें ज्ञात नहीं, इसी कारण वे कथा को अपनी मनमानी तीन, चार, पाँच या और अधिक अंकों में विभाजित कर लिया करते हैं।

नाटक का मुख्यतम अंग संलाप अथवा संभाषण है। कथा के विकास तथा चरित्र-चित्रण के लिए नाटककार के पास केवल एक ही साधन है और वह है संभाषण। संस्कृत के आचार्यों ने पाँच प्रकार के संभाषण माने हैं जिनमें मुख्य तीन हैं—(१) दो या दो से अधिक व्यक्तियों की बातचीत, (२) पृथक्-भाषण, रंगमंच पर उपस्थित दो या अधिक व्यक्तियों में से किसी एक का वह भाषण जिसे दर्शक तो सुनते हैं, परन्तु रंगमंच पर उपस्थित अन्य व्यक्ति उसे नहीं सुन सकते, और (३) स्वगत-भाषण, जब कोई पात्र अकेले भाषण देता है। स्वगत-भाषण के द्वारा कुछ चरित्र अपने अंतस्तल की वे बातें, जो उनकी अपनी हैं और जिन्हें वे अन्य चरित्रों के सामने प्रकट नहीं कर सकते, दर्शकों

के सामने रखते हैं। मिश्र चरित्रों के चित्रण के लिए स्वगत-भाषण का सहारा लेना अत्यंत आवश्यक होता है। शेक्सपियर के 'हैमलेट' नाटक में यदि डेनमार्क के राजकुमार हैमलेट के स्वगत-भाषण निकाल दिए जाँय तो उसका चरित्र समझना असंभव हो जायगा। 'अजातशत्रु' नाटक में बिम्बसार इसी प्रकार का एक मिश्र चरित्र है जो अपने भाव स्वगत-भाषणों द्वारा ही प्रकट करता है। कभी-कभी इन स्वगत-भाषणों में जीवन के गूढ़तम तथ्यों और सत्यों की व्यंजना होती है। यथा, 'अजातशत्रु' नाटक के प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य में देखिए :

[महाराजा बिम्बसार एकाकी बैठे आप ही आप कुछ विचार रहे हैं।]

बिम्बसार - आह! जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे हुए अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लोप होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसका शांतिमय रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है, अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता। नीचे ऊँचे चढ़ना ही चाहता है चाहे फिर गिरे तो क्या? इत्यादि

जब तक नाटक काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता था, उसकी प्रवृत्ति आदर्शवादिनी थी और किसी भी रूप में रसोद्रेक करना ही नाटक का मुख्य उद्देश्य था, तब तक मिश्र चरित्रों के चित्रण के लिए स्वगत-भाषण सब से अधिक महत्त्वपूर्ण भाषण समझा जाता था, परन्तु आधुनिक काल में—जब कि रंगमंच का पूर्ण विकास हो चला है, नाटक का वातावरण कविता से दूर हटकर यथार्थता की ओर आगया है और नाटकों में यथार्थ जीवन का अनुकरण किया जाने लगा है—विज्ञान और बुद्धिवाद के इस युग में स्वगत भाषण कुछ अस्वाभाविक सा प्रतीत होने लगा है। वास्तविक जीवन में कोई अपने आप अकेले भाषण नहीं देता, हाँ, कभी-कभी कुछ विचारशील मनुष्य अकेले में भी दो-एक शब्द या वाक्य कह लेते हैं, परंतु वे भी दो-एक शब्द या वाक्य ही बोलते हैं, हिन्दी नाटक के चरित्रों की भाँति भाषण नहीं देते। परन्तु अधिकांश मनुष्य अकेले होने पर विचार किया करते हैं और यदि नाटककार

चरित्र-चित्रण के लिए अथवा कथा-वस्तु के विकास के लिए किसी चरित्र-विशेष के विचारों को दर्शकों के सामने रखना आवश्यक समझता है, तो स्वगत भाषण के अतिरिक्त और कोई चारा भी नहीं। यदि विचार का फल कार्य रूप में परिणत होता है, तो बिना स्वगत भाषण के कार्यों द्वारा ही वे विचार प्रकट किए जा सकते हैं, परतु जहाँ विचार के फल-स्वरूप किसी कार्य की प्रेरणा नहीं होती, वहाँ स्वगत भाषण अवश्यम्भावी है। इस प्रकार नाटककार के लिए स्वगत भाषण का सहारा अत्यावश्यक है। परतु फिर भी उसे इसका प्रयोग बड़ी सावधानी, विवेक और विचार के साथ करना चाहिए, और वह भी ऐसे आवश्यक स्थलों पर जहाँ उसके लिए कोई दूसरा उपाय हो न हो। परतु साधारण नाटककार इसका प्रयोग बिना किसी विवेक और विचार के सभी स्थलों पर किया करते हैं, जिससे स्वगत भाषण का समस्त सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और वह अत्यत अस्वाभाविक और अयथार्थ प्रतीत होता है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार के स्वगत-भाषण आवश्यक तो अवश्य हैं, क्योंकि इन स्वगत-भाषणों के बिना सम्राट् का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और सुदर रीति से हो ही नहीं सकता, परतु वे बहुत ही लबे हैं और इसीलिए अस्वाभाविक से हो गए हैं। 'विशाख' में महापिंगल का स्वगत भाषण निरर्थक और व्यर्थ-सा प्रतीत होता है।

परतु स्वगत-भाषण से भी अधिक अस्वाभाविक और हास्यास्पद नियम पृथक्-भाषणों का है। पात्रों के कुछ भाषण दूर पर बैठे दर्शकगण तो सुन लेते हैं, परतु उन्हीं के पास ही खड़े अन्य पात्र उसे नहीं सुन सकते। जीवन में ऐसे अवसरों की कमी नहीं है जब कि मनुष्य को वार्तालाप में कितनी ही बातें छिपा लेनी पड़ती हैं, कितनी ही बातों का अपनी इच्छा के प्रतिकूल उत्तर देना पड़ता है। नाटक में ऐसे ही अवसरों पर पृथक् भाषण की योजना की जाती है, क्योंकि नाटककार दर्शक को यह बतला देना आवश्यक समझता है कि उसका पात्र क्या कहना चाहता था और क्या कह गया, कितनी बात उसने छिपा ली अथवा जो बात उसने छिपा ली उसमें उसका उद्देश्य क्या था। चरित्र-चित्रण और कथानक सौन्दर्य दोनों की दृष्टि से इस पृथक् भाषण का महत्व है, परतु सिद्धात की दृष्टि से कितना ही सुसगत होते हुए भी रगमच की दृष्टि से यह व्यवस्था अस्वाभाविक और हास्यास्पद भी है। उदाहरण के लिए माधव शुक्ल रचित 'महाभारत' नाटक से एक दृश्य लीजिए :

अर्जुन—(चरणों पर गिर कर) माता जी ! आप यथार्थ कहती हैं।

(स्वगत) हा! माता पर कष्ट देख बैठे सुख करना,
धिक् उस नर का खाना, पीना, मस्त विचरना!
आत्मदशा का ज्ञान नहीं जिस नर के भीतर,
उसकी भी क्या है मनुष्य की संज्ञा क्षिति पर!
उस विधि के सोचे में सभी हैं एक रीति ही से ढले।
यह स्वार्थ भरा अन्याय है एक दुखी एक फूले फले।

[युधिष्ठिर से प्रकट] भैया! माता जी ने समय के अनुसार जो उपदेश दिया है, उससे हमारा सदा ही कल्याण है। इससे अब अपाहिज बन कर रहना अच्छा नहीं। इत्यादि

भाव की दृष्टि से अर्जुन का पृथक् भाषण बड़ा ही सुंदर है, परंतु रंगमंच पर यह बहुत ही अस्वाभाविक और अयथार्थ प्रतीत होता है। हिन्दी में कोई सर्व-साधारण में प्रचलित रंगमंच न था, इसीलिए नाटककार यह नहीं समझ सकते थे कि रंगमंच पर कौन सी बातें अस्वाभाविक और अयथार्थ प्रतीत होती हैं। उन्होंने सैद्धांतिक नियमों और विधानों का ही उपयोग करना सीखा था, इसी कारण उनके नाटकों में स्वगत और पृथक्-भाषणों की भरमार है। बदरीनाथ भट्ट रचित 'दुर्गावती' नाटक में पृथ्वीराज अकेले में केवल भाषण ही नहीं करते, वरन् अपना क्रोध भी प्रकट करते हैं। यथा :

पृथ्वीराज—[तलवार पटक कर आप ही आप]

राजपूत की जाति पर पड़ी आज है गाज,
हाय! गई वह धीरता, हाय! गई वह लाज।
जिसका हमको गर्व था, पड़ी उसी पर धूल,
इससे तो अच्छा यही हो क्षत्रिय निर्मूल।

वार्तालाप में यह क्रोध प्रकट करना कितना सुंदर और संगत होता, परन्तु रंगमंच की आवश्यकता न जानने के कारण नाटककार ने इसे स्वगत-भाषण में डाल दिया।

दो या दो से अधिक पात्रों का संलाप और सम्भाषण ही नाटक में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि नाटकों में चरित्र चित्रण और कथा के क्रमिक विकास के लिए नाटककार के पास केवल यही एक स्वाभाविक और यथार्थ साधन है। आधुनिक नाट्य कला के शैशव काल में हिन्दी नाटककारों को सम्भाषण की वास्तविक शक्ति और आवश्यकता का ज्ञान बिल्कुल ही नहीं था।

चरित्र-चित्रण के लिए अथवा कथा-वस्तु के विकास के लिए किसी चरित्र-विशेष के विचारों को दर्शकों के सामने रखना आवश्यक समझता है, तो स्वगत भाषण के अतिरिक्त और कोई चारा भी नहीं। यदि विचार का फल कार्य रूप में परिणत होता है, तो बिना स्वगत भाषण के कार्यों द्वारा ही वे विचार प्रकट किए जा सकते हैं, परतु जहाँ विचार के फल-स्वरूप किसी कार्य की प्रेरणा नहीं होती, वहाँ स्वगत भाषण अवश्यम्भावी है। इस प्रकार नाटककार के लिए स्वगत भाषण का सहारा अत्यावश्यक है। परतु फिर भी उसे इसका प्रयोग बड़ी सावधानी, विवेक और विचार के साथ करना चाहिए, और वह भी ऐसे आवश्यक स्थलों पर जहाँ उसके लिए कोई दूसरा उपाय हो न हो। परतु साधारण नाटककार इसका प्रयोग बिना किसी विवेक और विचार के सभी स्थलों पर किया करते हैं, जिससे स्वगत भाषण का समस्त सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और वह अत्यत अस्वाभाविक और अयथार्थ प्रतीत होता है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार के स्वगत-भाषण आवश्यक तो अवश्य हैं, क्योंकि इन स्वगत-भाषणों के बिना सम्राट् का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और सुदर रीति से हो ही नहीं सकता, परतु वे बहुत ही लबे हैं और इसीलिए अस्वाभाविक से हो गए हैं। 'विशाख' में महापिंगल का स्वगत भाषण निरर्थक और व्यर्थ-सा प्रतीत होता है।

परतु स्वगत-भाषण से भी अधिक अस्वाभाविक और हास्यास्पद नियम पृथक्-भाषणों का है। पात्रों के कुछ भाषण दूर पर बैठे दर्शकगण तो सुन लेते हैं, परतु उन्हीं के पास ही खड़े अन्य पात्र उसे नहीं सुन सकते। जीवन में ऐसे अवसरों की कमी नहीं है जब कि मनुष्य को वार्तालाप में कितनी ही बातें छिपा लेनी पड़ती हैं, कितनी ही बातों का अपनी इच्छा के प्रतिकूल उत्तर देना पड़ता है। नाटक में ऐसे ही अवसरों पर पृथक् भाषण की योजना की जाती है, क्योंकि नाटककार दर्शक को यह बतला देना आवश्यक समझता है कि उसका पात्र क्या कहना चाहता था और क्या कह गया, कितनी बात उसने छिपा ली अथवा जो बात उसने छिपा ली उसमें उसका उद्देश्य क्या था। चरित्र-चित्रण और कथानक सौन्दर्य दोनों की दृष्टि से इस पृथक् भाषण का महत्व है, परतु सिद्धात की दृष्टि से कितना ही सुसगत होते हुए भी रगमच की दृष्टि से यह व्यवस्था अस्वाभाविक और हास्यास्पद भी है। उदाहरण के लिए माधव शुक्ल रचित 'महाभारत' नाटक से एक दृश्य लीजिए :

अर्जुन—(चरणों पर गिर कर) माता जी ! आप यथार्थ कहती हैं।

(स्वगत) हा ! माता पर कष्ट देख बैठे सुख करना,
धिक् उस नर का खाना, पीना, मस्त विचरना !
आत्मदशा का ज्ञान नहीं जिस नर के भीतर,
उसकी भी क्या है मनुष्य की संज्ञा क्षिति पर !
उस विधि के सोचे में सभी हैं एक रीति ही से ढले ।
यह स्वार्थ भरा अन्याय है एक दुखी एक फूले फले ।

[युधिष्ठिर से प्रकट] भैया ! माता जी ने समय के अनुसार जो उपदेश दिया है, उससे हमारा बड़ा ही कल्याण है । इससे अब अपाहिज बन कर रहना अच्छा नहीं । इत्यादि

भाव की दृष्टि से अर्जुन का पृथक् भाषण बड़ा ही सुदर है, परतु रगमच पर यह बहुत ही अस्वाभाविक और अयथार्थ प्रतीत होता है । हिन्दी में कोई सर्व-साधारण में प्रचलित रगमच न था, इसीलिए नाटककार यह नहीं समझ सकते थे कि रगमंच पर कौन सी बातें अस्वाभाविक और अयथार्थ प्रतीत होती हैं । उन्होंने सैद्धातिक नियमों और विधानों का ही उपयोग करना सीखा था, इसी कारण उनके नाटकों में स्वगत और पृथक्-भाषणों की भरमार है । बदरीनाथ भट्ट रचित 'दुर्गावती' नाटक में पृथ्वीराज अकेले मे केवल भाषण ही नही करते, वरन् अपना क्रोध भी प्रकट करते हैं । यथा :

पृथ्वीराज —[तलवार पटक कर आप ही आप]

राजपूत की जाति पर पड़ी आज है गाज,
हाय ! गई वह वीरता, हाय ! गई वह लाज ।
जिसका हमको गर्व था, पड़ी उसी पर धूल,
इससे तो अच्छा यही हों क्षत्रिय निर्मूल ।

वार्तालाप मे यह क्रोध प्रकट करना कितना सुदर और सगत होता, परतु रगमच की आवश्यकता न जानने के कारण नाटककार ने इसे स्वगत-भाषण में डाल दिया ।

दो या दो से अधिक पात्रों का सलाप और सभाषण ही नाटक में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि नाटकों में चरित्र चित्रण और कथा के क्रमिक विकास के लिए नाटककार के पास केवल यही एक स्वाभाविक और यथार्थ साधन है । आधुनिक नाट्य कला के प्रारंभ-काल में हिन्दी नाटककारों को सभाषण की वास्तविक शक्ति और आवश्यकता का ज्ञान बिल्कुल ही नहीं था ।

कभी-कभी तो उनका संभाषण केवल वातावरण की सृष्टि करने के लिए ही होता था, चरित्र-चित्रण और कथानक के विकास के लिए नहीं। उदाहरण के लिए पारसी रंगमंच के एक नाटक 'खजाने हुस्न' में एक दृश्य लीजिए :

फज़ीहता – तुम कौन लोग हो ?

ठाकुर १—शेरे नस्तानी,

" २—गोले बियाबानी

" ३—वादा के पक्के,

" ४—जबान के सच्चे,

फज़ीहता—गधे के बच्चे।

ठाकुर १—अरे ओ मुरदार !

फज़ीहता - तेरा नाम क्या है शीरीं गुफ्तार ?

ठाकुर १—मेरा नाम रामदास और तुम्हारा नाम ?

फज़ीहता—हमारा नाम ख़फ़्तुलहवास।

ठाकुर २—बाप का ?

फज़ीहता—हवास बिन अलमीस बिन खवास। इत्यादि

इस संभाषण का अर्थ कुछ भी नहीं है। इससे केवल एक हास्यात्मक वातावरण की सृष्टि होती है। इसके शब्दों में अर्थ उतना नहीं है जितना कि शब्दों की ध्वनि में। संभाषण में न कोई तुक है न कोई ताल, फिर भी नाटककार का उद्देश्य केवल उसकी ध्वनि से ही पूरा हो जाता है। हिन्दी नाट्य-कला के शैशव काल में संभाषणों का महत्त्व नाटककार नहीं समझ सके थे। साधारणतः संभाषण नाटकीय कार्यों की भूमिका और उपसंहार के रूप में—कार्यों के परिचय के रूप में ही प्रयुक्त होते थे, उनका कोई अपना महत्त्व न था। यथा, १६०० ई० में बदीदीन दीक्षित द्वारा रचित 'सीता-स्वयम्बर या धनुष-यज्ञ नाटक' का एक दृश्य लीजिए। नाटककार राम-जन्म के पश्चात् वशिष्ठ द्वारा नांदीमुख श्राद्ध कार्य की भूमिका प्रस्तुत करता है :

[वशिष्ठ जी सहित दशरथ जी रनिवास में आकर पुत्रों का अवलोकन करते हैं।]

वशिष्ठ—[रामचन्द्र जी को देखकर] राजन् बड़ा उत्तम बालक है। इसके दर्शन से मन को तृप्ति ही नहीं होती। परमेश्वर चिरजीवी करे।

दशरथ—भगवान् यह सब आप ही के कृपा कटाक्ष का प्रमाण है।

वशिष्ठ—तो अब श्राद्धादि की सामग्री उपस्थित कराइये।

दश०—मुनिनाथ ! सब सामग्री उपस्थित है, केवल आप ही की देर है।
वशिष्ठ—अच्छा, तो आसनास्थित हो श्राद्धारंभ करो।
दश०—जो आज्ञा।
[राजा दशरथ का नांदीमुख श्राद्ध करना और सुभगाओं का मंगलगान करना।]
और श्राद्ध के समाप्त होने पर उपसंहार में देखिए :
वशिष्ठ—राजन् अब मुझे भी जाने की आज्ञा दीजिए, फिर किसी समय आ जाऊँगा।
दशरथ—जैसी इच्छा

[राजा प्रणाम करते हैं और वशिष्ठ भी जाते हैं।]

नाट्य-कला की दृष्टि से यह पूरा संभाषण व्यर्थ है, क्योंकि इससे कथानक का विकास नहीं होता और न चरित्र चित्रण में ही इससे सहायता मिलती है। कार्य-विशेष की भूमिका रूप में ही इस संभाषण की उपयोगिता है। बात यह थी कि प्रारंभ में नाटकों में कार्य का महत्व विशेष था और नाटक का अर्थ विविध कार्यों का एक क्रमिक विकास मात्र होता था, जो इसी प्रकार के वार्तालापों द्वारा एक दूसरे से संबद्ध होते थे।

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों नाट्य-कला का विकास होता गया त्यों-त्यों साहित्यिक नाटककार संभाषण की शक्ति और महत्ता से परिचित होते गए और कार्यों के स्थान पर ऐसे वार्तालापों की योजना करने लगे जिनसे चरित्र-चित्रण और कथानक के विकास में सहायता मिलने लगी। संभाषणों में शब्द की ध्वनि से नहीं, वरन् अर्थ के द्वारा नाटक के चरित्र और वातावरण की सृष्टि होने लगी। कार्यों की प्रधानता के स्थान पर नाटकों में संभाषण का महत्व बढ़ गया। फिर भी भाषा और शैली की दृष्टि से भिन्न-भिन्न संभाषणों में अंतर दिखाई देता है। कुछ संभाषण तो सरल, संक्षिप्त और रंगमंच के बहुत उपयुक्त हैं। यथा, बदरीनाथ भट्ट द्वारा रचित 'तुलसीदास' नाटक में प्रथम अंक का दृश्य लीजिए :

[दिल्ली के राजा का कमरा]

राजा लूटमार सिंह और रानी।

राजा—तो जो इसकी हालत है वह क्या तुमसे छिपी हुई है?
रानी—मैं यह सब नहीं जानती, मेरे गर्व का इम्तहान कहीं न कहीं से होना चाहिए।

राजा—कहीं न कहीं से ?

रानी—हाँ, कहीं न कहीं से। आज तीन महीने से मुझे खर्च नहीं मिला। इधर नौकर नौकरानियों का बुरा हाल है। भला, अभी ये लोग भाग गए तो क्या घर को मैं झाड़ू लगाऊँगी ?

राजा—अजी, ऐसा ही है तो मैं झाड़-बुहार किया करूँगा।

रानी—मुझे बेमौके की दिल्लगी अच्छी नहीं लगती। इत्यादि

यह वार्तालाप इतना सरल है कि सभी प्रकार के दर्शक इसे अच्छी तरह समझ सकते हैं। भाषण सभी छोटे, गठे हुए, हास्य और व्यंग्य से पूर्ण तथा नपे-तुले हैं। इन्हें सुनते-सुनते दर्शकों का जी न ऊबेगा, वरन् वे इसका पूरा-पूरा आनंद उठा सकेंगे। ऐसे वार्तालाप रंगमंच के उपयुक्त होते हैं। इनके विपरीत 'प्रसाद' के नाटकों में संभाषण की भाषा बड़ी क्लिष्ट और दुरूह है। यथा, देखिए 'राज्यश्री' अंक प्रथम, दृश्य प्रथम

देवगुप्त—वाह, कितना सुरभित समीर है। घ्राण तृप्त हो गया, मस्तिष्क जैसे हँसने लगा और ग्लानि का तो कहीं पता नहीं। सुरमा तुम्हारा स्थान कितना सुरम्य है! (देखकर) अरे! तुम्हारा वाद्य-व्यजन भी बन गया, कितना सुन्दर है! उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है—जिन्होंने इसे बनाया।

सुरमा—(हँसती हुई) आप तो बड़े धृष्ट हैं . . . तो मैं अब जाती हूँ।
[अपनी पुष्प-रचना लेकर इठलाती हुई जाती है।

इसकी भाषा साधारण जनता की समझ में भी नहीं आ सकती। शैली की दृष्टि से साहित्यिक और सुंदर होते हुए भी रंगमंच के लिये यह अत्यंत अनुपयुक्त है। इस प्रकार के संभाषण पुस्तकों में ही बहुत सुंदर होते हैं, रंगमंच पर तो अभिनेता इसे अच्छी तरह कह भी न सकेंगे और न जनता इसका आनंद ही उठा पाएगी। यह कमरे में बैठकर एकांत में आनंद लेने की वस्तु है। कहीं-कहीं पर तो 'प्रसाद' के वार्तालाप ऐसे हैं जो रंगमंच पर की कौन कहे, पढ़ने के लिए भी कठिन हैं, वे तो ऐसे हैं जिनका मनन किया जा सकता है, चिन्तन किया जा सकता है, पढ़कर आनंद नहीं उठाया जा सकता। उदाहरण के लिए 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' से अंक प्रथम, दृश्य प्रथम में कृष्ण और अर्जुन का संभाषण सुनिए :

श्रीकृष्ण—सखे ! सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य है; फिर ऐसी निराशा क्यों ? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है, उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो दिन का अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है, आलोक का अदर्शन ही अंधकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव हैं। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है ! कभी नहीं।

अर्जुन—पर यदि कोई दुःख, रात्रि, जड़ता और पाप आदि की ही सत्ता माने और अंधकार ही को निश्चय जाने तो ?

श्रीकृष्ण—तो फिर जीव दुःख के भँवर में भी आनन्द की उत्कट अभिलाषा क्यों करता है ? रात्रि के अंधकार में दीपक क्यों जलाता है ? क्या वास्तव में वास्तविकता की ओर उसका झुकाव नहीं है ? वयस्य ! जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हें लोग जड़ कहते हैं, किन्तु देखो, जिन्हें हम जड़ कहते हैं, वे जब किसी विशेष मात्रा में मिलते हैं तो उनमें एक विशेष शक्ति हो जाती है, स्पंदन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते। वास्तव में सर्वत्र शुद्ध चेतन है, जड़ता कहाँ ? वह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। यदि तुम कहो कि इनका तो नाश होता है और चेतन की सदैव स्फूर्ति रहती है तो यह भी भ्रम है। सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय किन्तु उसका नाश नहीं होता। इत्यादि

इस दार्शनिक भाषण का आनंद दर्शकगण कभी नहीं ले सकते। हाँ, ऐसे ही सम्भाषणों के सुनने से दर्शक ऊबकर ऊँघने लगते हैं। इस सम्भाषण में भावों और विचारों की गम्भीरता सराहनीय है, परन्तु रंगमंच के लिए तो छोटे-छोटे, सरल, सीधे, हास्य और व्यंग्यपूर्ण सम्भाषणों की आवश्यकता है, जिसे साधारण दर्शक भी सुनकर समझ सकें और उसका पूरा-पूरा आनंद उठा सकें।

नाटकों की भाषा-शैली (Diction) की दृष्टि से दो बातें अत्यन्त महत्व-पूर्ण हैं—(१) सम्भाषण के बीच में छन्दबद्ध कविता का प्रयोग और (२) भिन्न-भिन्न प्रकार के चरित्रों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग। हिन्दी में लगभग सभी प्रकार के नाटकों में सम्भाषण के बीच छन्दों के प्रयोग का बहुत प्रचार रहा है। पारसी नाटकों में, हरिश्चन्द्र के समकालीन नाटककारों के साहित्यिक नाटकों में, तथा बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी,

माधव शुक्ल इत्यादि द्वितीय उत्थान के प्रारंभिक नाटककारों की रचनाओं में भी इसका बहुत प्रचार मिलता है। उदाहरण के लिए बदरीनाथ भट्ट रचित 'वेन चरित्र' में प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में देखिए :

[कुमार वेन का अपने साथियों के साथ प्रवेश।]

वेन—अच्छा मेरे बहादुरो, बतलाओ कि तुमने आज कौन कौन से काम इनाम के लायक किये।

पहला साथी—छोटे छोटे सौ बच्चों की काटी मैंने नाकें।
छुरी मार कर कानों की भी कर दीं दो दो फाँकें।

वेन—शाबाश ! शाबाश !

दूसरा साथी—झगड़े लूले कर डाले हैं मैंने जीव अनेक।
उठा पालना ठाकुर जी का दिया कुएँ में फेंक।

वेन—शाबाश ! शाबाश !

तीसरा साथी—बामन, छत्री, बनियों के सब तोड़ जनेऊ जाल।
लूटा खाया मन्दिर में मैंने प्रसाद का माल।

वेन—शाबाश ! शाबाश !

चौथा साथी—दुनिया झूठी है आखिर में हो जाती है खाक।
यही सोच कर धर्म कर्म की मैंने रख ली नाक।
यानी ऐसी आग लगाई, उठी बड़ी सी लाल।
फुंके झोपड़े कई—मुझे रोते अनेक कंगाल। इत्यादि

केवल सलाप और संभाषण में ही नहीं, स्वगत और पृथक्-भाषणों में भी चरित्र छंदों में बोलते हैं। यथा, बदरीनाथ भट्ट रचित 'तुलसीदास' में तुलसीदास पद्य में स्वगत-भाषण कर रहे हैं। प्रथम अंक के तृतीय दृश्य में देखिए :

[अँधेरी रात में जमना किनारे तुलसीदास पार जाने की फिक्र में हैं।]

तुलसीदास—आह, आज भगवान का भी मुझ पर कोप है।
नहीं नाव केवट यहाँ, कौन लगावे पार ?
गहन अँधेरी छा रही, जल का वेग अपार।
सो रहा संसार सारा काल ही के गाल में,
जल रहा है एक दीपक, [हाथ के इशारे से बतलाते हुए]
वह मेरी ससुराल में।

बस उसी को देखता मैं पार पहुँचूँगा अभी,
जान जावे या रहे हिम्मत न हारूँगा कभी।

जयशंकर प्रसाद, प्रेमचद, सुदर्शन और 'उग्र' इत्यादि कुछ इने-गिने नाटककारों के अतिरिक्त अन्य सभी लेखकों की रचनाओं में वार्तालाप में छदों की योजना है। स्वय 'प्रसाद' ने अपने प्रारभिक नाटकों—'सज्जन' और 'कल्याणी-परिणय'—में इसी नियम का अनुसरण किया है। यह नियम सस्कृत नाटकों की परपरा में भी मिलता है जहाँ वार्तालाप के बीच बीच में छंदों का प्रयोग होता था। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस नियम के मूल मे क्या था, सभव है कि कवियों ने एक कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि करने के लिए ही ऐसा किया हो। परतु यदि नाटकों में मानव-जीवन के सूक्ष्म अतर्जीवन का चित्रण करना है, तो किसी न किसी रूप में कविता की शरण लेनी ही पड़ेगी। बगाल के प्रसिद्ध नाटककार और समालोचक द्विजेन्द्रलाल राय की राय में कवित्व नाटक का एक अग है।* परतु हिन्दी नाटकों में सभाषण के बीच छदों के प्रयोग से कवित्व का आरोप नहीं होता, क्योंकि ये छद केवल छद ही हैं कविता नहीं। यथा 'कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक के प्रथम अक, चतुर्थ दृश्य में नारद और कृष्ण का वार्तालाप सुनिए :

नारद—आपको इस बात में भी छूट है गोपाल! प्रतिज्ञा पूर्ण न होने पर आप मज़े से नन्दकुमार और यशोदानन्दन बन कर छूट जायेंगे।
कृष्ण—नहीं, ऐसा नहीं होगा—

वध होगा, वध होवेहीगा, वह न बचेगा यम का ग्रास,
करने दूंगा मदमस्तों को क्या मैं मर्यादा का नाश?

[नारद मुसकराते है।]

हंसी नहीं क्या कर दूं क्षण मे उसका अंत फेंक कर चक्र,
हो जावे छाया खाने पर जिसमें नष्ट देवपति शक्र। इत्यादि

ऊपर पद्य मे कही हुई बाते गद्य मे और भी अच्छी तरह कही जा सकती थी। इस पद्य से न तो कवित्व की सृष्टि हुई और न सभाषण ही शक्तिशाली बना। वास्तव में इस पद्य की कोई आवश्यकता न थी। यह केवल 'भाषा-शैली का अलकार' मात्र है, कविता नहीं।

---

* कालिदास और भवभूति पृ० १००

परन्तु नाटकों में कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है जब कि कविता का प्रयोग केवल अलंकार के रूप में नहीं, वरन् सौन्दर्य के रूप में करना आवश्यक होता है। कुछ विशेष महत् क्षणों (High moments) में सूक्ष्म भावों की व्यंजना के लिए कविता लिखनी ही पड़ती है। मलाप के बीच में पद्य अस्वाभाविक और अयथार्थवादी अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु 'राणा प्रताप' नाटक में जब दक्षिण विजय करके आते हुए मानसिंह मेवाड़ में राणा प्रताप से अपमानित होकर दिल्ली दरबार में आते हैं और अकबर उन्हें बधाई देता है, तब क्रोधित सेनापति के वचन :

> रहे मुबारक, यह मुबारकी शाहनशाहा,
> बढ़े औज शब रोज़ तख़्त का जहाँपनाहा,
> दुश्मन हो पामाल आप के आलीजाहा,
> रैयत हो दिलशाद दुआओं पे नरनाहा। इत्यादि

पद्य में होते हुए भी असंगत नहीं जान पड़ते, वरन् इनका गद्य में होना ही अधिक असंगत जान पड़ता। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसे गंभीर अवसरों पर भी पद्य का प्रयोग होना चाहिए या नहीं। ऐसे महत् क्षणों पर पद्य असंगत न होते हुए भी अयथार्थवादी तो प्रतीत होते ही हैं। 'प्रसाद' तथा अन्य नाटककार ऐसे अवसरों पर पद्य-गीतों का प्रयोग करते हैं। आधुनिक काल में गद्य का इतना विकास हो गया है कि गंभीर से गंभीर कवित्वपूर्ण भाव लयपूर्ण तथा संगीतमय गद्य में अभिव्यक्त किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रराज भाण्डारी कृत 'सिद्धार्थ कुमार' (१६२२) नाटक में सिद्धार्थ कहते हैं :

सिद्धार्थ—प्रेम की भिखारिणी ! प्रेम चाहती हो ? अच्छी बात है, मैं तुम्हें प्रेम दूँगा। ऐसा प्रेम दूँगा, जो आकाश की तरह विशाल, समुद्र की तरह गम्भीर और हीरे की तरह उज्ज्वल होगा ऐसा प्रेम दूँगा जो ध्रुव की तरह स्थिर, सृष्टि की तरह अविनाशी और ईश्वर के नाम की तरह अक्षय होगा, ऐसा प्रेम दूँगा जिसकी मधुर लपट से सारा संसार मुग्ध होकर माँ-माँ कहता हुआ तुम्हारे चरणों पर लोटने लगेगा।

[पृ० १२२]

अथवा 'प्रसाद' रचित 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में देखिए :

दामिनी—आप कहाँ रहते हैं ?

माणवक—यह न पूछो। मैं संसार की एक भूली हुई वस्तु हूँ न मैं किसी को जानना चाहता हूँ और न कोई मुझे पहचानने की चेष्टा करता है। तुमने कभी शरद् के विस्तृत व्योम-मण्डल में रुई के पहल के समान एक छोटा सा मेघ-खण्ड देखा है ? उसके देखते-देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक वल्लरी की नन्हीं सी पत्ती के छोर पर विदा लेने वाली श्यामल रजनी के शोकपूर्ण अश्रु-विन्दु के समान लटकते हुए एक हिम कण को कभी देखा है ? और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघ-खण्ड या हिम-कण की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ रहता हूँ और कब तक रह सकूँगा। मुझसे न पूछो। इत्यादि

ये गद्य में होते हुए भी कवित्वपूर्ण हैं। सिद्धार्थ के संभाषण में द्विजेन्द्र-लाल राय की स्पष्ट छाप मिलती है। द्विजेन्द्र बाबू ने बँगला में ऐसे गभीर अवसरों पर गद्य-गीतों का सुंदर प्रयोग किया और हिन्दी में यह योजना उन्हीं के अनुकरण से प्रारंभ हुई।

संस्कृत नाटकों में वार्तालापों के बीच पद्यों का प्रयोग कवित्वमय वातावरण उपस्थित करने के लिए हुआ करता था। हिन्दी में पद्यों का प्रयोग तो अवश्य हुआ, परंतु उनसे कवित्वमय वातावरण की सृष्टि न हो सकी, क्योंकि ये पद्य केवल 'भाषा-शैली के अलंकार' मात्र थे, उनमें वास्तविक कवित्व का लेश भी न था। इसीलिए 'प्रसाद' 'उग्र', सुदर्शन इत्यादि नाटककारों ने इन पद्यों का बहिष्कार किया। कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि के लिए बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्र बाबू ने गीतों की परंपरा चलाई जो समय-समय पर रंगमंच पर अथवा नेपथ्य से गाए जाते थे। ग्रीक नाटकों में कोरस (Chorus) का भी यही उद्देश्य था। हिन्दी में भी इसी का अनुकरण होने लगा। वास्तव में कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि गीति-काव्य तथा गीतों से ही होती है, उन मुक्तक काव्यों से नहीं जो बदरीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि संभाषण के बीच में रख देते थे।

पारसी नाटकों में गानों का बड़ा प्रचार था। 'इन्दर-सभा' में आधे से अधिक गाने ही थे। शायद ओपेरा और नौटंकी के प्रभाव से गानों का

परन्तु नाटकों में कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है जब कि कविता का प्रयोग केवल अलंकार के रूप में नहीं, वरन् सौन्दर्य के रूप में करना आवश्यक होता है। कुछ विशेष महत् क्षणों (High moments) में सुन्दर भावों की व्यंजना के लिए कविता लिखनी ही पड़ता है। मलार के बीच में पद्य अस्वाभाविक और अयथार्थवादी अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु 'राणा प्रताप' नाटक में जब दक्षिण विजय करके आते हुए मानसिंह मेवाड़ में राणा प्रताप से अपमानित होकर दिल्ली दरबार में आते हैं और अकबर उन्हें बधाई देता है, तब क्रोधित सेनापति के वचन :

> रहे मुबारक, यह मुबारकी शाहनशाहा,
> बढ़े श्रौज श्रब रोज़ तख्त का जहाँपनाहा,
> दुश्मन हो पामाल आप के आलीजाहा
> रैयत हो खुशहाल दुआगो ऐ नरनाहा। इत्यादि

पद्य में होते हुए भी असंगत नहीं जान पड़ते, वरन् इनका गद्य में होना ही अधिक असंगत जान पड़ता। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसे गंभीर अवसरों पर भी पद्य का प्रयोग होना चाहिए या नहीं। ऐसे महत् क्षणों पर पद्य असंगत न होते हुए भी अयथार्थवादी तो प्रतीत होते ही हैं। 'प्रसाद' तथा अन्य नाटककार ऐसे अवसरों पर पद्य-गीतों का प्रयोग करते हैं। आधुनिक काल में गद्य का इतना विकास हो गया है कि गंभीर से गंभीर कवित्वपूर्ण भाव लयपूर्ण तथा संगीतमय गद्य में अभिव्यक्त किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रराज भांडारी कृत 'सिद्धार्थ कुमार' (१६२२ नाटक में सिद्धार्थ कहते हैं :

सिद्धार्थ—प्रेम की भिखारिणी ! प्रेम चाहती हो ? अच्छी बात है, मैं तुम्हें प्रेम दूँगा। ऐसा प्रेम दूँगा, जो आकाश की तरह विशाल, समुद्र की तरह गम्भीर और हीरे की तरह उज्ज्वल होगा. ऐसा प्रेम दूँगा जो ध्रुव की तरह स्थित, सृष्टि की तरह अविनाशी और ईश्वर के नाम की तरह अक्षय होगा, ऐसा प्रेम दूँगा जिसकी मधुर लपट से सारा संसार मुग्ध होकर माँ-माँ कहता हुआ तुम्हारे चरणों पर लोटने लगेगा। [पृ० १२२]

अथवा 'प्रसाद' रचित 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में देखिए :

कामिनी—आप कहाँ रहते हैं ?

माणवक—यह न पूछो । मैं संसार की एक भूली हुई वस्तु हूँ न मैं किसी को जानना चाहता हूँ और न कोई मुझे पहचानने की चेष्टा करता है। तुमने कभी शरद् के विस्तृत व्योम-मण्डल में रुई के पहल के समान एक छोटा सा मेघ-खण्ड देखा है ? उसके देखते-देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक वल्लरी की नन्हीं सी पत्ती के छोर पर विदा लेने वाली श्यामल रजनी के शोकपूर्ण अश्रु-विन्दु के समान लटकते हुए एक हिम कण को कभी देखा है ? और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघ-खण्ड या हिम कण की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ रहता हूँ और कब तक रह सकूँगा। मुझसे न पूछो। इत्यादि

ये गद्य में होते हुए भी कवित्वपूर्ण हैं। सिद्धार्थ के संभाषण में द्विजेन्द्रलाल राय की स्पष्ट छाप मिलती है। द्विजेन्द्र बाबू ने बँगला में ऐसे गंभीर अवसरों पर गद्य-गीतों का सुंदर प्रयोग किया और हिन्दी में यह योजना उन्हीं के अनुकरण से प्रारंभ हुई।

संस्कृत नाटकों में वार्तालापों के बीच पद्यों का प्रयोग कवित्वमय वातावरण उपस्थित करने के लिए हुआ करता था। हिन्दी में पद्यों का प्रयोग तो अवश्य हुआ, परंतु उनसे कवित्वमय वातावरण की सृष्टि न हो सकी, क्योंकि ये पद्य केवल 'भाषा-शैली के अलंकार' मात्र थे, उनमें वास्तविक कवित्व का लेश भी न था। इसीलिए 'प्रसाद' 'उग्र', सुदर्शन इत्यादि नाटककारों ने इन पद्यों का बहिष्कार किया। कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि के लिए बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्र बाबू ने गीतों की परंपरा चलाई जो समय समय पर रंगमंच पर अथवा नेपथ्य से गाए जाते थे। ग्रीक नाटकों में कोरस (Chorus) का भी यही उद्देश्य था। हिन्दी में भी इसी का अनुकरण होने लगा। वास्तव में कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि गीति-काव्य तथा गीतों से ही होती है, उन मुक्तक काव्यों से नहीं जो बदरीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि संभाषण के बीच में रख देते थे।

पारसी नाटकों में गानों का बड़ा प्रचार था। 'इन्दर-सभा' में आधे से अधिक गाने ही थे। शायद ओपेरा और गज़लों के प्रभाव से गानों का

रिवाज़ चल पड़ा था। परन्तु पारसी नाटकों के गाने भद्दे, कुरुचिपूर्ण तथा अश्लील हुआ करते थे। शकुन्तला' जैसी नायिकाएँ भी 'पतली कमर बल खाय' जैसे भद्दे गाने गाती थीं। कुछ गानों के नमूने लिए :

यक्षम क रोटी लेटो कि नैन पिराई जोय। [आवरी नाग]
अथवा—है जोबन आया उमग पर प्यारियों इत्यादि

ये गाने उस समय के दर्शकों को बहुत प्रिय थे। इन गानों में आशिक माशूक के ढग पर बाज़ारू प्रेममय वातावरण की सृष्टि होती थी। कवित्व का उनमें लेश भी न रहता था, और यदि रहता भी था तो उर्दू कविता का। हरिश्चद्र-स्कूल के नाटककार मुक्तक पद्यों के द्वारा रीतिकालीन कविता का वातावरण उपस्थित करते थे परतु कुछ नाटककार पद, ठुमरी, दादरा इत्यादि गानों का भी प्रयोग किया करते थे। हरिश्चद्र ने 'नीलदेवी' नाटक में 'सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन' नामक गीत लिखा था। बल्देवप्रसाद मिश्र ने 'प्रभास-मिलन' नाटक में ठुमरी, दादरा, चैती इत्यादि अनेक प्रकार के गाने लिखे। यथा :

बिन पिया मोहि कल न परत, मन में रहत यही अंदेश,
जुबना झुरत, जियरा जरत, पाती लिखि न भेजो संदेश। इत्यादि

नाटकों के द्वितीय उत्थान काल में साहित्यिक नाटककारों ने पुराने गा[नों]
के ढग का बहिष्कार प्रारभ कर दिया और पद, दादरा, ठुमरी इत्यादि [का]
प्रयोग बहुत कम रह गया। पारसी ढग के नाटकों में अवश्य इस प्रका[र के]
गाने चलते थे और साथ ही साथ गजल और थियेटर तर्ज के गाने भी [अधि-]
कता से लिखे जाते थे। 'प्रसाद' इत्यादि नाटककार नए ढग के गीति[काव्य]
का प्रयोग नाटक के गीतों में करने लगे। यथा, जयशकर प्रसाद '[स्कन्दगुप्त]'
नाटक में लिखते हैं :

उठती है लहर हरी हरी—
पतवार पुरानी, पवन प्रलय का कैसा किये बखेड़ा है।
निस्तब्ध जगत है, कहीं नहीं कुछ, फिर भी मचा बखेड़ा
नक्षत्र नहीं है कुहू निशा में, बीच नदी में बेड़ा
"हमें पार लगाओ, घबराओ मत" किसने यह स्वर छे[ड़ा]
उठती है लहर ह[री]

हिडिम्ब—[सब ओर सूँघता हुआ] अरी देखु त कहाँ मनई हैं। कहूँ कहूँ जने जानि परत बाटैं।

हिडिम्बा—अरे उहवा परे अहैं देखु न। इत्यादि

उसी नाटक के द्वितीय अंक के तीसरे दृश्य में दो गाँव वाले एक चट्टबाज़ से बातें कर रहे हैं। गांव वाले तो बोली का प्रयोग करते हैं, परंतु चट्टबाज खड़ी बोली का प्रयोग करता है। 'प्रसाद' के नाटकों में सभी पात्र संस्कृत-गर्भित शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं। उन्होंने भाषा में कोई भेद-भाव नहीं रखा, यहाँ तक कि 'राज्यश्री' नाटक में सुरमा मालिन भी संस्कृत तत्सम-युक्त हिन्दी का प्रयोग करती है। यथा 'राज्यश्री' अंक प्रथम, दृश्य प्रथम में :

शान्तिदेव—सुरमा अभी विलम्ब है।

सुरमा—क्या विलम्ब है प्रियतम! देखो मैं मस्तिष्क का क्षुप सींचती हूँ, यह भी मुझे वंचित नहीं रखता—छाया, सुगंध और फूलों से जीविका-दान देता है, किन्तु तुम कितने निष्ठुर हो। तुम्हारी आँखों में दया का संकेत भी नहीं। इत्यादि

भिन्न-भिन्न चरित्रों की भाषा में अंतर कर देने से सभाषण अधिक यथार्थवादी हो जाते हैं, क्योंकि जीवन में भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पुरुष भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा बोलते हैं। 'प्रसाद' के नाटकों का यह दोष उनके कथानक की गंभीरता और प्राचीनता में छिप जाता है। सभी पात्र हज़ारों वर्ष पूर्व स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा हर्षवर्धन के काल के हैं। कौन कह सकता है कि उस समय सभी लोग संस्कृत नहीं बोल सकते थे। कहा जाता है कि राजा भोज के राज्य में दूध-दही बेचने वाली ग्वालिनें और पनिहारिनें भी संस्कृत बोल लेती थीं।

आधुनिक नाटकीय विधानों पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि हिन्दी नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-कला का यथार्थवाद और रंगमंच की सुविधाएँ तो अवश्य ले लीं, परंतु संस्कृत नाटकों का कवित्वमय वातावरण नहीं जाने दिया। पाश्चात्य प्रभाव से हमने प्रस्तावना का अंत कर दिया, नाटक में कथानक-वैचित्र्य और कथानक-सौन्दर्य की प्रायः प्रतिष्ठा की, उसे अंकों और दृश्यों में विभाजित कर विविध दृश्य-दृश्यान्तरों की व्यवस्था की, परन्तु हमने नाटकों में से कवित्व नहीं जाने दिया, वरन् उसने

भिन्न-भिन्न भाषा का प्रयोग है। संस्कृत नाटकों में राजा, ब्राह्मण, सेनापति तथा राजसभासद संस्कृत का प्रयोग करते थे और स्त्री पात्र तथा अन्य अपद नीच जाति के लोग विविध प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग करते थे। पारसी नाटकों में इस प्रकार का कोई भेद नहीं था, सभी चरित्र हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते थे। साहित्यिक नाटककारों ने भिन्न-भिन्न चरित्रों की भाषा में भेद रखना उचित समझा। राधाकृष्ण दास रचित 'महाराणा प्रताप नाटक' में मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं, हिन्दू पात्र शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं और पुर्तगाली एक विशेष प्रकार का मिश्रित हिन्दी-उर्दू का प्रयोग करते हैं। यथा :

सोडावंड ! अम पोर्तुगीज है, आमरा नाम थारास्ट्राइन है। अमारा गोआ के गवर्नर ने अमको हजूर के लिए बहुत सा नजर लेकर भेजाठा। इत्यादि

इसी प्रकार बल्देव मिश्र रचित 'प्रभास मिलन' नाटक में कृष्ण, वसुदेव, नारद और इसी प्रकार के अन्य पात्र खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते हैं; ग्वालबाल, राधा, यशोदा और गोपियाँ ब्रजभाषा में बातचीत करती हैं और द्वारपाल कन्नौजी बोली का प्रयोग करता है। परंतु द्वितीय उत्थान में साहित्यिक नाटकों में विविध पात्रों की भाषा में कोई विशेष अंतर नहीं रखा गया। हाँ, कहीं-कहीं जब मजदूर, किसान इत्यादि आते हैं तो वे बोलियों में बातचीत करते हैं। माधव शुक्ल रचित 'महाभारत' में प्रथम अंक के पचम गर्भांक में मजदूर लोग अपनी बोली में इस प्रकार बातें करते हैं :

मंसा—जै गोपाल भीखू, कहः कस हाल चाल हई।

भीखू—हाल चाल का बताई भीखू, हमरौ तौ हुई तार हवै, चार मिला तो हम ही ठहरेन ते मा ननकई जब ते आयल हवै, ओहिका महकरौ पीछे पीछे लगाव चलल आयल हवे। इत्यादि

मिश्रबंधु रचित 'पूर्व भारत' में राक्षसगण बोलियों में बातचीत करते हैं, शुद्ध खड़ी बोली में नहीं। यथा, अंक द्वितीय, दृश्य प्रथम में देखिए :

[हिडिम्ब और हिडिम्बा प्रवेश।]

हिडिम्ब—[सब ओर सूंघता हुआ] बहिनी ! कहूँ मनुसाइधि आवत्ये।

हिडिम्बा—भैया जानि त महूँ क पर्ति अहै ! का बात है ?

हिडिम्ब—[सब ओर सूँघता हुआ] अरी देखु त कहाँ मनई हैं । कहूँ कहयौ जने जानि परत बाटैं ।

हिडिम्बा—अरे उहवा परे अहैं देखु न । इत्यादि

उसी नाटक के द्वितीय अंक के तीसरे दृश्य में दो गाँव वाले एक चट्टबाज़ से बातें कर रहे हैं । गांव वाले तो बोली का प्रयोग करते हैं, परंतु चंट्टबाज़ खड़ी बोली का प्रयोग करता है । 'प्रसाद' के नाटकों में सभी पात्र संस्कृत-गर्भित शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं । उन्होंने भाषा में कोई भेद-भाव नहीं रखा, यहाँ तक कि 'राज्यश्री' नाटक में सुरमा मालिन भी संस्कृत तत्सम-युक्त हिन्दी का प्रयोग करती है । यथा 'राज्यश्री' अंक प्रथम, दृश्य प्रथम में :

शान्तिदेव—सुरमा अभी विलम्ब है ।

सुरमा—क्या विलम्ब है प्रियतम ! देखो मैं मस्तिष्क का सुख सींचती हूँ, वह भी मुझे वंचित नहीं रखता—छाया, सुगंध और फूलों से जीविका-दान देता है, किन्तु तुम कितने निष्ठुर हो । तुम्हारी आँखों में दया का संकेत भी नहीं । इत्यादि

भिन्न-भिन्न चरित्रों की भाषा में अंतर कर देने से सभाषण अधिक यथार्थवादी हो जाते हैं, क्योंकि जीवन में भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पुरुष भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा बोलते हैं । 'प्रसाद' के नाटकों का यह दोष उनके कथानक की गंभीरता और प्राचीनता में छिप जाता है । सभी पात्र हज़ारों वर्ष पूर्व स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त तथा हर्षवर्धन के काल के हैं । कौन कह सकता है कि उस समय सभी लोग संस्कृत नहीं बोल सकते थे । कहा जाता है कि राजा भोज के राज्य में दूध-दही बेचने वाली ग्वालिनें और पनिहारिनें भी संस्कृत बोल लेती थीं ।

आधुनिक नाटकीय विधानों पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि हिन्दी नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-कला का यथार्थवाद और रंगमंच की सुविधाएँ तो अवश्य ले लीं, परंतु संस्कृत नाटकों का कवित्वमय वातावरण नहीं जाने दिया । पाश्चात्य प्रभाव से इन्होंने प्रस्तावना का अंत कर दिया, नाटक में कथानक-वैचित्र्य और कथानक-सौन्दर्य की प्राण प्रतिष्ठा की, इन्होंने अंकों और दृश्यों में विभाजित कर विविध रंग-रंगमंचों की व्यवस्था की, परंतु इन्होंने नाटकों में से कवित्व नहीं जाने दिया, वरन् अपने

भिन्न-भिन्न भाषा का प्रयोग है। संस्कृत नाटकों में राजा, ब्राह्मण, सेनापति तथा राजसभासद संस्कृत का प्रयोग करते थे और स्त्री पात्र तथा अन्य अपढ़ नीच जाति के लोग विविध प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग करते थे। पारसी नाटकों में इस प्रकार का कोई भेद नहीं था, सभी चरित्र हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते थे। साहित्यिक नाटककारों ने भिन्न-भिन्न चरित्रों की भाषा में भेद रखना उचित समझा। राधाकृष्ण दास रचित 'महाराणा प्रताप नाटक' में मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं, हिन्दू पात्र शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं और पुर्तगाली एक विशेष प्रकार का मिश्रित हिन्दी-उर्दू का प्रयोग करते हैं। यथा :

खोदावंद ! अम पोर्तुगीज है, आमरा नाम मारास्यहन है। अमारा गोआ के गवर्नर ने अमको हजूर के लिए बहुत सा नजर लेकर भेजाअ। इत्यादि

इसी प्रकार बल्देव मिश्र रचित 'प्रभास मिलन' नाटक में कृष्ण, वसुदेव, नारद और इसी प्रकार के अन्य पात्र खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते हैं, ग्वालबाल, राधा, यशोदा और गोपियाँ ब्रजभाषा में बातचीत करती हैं और द्वारपाल कन्नौजी बोली का प्रयोग करता है। परंतु द्वितीय उत्थान में साहित्यिक नाटकों में विविध पात्रों की भाषा में कोई विशेष अंतर नहीं रखा गया। हाँ, कहीं-कहीं जब मज़दूर, किसान इत्यादि आते हैं तो वे बोलियों में बातचीत करते हैं। माधव शुक्ल रचित 'महाभारत' में प्रथम अंक के पंचम गर्भांक में मज़दूर लोग अपनी बोली में इस प्रकार बातें करते हैं :

मंसा—जै गोपाल भीखू, कहः कस हाल चाल हई।

भीखू—हाल चाल का बताई भीखू, हमरौ तौ इहै तार हवै, चार मिला तो हम ही ठहरेन वे मा ननकई जब ते आयल हवै, ओहिका भइकरौ पीछे पीछे लगाव चलव आयस हवे। इत्यादि

मिश्रबंधु रचित 'पूर्व भारत' में राक्षसगण बोलियों में बातचीत करते हैं, शुद्ध खड़ी बोली में नहीं। यथा, अंक द्वितीय, दृश्य प्रथम में देखिए :

[हिडिम्ब और हिडिम्बा प्रवेश।]

हिडिम्ब—[सब ओर सूँघता हुआ] बहिनी ! कहूँ मनुसाइघि आवत्थे।

हिडिम्बा—भैया जानि त महूँ क परि अहै ! का बात है ?

हिडिम्ब—[सब ओर सूँघता हुआ] अरी देखु त कहाँ मनई हैं। कहूँ कहयौ जने जानि परत बाटैं।

हिडिम्बा—अरे उहुवा परे अहैं देखु न। इत्यादि

उसी नाटक के द्वितीय अक के तीसरे दृश्य में दो गाँव वाले एक चहूबाज़ से बातें कर रहे हैं। गाँव वाले तो बोली का प्रयोग करते हैं, परतु चहूबाज़ खड़ी बोली का प्रयोग करता है। 'प्रसाद' के नाटकों में सभी पात्र सस्कृत-गर्भित शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं। उन्होंने भाषा में कोई भेद-भाव नहीं रखा, यहाँ तक कि 'राज्यश्री' नाटक में सुरमा मालिन भी सस्कृत तत्सम-युक्त हिन्दी का प्रयोग करती है। यथा 'राज्यश्री' अक प्रथम, दृश्य प्रथम में :

शान्तिदेव—सुरमा अभी विलम्ब है।

सुरमा—क्या विलम्ब है प्रियतम! देखो मैं मल्लिका का पुष सींचती हूँ, यह भी मुझे वंचित नहीं रखता—छाया, सुगंध और फूलों से जीविका-दान देता है, किन्तु तुम कितने निष्ठुर हो। तुम्हारी आँखों में दया का संकेत भी नहीं। इत्यादि

भिन्न-भिन्न चरित्रों की भाषा में अतर कर देने से सभाषण अधिक यथार्थवादी हो जाते हैं, क्योंकि जीवन में भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पुरुष भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा बोलते हैं। 'प्रसाद' के नाटकों का यह दोष उनके कथानक की गभीरता और प्राचीनता में छिप जाता है। सभी पात्र हज़ारों वर्ष पूर्व स्कदगुप्त, चद्रगुप्त तथा हर्षवर्धन के काल के हैं। कौन कह सकता है कि उस समय सभी लोग सस्कृत नहीं बोल सकते थे। कहा जाता है कि राजा भोज के राज्य में दूध दही बेचने वाली ग्वालिनें और पनिहारिनें भी सस्कृत बोल लेती थीं।

आधुनिक नाटकीय विधानों पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि हिन्दी नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-कला का यथार्थवाद और रंगमंच की सुविधाएँ तो अवश्य ले लीं, परंतु संस्कृत नाटकों का कवित्वमय वातावरण नहीं जाने दिया। पाश्चात्य प्रभाव ने इनसे प्रस्तावना का अंत कर दिया, नाटक में कथानक-वैचित्र्य और कथानक-सौन्दर्य की प्राण-प्रतिष्ठा की, उसे अंकों और दृश्यों में विभाजित कर विविध दृश्य-दृश्यान्तरों की व्यवस्था की, परन्तु इन्होंने नाटकों में से कवित्व नहीं जाने दिया, वरन् गानों

के प्रयोग तथा गद्य गीतों के उपयोग से कवित्व की अनुसरण रक्खा। बंगला के गिरीश घोष यथार्थवादी नाटककार हैं और डा० एल० राय संस्कृत नाट्य-शास्त्र के कवित्वमय वातावरण और पाश्चात्य के यथार्थवाद के समन्वय के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। परन्तु हिन्दी में गिरीश घोष का उतना प्रचार नहीं हुआ जितना डी० एल राय का। इससे हिन्दी नाटककारों और दर्शकों की प्रवृत्ति का अनुमान अच्छी तरह लग जाता है। हमने नवीन रंगमंच की आवश्यकताओं के कारण तथा कथानक-वैचित्र्य और सौन्दर्य की रक्षा के लिए अपने नाटकीय विधानों में अनेक परिवर्तन किए, परन्तु जहाँ तक कविता, आदर्शवाद और काव्य न्याय (Poetic Justice) का संबंध है, हमने सदा संस्कृत नाटकों का आदर्श ग्रहण किया। उदाहरण के लिए दुःखात नाटकों को लीजिए। हिन्दी में दुःखात नाटकों का प्रचार नहीं हो सका। लगभग सभी नाटकों में नायक की विजय दिखाई जाती है। लाला श्रीनिवास दास ने पहले पहल अपने 'रणधीर प्रेममोहिनी नाटक' को दुःखात बनाया था, परंतु किसी ने भी उसका अनुकरण नहीं किया।

कथानक और चरित्र

अमेरिका के एक प्रसिद्ध समालोचक ने नाटकों के विकास की एक बहुत ही सुंदर और संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार खींची है :

First the deed, then the story, then the play, that seems to be the natural development of the drama in the simplest form.

अर्थात्—पहले कार्य, फिर कहानी और फिर नाटक अथवा लीला—नाटकों के स्वाभाविक विकास का यही सरलतम रूप जान पड़ता है। किसी राष्ट्र और जाति के महापुरुषों के महान् कार्य उस राष्ट्र और जाति की अक्षय संपत्ति होते हैं, और उस राष्ट्र की जनता उन महापुरुषों के महत् कार्यों को लीला अथवा नाटक के रूप में प्रदर्शित कर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट करती है। हमारे महापुरुषों के महत् कार्य रामायण, महाभारत और अठारह पुराणों में संचित हैं जिनके आधार पर अनेक महाकाव्यों और नाटकों की रचनाएँ हुईं। इसी प्रकार ईरान, अरब और पाश्चात्य देशों के महत् कार्य उनके साहित्य में संचित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल में मुद्रण-यन्त्र की

सुविधाओं के कारण पढ़ी-लिखी जनता रामायण, महाभारत, पुराण, काव्य और नाटक, ईरान की प्रेमकथाओं और दंतकथाओं, अरब के 'सहस्र-रजनी-चरित्र' तथा अँगरेज़ी साहित्य की विविध कथाओं से परिचित होने लगी। भिन्न-भिन्न रुचि की जनता को भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाएँ पसंद आने लगीं। रुचि की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में जनता पाँच भिन्न वर्गों में विभाजित की जा सकती है। प्रथम वर्ग की जनता आधुनिक शिक्षा और संस्कृति के केन्द्रों से बहुत दूर गाँवों में रहा करती थी और खेती-बारी में अपना जीवन व्यतीत करती थी। उसकी शिक्षा रामायण और भागवत तक ही सीमित थी और उसकी प्रवृत्ति और रुचि धार्मिक थी। रामलीला, रासलीला और पूरन भक्त तथा गोपीचंद इत्यादि धार्मिक महापुरुषों की लीलाओं से वह अपना मनोरंजन कर लिया करती थी। दूसरा वर्ग उस नागरिक जनता का था जो आधुनिक शिक्षा और संस्कृति के केन्द्रों में तो रहती थी, परंतु इस नई सभ्यता और शिक्षा से भली भाँति परिचित न थी। उस पर मुसलमानी दरबारों तथा राजसभाओं के वातावरण का प्रभाव पड़ा था। वह उर्दू गज़लों के बाज़ारू प्रेम तथा लैला और मजनूँ, शीरीं और फरहाद की प्रेमकथाओं पर जान देती थी। एक ओर तो वह उर्दू और फारसी की 'इश्क'-संस्कृति से प्रभावित थी और दूसरी ओर रीतिकवियों की शृंगारी प्रवृत्ति से। वह राम और कृष्ण, हरिश्चंद्र और युधिष्ठिर की पौराणिक कथाओं से ऊब गई थी, राजा और महाराजा से उसे घृणा हो चली थी। वह तो रंगमंच पर प्रेम के दीवानों और इश्क के मतवालों को देखना चाहती थी, रोमांचकारी दृश्य और उत्तेजक भावनाएँ उसे अत्यन्त प्रिय थीं। संख्या में यह वर्ग अन्य सभी वर्गों से बहुत बड़ा था और किसी अंश में बहुत महत्त्वपूर्ण भी था, क्योंकि नगर की धनवान जनता इसी वर्ग में थी जो दिन भर दूकानों पर, आफिसों में तथा कचहरियों पर काम करती और रात को इन्हीं प्रेमलीलाओं और रोमांचकारी दृश्यों से अपना मनोरंजन करती थी। पारसी कंपनियाँ इसी वर्ग की जनता के लिए फारसी की प्रेमकथाओं और अँगरेज़ी साहित्य के प्रेमाख्यानों के आधार पर रोमांचकारी नाटक बनाया करती थीं।

तीसरा वर्ग उन लोगों का था जो पढ़े-लिखे और शिक्षित थे और जिनकी प्रवृत्ति धार्मिक थी। वे रामायण और महाभारत को धर्मग्रंथ मानते थे और प्राचीन काव्यों, नाटकों तथा पुराणों का अध्ययन करते थे। वे पारसी रंगमंच के रोमांचकारी प्रेमाख्यानों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे अपने पूर्वजों के

महत् कार्यों के प्रशंसक थे, पौराणिक महापुरुष उनके आदर्श थे और उन्हीं की कथाएँ वे प्रेम से पढ़ते थे। यह वर्ग भी काफी बड़ा था और इसका प्रभाव समाज और राष्ट्र पर भी विशेष था। इस वर्ग के लिए पौराणिक नाटकों की रचनाएँ हुईं। एक चौथा वर्ग उन लोगों का था जो पढ़े-लिखे और शिक्षित तो अवश्य थे, परंतु उनकी प्रवृत्ति धार्मिक नहीं थी, वरन् वे राष्ट्रीय भावनाओं के पोषक और देशभक्त थे। वे अपने अतीत गौरव, प्राचीन संस्कृति और साहित्य पर जान देते थे। वे पुरातत्त्व विभाग की नई खोजों से बहुत प्रभावित हुए थे और भारत की प्राचीन संस्कृति के स्वप्न देखा करते थे। यह वर्ग संख्या की दृष्टि से बहुत छोटा था, फिर भी इस वर्ग में वे लोग थे जिनके हाथ में भारत का भविष्य था। इन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि की और अपने अतीत गौरव का चित्र चित्रित किया।

एक पाँचवाँ वर्ग उन लोगों का था जो सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक सुधारक थे। उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा के प्रसार और पुस्तकों तथा पत्र पत्रिकाओं के प्रचार से जनता में एक जागृति सी आ गई थी। देश में सुधारक पैदा हो रहे थे जो धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक कुरीतियों पर कुठाराघात कर रहे थे। आर्य समाज ने समाज की जड़ हिला दी और सैकड़ों उपदेशक और भजनीक बाल-विवाह, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार इत्यादि के संबंध में भाषण दे रहे थे। इंडियन नेशनल कांग्रेस राजनीतिक सुधारों के लिए आंदोलन कर रही थी और भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान् साहित्यिक सुधारों के लिए आंदोलन कर रहे थे। इन आंदोलनों से एक सुधारक वर्ग की सृष्टि हो गई थी जो नाटकों के रूप में सामाजिक तथा अन्य कुरीतियों पर व्यंग्य तथा हास्यपूर्ण प्रहसन लिखा करता था। इस वर्ग के लिए सामयिक सामग्री के आधार पर नाटकों की रचनाएँ हुआ करती थीं। इस प्रकार कथानक की दृष्टि से हिन्दी में मुख्य पाँच प्रकार के नाटकों की रचनाएँ हुईं। रामलीला, रासलीला और सांगीतों का वर्णन पहले आ चुका है, शेष चार प्रकार के नाटकों के कथानक इस प्रकार हैं :

(१) प्रेमलीलापूर्ण रोमांचकारी कथानक,
(२) पौराणिक कथानक,
(३) ऐतिहासिक कथानक,
(४) सामाजिक और साहित्यिक सुधार संबंधी सामयिक सामग्री।

(१) रोमांचकारी नाटक

रोमाचकारी नाटक अधिकाश पारसी कपनियों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अत और बीसवीं शताब्दी के प्रारभ में उपस्थित किए। इन नाटकों के कथानक या तो फ़ारसी के प्रेमाख्यानों और दंतकथाओं से लिए जाते थे अथवा उन्हीं के आदर्श और नमूने पर नाटककार स्वयं कल्पित कर लिया करते थे। सभी नाटकों के कथानक और उनकी मुख्य घटनाएँ प्रायः एक-सी हुआ करती थीं। प्रेमिक प्रेमिकाओं की शोख़ी और छेड़छाड़, प्रेमिकों के प्रणय के पीछे साहसिक कार्य और प्रतिद्वंद्वियों के षड्यंत्र इत्यादि इनकी प्रधान घटनाएँ होतीं। युवक और युवती किसी एकात और सुदर स्थान में मिलते और प्रथम दर्शन ही में उनमें प्रेम हो जाता; परतु उनके विवाह में अनेक विघ्न पड़ते। ये विघ्न अधिकाश प्रेमियों के वंशों की आपस में शत्रुता, अथवा प्रेमिक के निर्धन होने अथवा किसी के अभिभावक की अनिच्छा के कारण उत्पन्न होते। प्रेमी और प्रेमिका को अनेक कष्ट और कठिनाइयाँ सहनी पड़तीं; प्रतिद्वन्द्वियों के षड्यन्त्रों को विफल करना पड़ता और कभी कभी उनसे युद्ध भी करना पड़ता था। नायक सभी कठिनाइयों को वीरता के साथ सहता था और अंत में भाग्य की प्रेरणा और अपनी वीरता और दृढ़ता से नायिका से विवाह करने में सफल होता था। प्रेम का चित्रण इन नाटकों में भारतीय दृष्टिकोण से नहीं होता था, वरन् फ़ारसी काव्यों के दृष्टिकोण से जिसमें शोख़ी, शरारत, छेड़छाड़ इत्यादि की भरमार रहती थी। यथा, जलाल अहमद 'शाद' रचित 'दावे हुस्नी' नाटक के प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य में देखिए :

गुलफ़ाम नं० २ [गाना] कैसी ज़ुल्फ़ें निराली, मेरी आँखें हैं जादू भरी

लाखों के दिल को लोभाऊँगी।

छाई छाई हुस्न में बहार,
तेज़ हैं छुरी की कटार,
गाल गोरी हैं, गोरे हैं दोनों ये रुख़,
इनको आशिक़ निगाहों से बचाऊँगी।

मदन—प्यारी गुलफ़ाम मुझे बहुत ज़रूरी काम से जाना है और फिर बहुत जल्द तुम्हारे पास वापस आना है। इसलिए जल्द नादू के घर पहुँच जाओ और मुझे आने की इत्तला दो।

तलाज़—अच्छा, जाने के पेश्तर जो आपने अपनी तस्वीर देने का वादा किया था, वह तो देते जाओ। [तस्वीर देना]

म०—जानमन ! खुशी से।

त०—मैं सदके, कैसी प्यारी और खूबसूरत मालूम होती है। एक ऐसी ही दूसरी तस्वीर मेरे पास भी है।

म०—वह किसकी है।

त०—आपकी।

म०—किस मुसव्विर ने उतारी है ?

त०—उस मुसव्विर का नाम है प्यार का फ़रिश्ता।

म०—प्यार का फरिश्ता ! अच्छा वह तस्वीर कहाँ है ? खूब किया। क्या मैं ज़्यारत कर सकता हूँ ?

त०—शौक़ से ?

म०—लाइए।

त०—आप तलाश फ़रमाइए।

म०—कहाँ है ?

त०—मेरे दिलदार दिल में।

[दोनों का गाना]

म०—चन्दर सूरज तुम पर फिदा अदायें हैं चमिदार
दिलबर नाज़ुक नाज़नीन निसार जाऊँ हज़ार।
हाथ हैं गोरे रंगीन हिना वाले ॥
फिरो आशिक के गले बाँहें डाले। इत्यादि

प्रेम का कितना भद्दा और कुरुचिपूर्ण चित्रण है। परंतु जनता को ऐसे ही चित्र पसंद थे। इसके अतिरिक्त इन नाटकों में अस्वाभाविकता भी विशेष मात्रा में थी। नायक पचासों आदमियों पर अकेले ही तलवार लेकर टूट पड़ता है और अंत में वही विजयी भी होता है और साथ ही कितने विपक्षियों को घायल भी कर देता है। नायिकाएँ भी कभी-कभी ऐसा ही युद्ध करती हैं। कथानक में दैवघटना (Chance) और संयोग (Coincidence) का ही प्रधान भाग रहता है। बहुत दिन का खोया बालक अचानक नायक के रूप में उपस्थित हो जाता है अथवा बहुत ही स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट पुरुष बात की बात में मर जाता है।

इन नाटकों की सबसे प्रधान विशेषता अतिनाटकीय (Melodramatic) प्रसंगों की बहुलता है। नाटककार सर्वदा रोमांचकारी और उत्तेजक दृश्यों की खोज में रहते थे और समय कुसमय किसी भी तरह अतिनाटकीय प्रसंगों के द्वारा इन दृश्यों की अवतारणा किया करते। भय, घृणा, क्रोध इत्यादि उत्तेजक भावनाएँ ही जिनसे मानव-हृदय की तंत्री एक बार ही झंकृत होकर छिन्न-भिन्न हो जाती है, इन नाटकों में अधिकता से पाई जाती है। परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि इनके रहते हुए भी नाटकों का नैतिक आदर्श बहुत ही ऊँचा और दृढ़ रहा। अंत में सत्य और धर्म की ही विजय इन नाटकों में दिखाई जाती थी और खल नेताओं का सर्वदा ही दुःखद अंत होता। सच्चे और पवित्र प्रेम की सर्वदा विजय होती और षड्यंत्रकारी सर्वदा पराजित होते। सच्चे और भले आदमियों का सहायक ईश्वर था जो भाग्य और संयोग के बल से असंभव को भी संभव कर देता। इन नाटकों में कितनी ही अशुद्धियाँ थीं—इनमें अस्वाभाविकता थी, यथार्थ चित्रण का अभाव था, भाषा कुरुचिपूर्ण और अश्लील भी होती, अतिनाटकीय और अनाटकीय सामग्री भी उनमें अधिकता से पाई जाती, हास्य प्रायः अश्लील होते, फिर भी जहाँ तक नाटकों के अंत का प्रश्न आता है वहाँ ये नाटक नैतिक आदर्शों की पूरी रक्षा करते थे।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन नाटकों में सभी चरित्र प्रकार-विशेष (Types) के अंतर्गत आते हैं—या तो वे आदर्श प्रेमी हैं या आदर्श षड्यंत्रकारी, या तो आदर्श नायक हैं अथवा आदर्श मित्र। राजा और रानी, सम्राट् और सम्राज्ञी इन नाटकों में नहीं मिलते, वरन् इनके विपरीत प्रेमिक और प्रेमिका, नायक और नायिका ही मुख्य चरित्र हैं। सभी चरित्र—स्त्री अथवा पुरुष—निश्चित वर्ग (Fixed category) के अंतर्गत आते हैं। इन नाटकों में जीवन के प्रति बहुत ही संकीर्ण दृष्टिकोण पाया जाता है। केवल प्रेम, घृणा, वैर और क्रोध इत्यादि साधारण और स्थूल भावनाओं का ही इनमें चित्रण हुआ है। स्त्री पात्र सभी लंदन-मंचों की नायिकाओं के समान हैं जो केवल प्रेम, ईर्ष्या और घृणा मात्र जानतीं हैं; पुरुष पात्र सभी नायकों के समान हैं जो प्रेम और युद्ध में निपुण होते हैं। नाटक का वातावरण ही प्रेम और रोमांच (Romance) से भरा है।

(२) पौराणिक नाटक

पारसी रंगमंच पर १९१२ तक रोमांचकारी नाटकों का बोलबाला रहा। १९१२ में नारायणप्रसाद 'बेताब' ने 'महाभारत' की रचना की जो बहुत ही सफल नाटक रहा। 'बेताब' से भी पहले विनायकप्रसाद 'तालिब' बनारसी ने 'विक्रम-विलास', 'गोपीचंद' 'हरिश्चंद्र' इत्यादि कितने ही पौराणिक नाटकों की रचना की थी, परंतु इस धारा की परंपरा 'बेताब' से ही प्रारंभ होती है। 'बेताब' के पश्चात् आगा हश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा' तथा अन्य अनेक नाटककारों ने पौराणिक नाटक लिखे। हरिश्चंद्र-स्कूल के नाटकारों में से कुछ ने पौराणिक नाटक लिखे जैसे, बल्देवप्रसाद मिश्र ने 'प्रभास-मिलन' और 'विचित्र कवि' ने 'द्रौपदी चीर हरण' नाटक लिखा। परंतु नाटकों के द्वितीय उत्थान-काल में अनेक साहित्यिक नाटककारों ने पौराणिक नाटकों की रचना की। बदरीनाथ भट्ट ने 'कुरु वन दहन' और 'वेन-चरित्र', माधव शुक्ल ने 'महाभारत' और 'रामायण', माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक', मैथिलीशरण गुप्त ने 'चंद्रहास' और 'तिलोत्तमा', चंद्रराज भंडारी ने 'सिद्धार्थ कुमार', विश्वंभरनाथ 'कौशिक' ने 'भीष्म', सुदर्शन ने 'अंजना', मिश्रबंधु ने 'पूर्व भारत' और जयशंकर प्रसाद ने 'सज्जन' और 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' लिखा। इस प्रकार पौराणिक नाटकों की एक बाढ़-सी आगई। कुछ नाटक ऐसे भी लिखे गए जो पौराणिक नाटकों की श्रेणी में न आते हुए भी मूल रूप में इसी श्रेणी के नाटक हैं। बल्देवप्रसाद मिश्र का 'शंकर-दिग्विजय', 'हसरत' का 'महात्मा कबीर', 'शैदा' का 'बिल्वमंगल अथवा भक्त सूरदास' और बदरीनाथ भट्ट का 'तुलसीदास' पौराणिक नाटक नहीं हैं, क्योंकि शंकराचार्य, कबीर, सूरदास और तुलसीदास ऐतिहासिक महापुरुष हैं, पुराणों से इनका कोई संबंध नहीं। फिर भी ये नाटक पौराणिक नाटकों की श्रेणी में आते हैं। इसके मुख्य दो कारण हैं। प्रथम, ऐतिहासिक युग के महापुरुष होते हुए भी इतिहास इनके संबंध में बिल्कुल मौन है, इनके जीवन-चरित्र हमें दंत-कथाओं से ही मिलते हैं। दूसरा कारण यह है कि वे धार्मिक महापुरुष थे और दंतकथाओं में अतिमानुषिक (Superhuman) चित्रित किए गए हैं। कहा जाता है कि स्वयं राम और लक्ष्मण धनुष बाण लेकर तुलसीदास के घर की रक्षा किया करते थे और भगवान् श्रीकृष्ण सूरदास के यहाँ नौकर बनकर रहते थे। इसलिए ये धार्मिक महापुरुष पौराणिक महापुरुषों के तुल्य माने गए।

कथा-वस्तु की विचित्रता और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पौराणिक नाटक तीन भिन्न प्रकार के नाटकों में श्रेणीबद्ध किए जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी उन पौराणिक नाटकों की है जो पारसी रंगमंच अथवा साधारण जनता के लिए अभिनीत नाटक-मंडलियों के रंगमंच के लिए लिखे जाते थे। राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद 'बेताब', तुलसीदत्त 'शैदा', श्रीकृष्ण 'हसरत', बल्देवप्रसाद खरे और जमुनादास मेहरा इत्यादि के पौराणिक नाटक प्रथम श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल इत्यादि के पौराणिक नाटक दूसरी श्रेणी के अंतर्गत और जयशंकर प्रसाद और सुदर्शन के पौराणिक नाटक तीसरी श्रेणी में आते हैं। इन तीनों श्रेणियों के पौराणिक नाटकों में कथानक के क्रम-विकास और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बहुत अंतर है। पौराणिक नाटकों की मुख्य तीन विशेषताएँ हैं—(१) इनका कथानक धार्मिक होता है, (२ इनमें अतिप्राकृत (Supernatural) प्रसंगों की अवतारणा होती है और (३) ये बहुत ही प्राचीन काल का जीवन चित्रित करते हैं—जिस समय जीवन आजकल से बहुत अधिक भिन्न था, जब धर्म, नीति, प्रेम इत्यादि की भावना आधुनिक काल से भिन्न थी। इन तीनों श्रेणी के नाटककारों ने इन तीनों विशेषताओं को भिन्न-भिन्न रूप में चित्रित किया।

(क) बेताब और राधेश्याम का स्कूल

बेताब और राधेश्याम कथावाचक के स्कूल के पौराणिक नाटकों के पीछे उपदेश देने की भावना रहती थी। उनका दृष्टिकोण सुधारकों जैसा था। 'बेताब' ने 'पत्नी-प्रताप या सती अनुसूया' नाटक की प्रस्तावना में लिखा है कि इस नाटक का उद्देश्य पारसी रंगमंच के अन्तर्गत शृंगार-प्रवाह के विरुद्ध पातिव्रत धर्म की महिमा प्रदर्शित करना है। जमुनादास मेहरा के 'विश्वामित्र' नाटक का भी यही उद्देश्य है। बल्देवप्रसाद खरे ने 'राजा शिवि' नाटक की प्रस्तावना में नाटकों का उद्देश्य इस प्रकार लिखा है :

धर्मोपदेश के साथ साथ देशोन्नति का नाटक दिखाना चाहिए।

इसी प्रकार 'उषा-अनिरुद्ध नाटक' की भूमिका में राधेश्याम कथावाचक लिखते हैं :

पाठकों को इस नाटक में प्रेम मिलेगा, धर्म मिलेगा और कहीं-कहीं शि
भी मिलेगी। ज्यादातर क्या मिलेगा यह मैं भी नहीं जानता।

सारांश यह कि इन नाटकों का उद्देश्य जनता को कुछ शिक्षा देना होता थ
वे केवल धर्म की ही शिक्षा नहीं देते थे, वरन् एक ही नाटक में अनेक प्रक
की शिक्षाएँ दे जाते थे। अस्तु, राधेश्याम कथावाचक ने 'भक्त प्रह्लाद' नाट
में ईश्वर-भक्ति की तो शिक्षा दी ही है, साथ में महात्मा गांधी के सत्या
और अहिंसा, स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार तथा आधुनिक साम्यवाद के संबंध
अनेक शिक्षाप्रद दृश्य उपस्थित किए हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण 'हसरत' महात
कबीर' नाटक में हिन्दू-मुस्लिम एकता की शिक्षा देते हैं। ये नाटकका
समय असमय की कुछ भी परवाह न कर जहाँ तहाँ देशभक्ति, धर्मभ
इत्यादि पर शिक्षाप्रद भाषण कराने से कभी नहीं चूकते। बहुत से अप्रासंगि
दृश्य केवल उपदेश देने के लिए ही नाटकों में घुसा दिए जाते थे।

उपदेशात्मक बातों को जनता के ऊपर अच्छी तरह दर्शाने के लिए
स्कूल के नाटककार पौराणिक कथानक की मुख्य कथा-वस्तु के साथ सम
और विषमता के लिए मुख्य कथा के आदर्श पर दो एक कल्पित कथाओं
सृष्टि कर के नाटक में गौण कथा के रूप में जोड़ देते थे। प्रायः प्रत्येक ना
में एक मुख्य कथा और दो गौण कथाएँ होतीं एक समता के लिए अ
दूसरी विषमता के लिए। उदाहरण के लिए 'बेताब' रचित 'पत्नी-प्रताप
सती अनुसूया' ले लीजिए। इसमें मुख्य कथानक सती अनुसूया का है और
गौण कथानक हैं—एक समता के लिए रेवा का जो अपने पातिव्रत धर्म
प्रभाव से सूर्य का उदय तक रोक देती है और दूसरा विषमता के लिए
व्यभिचारिणी स्त्री का जो अपने नीच कर्म के लिए दुःख उठाती है। इ
प्रकार समता और विषमता से सती अनुसूया का चरित्र और भी सुंदर अ
प्रभावशाली हो जाता है और दर्शकों पर इसका प्रभाव द्विगुणित होकर पड़
है। इसी प्रकार गोपाल दामोदर तामस्कर-रचित 'राजा दिलीप नाटक' में मु
कथा राजा दिलीप और सुदक्षिणा की नंदिनी-सेवा है जो पुराणों से ली
है और दो गौण कथाएँ नाटककार की कल्पित हैं जिनका सृजन पौराणि
कथा के समानांतर उसी के आदर्श पर किया गया है। मुख्य कथा से सम
के लिए सुताशन और रक्षा की कथा कल्पित की गई है जिनके कोई बच्चा न
है और इसीलिए वे दुखी हैं और पुत्र-प्राप्ति के लिए कुशिष्ठ नामक ऋषि
पास जाते हैं। विषमता के लिए हुताशन और कुदक्षा की कथा कल्पित

गई है जिनके इतने अधिक बच्चे हैं कि वे उनके भरण-पोषण का भी खर्च नहीं चला सकते। समता और विषमता से नाटक का मुख्य उद्देश्य द्विगुण प्रभाव से दर्शकों को प्रभावित करता है। मुख्य कथा में मौलिकता के लिए कोई स्थान नहीं है, वे पुराणों से ली गई हैं और उनमें वे ही आदर्श सुरक्षित हैं। परंतु गौण कथाएँ अधिकांश नाटककारों की मौलिक रचनाएं हैं और वे मुख्य कथा के आधार पर कल्पित हैं। इनमें हास्य और व्यंग्य का अच्छा पुट मिलता है।

बेताब और राधेश्याम-स्कूल के नाटककारों ने अतिप्राकृत प्रसंगों का पूरा पूरा लाभ उठाया। ये नाटककार सर्वदा रोमांचकारी और आकर्षक दृश्य-दृश्यांतरों की खोज में रहा करते थे क्योंकि जनता इन दृश्यों को बहुत पसंद करती थी। अतिप्राकृत प्रसंग सभी इन दृश्यों के रूप में प्रदर्शित किए गए। जिस कथा में जितने ही अधिक अतिप्राकृत प्रसंग होते उतने ही अधिक दृश्य उस नाटक में प्रदर्शित किए जा सकते थे और वह नाटक उतना ही अधिक प्रचार पाता। जिस कथा में अतिप्राकृत प्रसंग नहीं भी थे वहाँ नाटककारों ने दृश्यों के लिए दो-चार नए कल्पित कर लिए। उदाहरण के लिए 'विश्व' रचित 'भीष्म प्रतिज्ञा' नाटक ले लीजिए। इसमें अतिप्राकृत प्रसंग नहीं के समान थे, परंतु लेखक ने दृश्यों के लिए कुछ प्रसंगों की कल्पना कर ली। भीष्म ने कामदेव को कभी पराजित नहीं किया, परंतु द्वितीय अंक, पंचम दृश्य में मिलता है :

> **आवाज़ का होना, अग्नि की लपट निकलना और काम (कामदेव) का भीष्म के सामने आना।** इत्यादि

इसी प्रकार 'हसरत'-रचित 'महात्मा कबीर' नाटक में जब कबीर हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर भाषण देते हैं तब अचानक एक दृश्य सामने आता है जिसमें महात्मा गांधी और मौलाना शौकत अली शेक-हैन्ड करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इतना ही नहीं, कबीर के ताली बजाते ही रंगमंच पर विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम और जार्ज पंचम के दर्शन होते हैं।

बेताब-स्कूल के नाटकों में यथार्थ-चित्रण भी उल्लेखनीय है। नाटककार ऐतिहासिक युग से पूर्व के भारत का सुंदर यथार्थ चित्र खींचना चाहते थे, परंतु उन्होंने खींचा क्या ?—आधुनिक जीवन के भद्दे चित्र। उनमें आशिक़-माशूक़ी ढंग के भद्दे प्रेम-प्रसंग, भोग-लिप्सा से भरी हुई नीच प्रवृत्तियाँ और

इधर-उधर की उछलकूद और छेड़छाड़ ही अधिक मिलती है। पौराणिक महापुरुषों के यथार्थ चित्रण के लिए उस युग की संस्कृति, नैतिक अवस्था, सामाजिक नियम और राजनैतिक व्यवस्था के अध्ययन की आवश्यकता थी, परंतु इन नाटककारों ने यह सब अध्ययन कुछ भी नहीं किया, अपना मनमाना एक भद्दा और घृणित चित्र चित्रित किया। इन नाटककारों के अनुसार उस अतीत स्वर्ण-युग के महापुरुष उन्नीसवीं शताब्दी की साधारण जनता से किसी प्रकार अच्छे न थे। 'गंगावतरण' में दो स्वर्गीय देवियों—लक्ष्मी और सरस्वती—के वार्तालाप में लक्ष्मी सरस्वती की निन्दा करती है :

हँस के दिल लेना तुम्हें आता नहीं,
बोसा भी देना तुम्हें आता नहीं।

जान पड़ता है कि लक्ष्मी और सरस्वती भी कोई दो वेश्याएँ हैं जो इस प्रकार निर्लज्जता का व्यवहार करती हैं। उस युग के महान् व्यक्ति उन्नीसवीं शताब्दी के साधारण मनुष्यों से केवल दो बात में बढ़े थे—प्रथम वे अधिक धार्मिक थे और शास्त्रीय नियमों पर चलते थे और दूसरे वे तपस्वी थे। और सभी बातों में वे आधुनिक मनुष्यों जैसे ही थे। भीष्म, प्राह्लाद, विश्वामित्र जैसे महान् व्यक्ति भी इन नाटकों में तुच्छ मनुष्य बन गए हैं। श्रीकृष्ण 'हसरत'-रचित 'गंगावतरण' में भगीरथ और राजकुमारी की बातचीत सुनिए :

राजकुमारी—आप का निवास-स्थान ?
भगीरथ—पास में प्रेमी हो तो स्वर्ग-उद्यान, नहीं तो उजड़ा मैदान।
राजकुमारी—आप का नाम ?
भगीरथ—प्रेम में बदनाम।
राजकुमारी—यदि प्रेमी प्राप्त हो ?
भगीरथ—तब तो अहोभाग्य ! शुभ नाम। इत्यादि

यह है स्वर्ग से गंगा को पृथ्वी पर लाने वाले तपस्वी भगीरथ का चरित्र-चित्रण। इसी को इस स्कूल के नाटककार यथार्थवाद समझे हुए थे।

फिर जब हम इन पौराणिक नाटकों में प्रयुक्त भाषा-शैली की ओर देखते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है। 'पत्नी-प्रताप' नाटक का एक दृश्य लीजिए :

यम—सच है :

टपक पड़ती है सब की राल बाहर की सफ़ाई पर,
वरक़ चिपकाए हैं चाँदी के गोबर की मिठाई पर।
इधर काग़ज़ की इक रही है मक्खन औ मलाई पर,
नज़र क्या आय इसकी ख़ुश ग़िज़ाई पर, बड़ाई पर। इत्यादि

इस भाषा पर, इसकी उपमाओं और रूपकों पर हँसी आए बिना नहीं रहती। कितनी भद्दी भाषा और कितनी भद्दी रुचि है। राधेश्याम कथावाचक की भाषा में साहित्यिकता कुछ विशेष अवश्य है परन्तु उनकी भी उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ और रूपक कुरुचिपूर्ण और भद्दे हैं। अस्तु, बेताब और राधेश्याम स्कूल के पौराणिक नाटकों का यथार्थवाद भद्दा और कुरुचिपूर्ण है और उसका वातावरण भी बहुत ही भद्दा और कवित्व से हीन है।

इन नाटकों में चरित्र-चित्रण भी बहुत ही तुच्छ है। अधिकांश तो इस स्कूल के नाटककारों ने पुराणों में जैसा चित्रित है उसी प्रकार के चरित्र अंकित करने का प्रयास किया है, परन्तु जहाँ कहीं उन्होंने चरित्र-चित्रण में मौलिकता लाने का प्रयत्न किया वहीं उसे और भी निम्न कोटि का कर दिया। उदाहरण के लिए 'गंगावतरण' में भगीरथ को ले लीजिए। जहाँ तक गंगा के पृथ्वी पर लाने की कथा और उसमें भगीरथ के चरित्र का संबंध है वहाँ तक भगीरथ का चरित्र पुराण से पूर्णतया मिलता है, परन्तु जहाँ नाटककार ने भगीरथ के शेष जीवन को कल्पना के द्वारा चित्रित करने का प्रयत्न किया वहीं वह चरित्र बहुत नीचे गिर गया। वास्तव में ये नाटककार चरित्र की वास्तविक महत्ता नहीं समझते थे। किसी चरित्र के जीवन के कई अंग होते हैं और सभी प्रधान अंगों में एक सामंजस्य होता है। ये नाटककार इस सामंजस्य को समझने में असमर्थ थे। यदि कोई चरित्र बहुत ही सत्यवादी हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सत्य बोलने में तो वह हरिश्चंद्र के समान है, परंतु अन्य सभी गुणों में वह बहुत ही साधारण मनुष्य है। यदि वह हरिश्चंद्र के समान सत्यवादी है तो वह साधारण मनुष्य नहीं हो सकता, उसके सारे चरित्र पर एक असाधारणता की छाप लगी होगी। इस बात को बेताब-स्कूल के नाटककार नहीं समझते थे; इसी कारण उन्होंने अनेक पौराणिक महापुरुषों को साधारण मनुष्य की भाँति चित्रित कर दिया है। फिर उनके जीवन का दृष्टिकोण बहुत ही संकुचित है। उनकी समझ में एक अच्छा आदमी वह है जो

शास्त्रीय नियमों का अंध अनुकरण करता है, वह नहीं जो सर्वदा सत्य बोलता है, परोपकारी और सयमी है। इसके अतिरिक्त इनके चरित्र-चित्रण में सबसे बड़ा दोष अतिप्राकृत प्रसगों के कारण भी आ जाता है। नायक के जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य किसी अतिप्राकृत शक्ति के कारण-स्वरूप चित्रित किए जाते हैं जिससे उसके चरित्र का महत्त्व नष्ट हो जाता है। इसी कारण जब ये नाटककार किसी सामाजिक अथवा धार्मिक अनियम की ओर हमारा ध्यान दिलाना चाहते हैं तो उन्हें सफलता नहीं मिलती, क्योंकि उनके नायक और नायिकाएँ इतनी तुच्छ और साधारण प्रतीत होती हैं कि उनकी बातों का जनता पर प्रभाव पड़ना असमव हो जाता है।

साराश यह कि बेताब और राधेश्याम स्कूल के पौराणिक नाटक कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण, वातावरण और भाषा-शैली, सभी दृष्टि से निम्न कोटि की रचनाएँ थीं। धार्मिक और उपदेश-प्रवृत्ति के कारण जनता में उनका प्रचार तो पर्याप्त हुआ, परतु नाट्य-कला की दृष्टि से उनका महत्त्व कुछ भी नहीं है।

(ख बदरीनाथ भट्ट का स्कूल

भट्ट-स्कूल के पौराणिक नाटक किसी विशेष उद्देश्य से उपदेश देने के लिए नहीं लिखे गए वरन् उनका ध्येय साहित्यिक रचना मात्र था। इस स्कूल के नाटककारों ने रामायण, महाभारत, पुराण तथा प्राचीन काव्यों और नाटकों से कथानक लेकर, अथवा दतकथाओं के आधार पर मौलिक तथा अर्द्धमौलिक कथा-वस्तु तथा चरित्रों की सृष्टि की। उन्होंने पुराणों का अंध अनुकरण नहीं किया वरन् उनके आधार पर अपनी रुचि तथा कथा की प्रवृत्ति के अनुसार अनेक परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन किए। उन्होंने नए प्रसगों और नए चरित्रों की अवतारणा की। मौलिकता के लिए इन नाटककारों को गौण कथानकों की सृष्टि नहीं करनी पड़ी। उन्होंने अधिकाश नाटकों में केवल मुख्य कथानक ही रखा, गौण कथानकों की योजना नहीं की, अथवा यदि की भी तो बहुत ही छोटे कथानकों की। बेताब स्कूल की भाँति समानांतर कथा-वस्तु की योजना भट्ट-स्कूल में नहीं हुई। इससे समता और विषमता के द्वारा कथा और चरित्र का अतिरजित चित्रण संभव नहीं हो सका, परतु इससे एक लाभ अवश्य हुआ कि लेखक अपना सारा ध्यान एक ही मुख्य कथा-वस्तु पर केन्द्रित कर सका और नाटक में घटना, प्रसंगों और दृश्यों

की नींद नहीं लगी। गोविंदवल्लभ पंत-रचित 'वरमाला' का कथानक बहुत ही सरल है, उसमें केवल मुख्य कथा-वस्तु है और गौण कथानकों का नाम भी नहीं। इसलिए उसमें कथा बहुत ही सुलझी हुई, सीधी और सरल है। सभी दृश्य सुसंगत और उपयोगी हैं। कथा का क्रम-विकास बहुत ही सुंदर और समुचित है।

अतिप्राकृत प्रसंग भट्ट-स्कूल के पौराणिक नाटकों में बहुत कम मिलते हैं और जहाँ कहीं मिलते भी हैं वहाँ पर उनका उपयोग कथा-वस्तु के विकास के लिए अथवा नायक के उपयुक्त और सुंदर चरित्र-चित्रण के लिए आवश्यक होने के कारण ही हुआ, दृश्य-दृश्यांतर के लोभ से नहीं। अस्तु, 'कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक' में चित्ररथ का वायुयान पर जाना इसलिए आवश्यक था कि चित्ररथ का अनजान में ही गालव मुनि की अंजलि में थूकना बिना इसके संभव न था और बिना इस थूक के नाटक का कथानक ही आगे नहीं बढ़ सकता था। इसी प्रकार 'तुलसीदास' नाटक में धुधुआ और बुधुआ का राम-कवच में बँध जाना अतिप्राकृत प्रसंग है, परंतु तुलसीदास की असीम भक्ति का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए इस प्रसंग की विशेष आवश्यकता है। कभी-कभी कोई महान् कवित्वपूर्ण भावना नाटकों में अतिप्राकृत वेश-भूषा में उपस्थित की जाती है। उदाहरण के लिए भवभूति के अमर नाटक 'उत्तर रामचरित' में छाया-सीता को ले लीजिए। छाया-सीता भवभूति की उच्चतम कवि-कल्पना है जो एक अति-प्राकृत चरित्र के रूप में नाटक में अंकित हुई है। मैथिलीशरण गुप्त के 'चंद्रहास' नाटक में नियति भी एक इसी प्रकार की कल्पना है। नाटक में नियति ही सब कार्य करती है परंतु उसे कोई पात्र या पात्री नहीं देख पाते। नियति कवि की एक सुंदर भावना को प्रदर्शित करने के लिए ही रंगमंच पर आती है, नाटक से उसका कोई विशेष संबंध नहीं है। तुलसीदत्त 'शैदा' रचित 'जनक-नंदनी' में कर्म (नियति) भी नाटककार की कवित्वपूर्ण भावना प्रकट करने के लिए अतिप्राकृत चरित्र के रूप में आता है।

वातावरण की दृष्टि ने भट्ट-स्कूल के पौराणिक नाटकों में वास्तविक वातावरण की सृष्टि सफलतापूर्वक हो सकी है, परन्तु वातावरण यथार्थ होते हुए भी युग की आत्मा के दर्शन उनमें नहीं होते। 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में जो युग की संस्कृति का सुंदर चित्रण मिलता है वह इन पौराणिक नाटकों में नहीं मिलता। बात यह थी कि ये नाटककार पौराणिक युग की

संस्कृति से परिचित न थे, परंतु उन्होंने एक ऐसा वातावरण अवश्य उपस्थित किया जो यथार्थ कहा जा सकता है। यथा, 'शंकर-दिग्विजय' नाटक में बल्देव मिश्र ने उस काल की धार्मिक अराजकता का अच्छा चित्रण किया है। बौद्धधर्म में व्यभिचार और अनाचार फैल रहा था, शाक्तधर्म के नेता अभिनव गुप्त मंत्र-तंत्र के प्रयोग में मग्न थे, अघोरपंथी और कापालिक मद्य मांस में डूबे थे और ब्राह्मण सम्प्रदाय के नेता मंडन मिश्र कर्मकांड में व्यस्त थे। इस अराजक अवस्था में शंकराचार्य ने जन्म लिया और सभी धर्मनेताओं को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपने अद्वैतवाद का प्रचार किया। 'कृष्णार्जुन युद्ध नाटक', 'महाभारत', 'तुलसीदास' इत्यादि सभी नाटकों में वास्तविक वातावरण की सृष्टि हुई है। परंतु कहीं-कहीं इन नाटकों में काल-दोष भी घुस गए हैं। उदाहरणार्थ, 'तुलसीदास' नाटक में प्रथम अंक के सातवें दृश्य में रानी पिस्तौल द्वारा मेजर और कैप्टेन (आधुनिक उपाधियाँ) को बंदी बनाती है। 'वेन-चरित्र' में इतने षड्यंत्र रचे गए और वे षड्यंत्र भी इस प्रकार के हैं जो सतयुग के मनुष्यों के लिए असंगत और अनुपयुक्त जान पड़ते हैं। 'कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक' में शंख दादा ने पाणिनी के व्याकरण पर जो व्यंग्य बाण छोड़े हैं वे महाभारत-युग के लिए असंभव जान पड़ते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि शंख दादा कोई बीसवीं शताब्दी के विद्यार्थी हैं जो पाणिनि को कोसते हुए व्यंग्य बाण चला रहे हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भट्ट-स्कूल के नाटककार बेताब-स्कूल के नाटककारों से कहीं अधिक सफल रहे हैं। यों तो इस स्कूल के लेखक भी आदर्श और महत् चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सके और न उनका ध्यान और ध्येय चरित्रों के आदर्श चित्रण की ओर ही था, परंतु फिर भी उन्होंने महान् चरित्रों को तुच्छ और साधारण चरित्र बनाकर उनका महत्त्व नष्ट नहीं किया। वे चरित्र की महत्ता समझते थे और चरित्र के प्रधान अंगों के सामंजस्य की भावना भी उनमें थी। यह सत्य है कि वे महत् चरित्रों की कल्पना नहीं कर सके, परंतु इसका कारण यह है कि वे चरित्र-चित्रण की ओर उतना ध्यान नहीं देते थे जितना कि कथा-वस्तु के सौन्दर्य और क्रम-विकास की ओर देते थे। 'तुलसीदास', 'वेन चरित्र', 'चंद्रहास' और 'सिद्धार्थ-कुमार' जैसे चरित्र-प्रधान नाटकों में भी नायकों की महत्ता और चरित्र की विशेषता की ओर कोई संकेत नहीं किया गया। 'शंकर-दिग्विजय'

में शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ में सभी विद्वानों को पराजित किया और स्वयं व्यास भगवान् ने आकर उनका आदर किया और प्रशंसा की, परंतु नाटक में कहीं भी इस बात का पता नहीं चलता कि आखिर शंकराचार्य इतने महान् हो कैसे गए और उन्होंने अपने अद्वैतवाद सिद्धांत की कल्पना कैसे की। इन नाटकों में घटनाओं और प्रसंगों की क्रिया और प्रतिक्रिया तो अवश्य मिलती है परंतु मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर लेखकों का ध्यान भी नहीं गया। इसी कारण इन नाटकों में किसी भी चरित्र का सुंदर मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं मिलात।

(ग) प्रसाद-स्कूल

जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन इत्यादि नाटककारों ने भी दो-एक पौराणिक नाटक लिखे जिनका कथानक तो पुराणों से लिया गया था, परंतु उनमें पौराणिक नाटकों की प्रतिनिधि विशेषताएँ नहीं मिलतीं, क्योंकि न तो वे धार्मिक हैं, न उनका वातावरण धार्मिक है और न उनमें अतिप्राकृत प्रसंगों का प्रदर्शन है। इस कारण वे सभी दृष्टियों से प्रसाद-स्कूल के ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में आते हैं और उनका विवरण ऐतिहासिक नाटकों के साथ दिया जायगा।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के पश्चात् संख्या में ऐतिहासिक नाटकों का स्थान है। इस दिशा में जयशंकर प्रसाद सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। 'राज्यश्री', 'विशाख' और 'अजातशत्रु' 'प्रसाद' की प्रमुख ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। सुदर्शन-रचित 'अंजना' और 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' भी इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। कुछ ऐतिहासिक नाटक एक दूसरी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं जिनमें मुख्य बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' और 'चंद्रगुप्त' तथा प्रेमचंद कृत 'कर्बला' हैं। कुछ बहुत ही साधारण श्रेणी के ऐतिहासिक नाटक और भी लिखे गए, जैसे गोपालराम गहमरी का 'दनबीर नाटक', मनसुखलाल सोजतिया का 'रण बाँकुरा चौहान' और कृष्णलाल वर्मा का 'दलजीत सिंह' इत्यादि।

इन ऐतिहासिक नाटकों की एक विशेषता यह है कि इनका कथानक मिश्र और उलझा हुआ होता है और प्रसंगों की भीड़-सी लग जाती है। इन नाटकों के कथानक का क्रम-विकास बहुत कुछ उपन्यासों का जैसा गया है।

जिस प्रकार उपन्यासों में कई कथाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है उसी प्रकार ऐतिहासिक नाटकों मे कई कथाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया के कारण कथानक कुछ उलझा हुआ सा रहता है। उपन्यासों में इस उलझन को सुलझाने के लिए लेखक कुछ पृष्ठ और खर्च कर सकते हैं परतु नाटकों में ऐसी सुविधा नहीं रहती, जिससे नाटककार को प्रायः कुछ अस्वाभाविक घटनाओं और प्रसगों द्वारा उलझन को सुलझाना पड़ता है। इसने कथानक कुछ उखड़ा-सा, बीच में जुड़ा हुआ और अपूर्ण-सा लगता है। अधिकाश ऐतिहासिक नाटकों में यही दोप मिलता है। इन नाटकों में नाटककार प्राय. बहुत ही ऊँची कल्पना का सहारा लेकर बहुत ही सुदर और पूर्ण रचना बनाने की इच्छा से कई कथाओं का मिश्रण करते हैं, परतु जब कथानक उलझ जाता है तब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। वे अपने ही बनाए हुए कथाओं और उपकथाओं के जाल में इतने उलझ जाते हैं कि इनको सुलझाने का उन्हें ध्यान नहीं रहता और किसी प्रकार असगत और अस्वाभाविक प्रसगों का सहारा लेकर वे कथानक का अपूर्ण अत कर देते हैं।

उपरोक्त तीन श्रेणियों के ऐतिहासिक नाटकों में साधारण वर्ग के नाटकों में केवल यह उलझन मात्र मिलती है और कोई विशेपता उसमें नहीं है। वे नाटक के रूप में उपन्यास हैं, उनमें घटनाओं के ऊपर घटनाओं और प्रसगों के ऊपर प्रसगों का एक पहाड़-सा लाद दिया गया है, न उनमें चरित्र-चित्रण है न काव्य-सौन्दर्य। कहीं कहीं अतिप्राकृत और अस्वाभाविक प्रसग भी आगए हैं परतु नाटकत्व उनमें कुछ भी नहीं है। भट्ट-स्कूल के ऐतिहासिक नाटकों में 'दुर्गावती' का प्रचार हुआ। इस स्कूल के नाटक इसी स्कूल के पौराणिक नाटकों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, इनमें कथानक का क्रम और विकास चरित्र-चित्रण इत्यादि सभी बातें पौराणिक नाटकों के समान ही हैं। अतर इतना ही है कि इन ऐतिहासिक नाटकों का सबध इतिहास से है, इनके कथानक बहुत कुछ मौलिक हैं और नाटककार के मस्तिष्क की उपज हैं। इनमें स्थान स्थान पर अतिमानुषिक प्रसग भी मिलते हैं परतु बहुत ही कम और जो मिलते भी हैं वे किसी महत् भावना के नाटकीय रूप मात्र हैं।

भट्ट स्कूल के ऐतिहासिक नाटक में दो मुख्य दोष पाए जाते हैं जो इस स्कूल के पौराणिक नाटकों में भी मिलते हैं। पहला दोष तो यह है कि इन नाटकों में सघर्ष (Conflict) का रूप अच्छी तरह प्रकट नहीं हो सका है और जो कुछ प्रकट भी हुआ है उसका उपयुक्त चित्रण नहीं हुआ। दूसरा

दोष यह है कि इन नाटकों में ऐसे महत् क्षणों (High moments) का अभाव है जब कि नायक या अन्य कोई मुख्य चरित्र अपनी अतिरंजित भावनाओं का कवित्वपूर्ण प्रदर्शन करता है। इस अभाव के परिणाम-स्वरूप चरित्रों की महत्ता बहुत ही कम हो गई है। किसी चरित्र के सफल चित्रण के लिए केवल घटनाओं और प्रसंगों का ढेर लगा देना या हास्यपूर्ण वार्त्तालाप करा देना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् ऐसे गंभीर अवसरों और महत् क्षणों की भी आवश्यकता पड़ती है जब कि चरित्र अपने अतिरंजित भावों और विचारों का स्वतंत्र व्यंजना कर सकें। 'प्रसाद' के नाटकों में ऐसे अवसर पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं परन्तु अन्य किसी नाटककार में इतनी क्षमता न थी।

(क) प्रसाद-स्कूल के ऐतिहासिक नाटक

'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में हिन्दी नाट्य-कला का चरम विकास मिलता है। सफल नाटक में सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि उसमें एक संघर्ष—एक अंतर्द्वंद्व—अवश्य हो और वह संघर्ष भी बहुत ही स्पष्ट होना चाहिए। भट्ट-स्कूल के नाटकों में यह संघर्ष है ही नहीं और जहाँ है भी वहाँ स्पष्ट नहीं है। 'प्रसाद' के नाटकों में यह संघर्ष अथवा अंतर्द्वंद्व बहुत ही स्पष्ट है और नाटककार नाटक के प्रारंभ में ही इस अंतर्द्वंद्व की ओर संकेत कर देता है। अस्तु, 'अजातशत्रु' नाटक के पहले ही दृश्य में नाटककार ने बड़ी चतुरता से अजातशत्रु की क्रूरता, असंयम और विद्रोह, उसकी माता छलना की षड्यंत्र-प्रियता और पद्मावती तथा उसकी माता बिम्बसार की पहली स्त्री वासवी की शांतिप्रियता की ओर संकेत कर दिया है। अजातशत्रु की क्रूरता और विद्रोह, तथा छलना के षड्यंत्र और बिम्बसार तथा वासवी की शांति-प्रियता के बीच जो संघर्ष चला है वही 'अजातशत्रु' का मुख्य विषय है। नाटककार ने इस संघर्ष की ओर प्रथम दृश्य में ही संकेत कर दिया और आगे के दृश्यों में इसी संघर्ष का विस्तृत और विशद चित्रण किया। इसी प्रकार आर्यों और नागों के बीच जो संघर्ष 'जनमेजय का नाग यज्ञ' नाटक में चित्रित है उसकी ओर प्रथम दृश्य में ही संकेत कर दिया गया है। यथा :

सरमा—बहन मनसा, मैं तो आज तुम्हारी बात सुनकर चकित हो गई।

मनसा—क्यों ? क्या तुमने यही समझ रक्खा था कि नाग जाति सदैव से इसी गिरी अवस्था में है ? क्या इस विश्व के रंगमंच पर नागों ने

> कोई स्पृहणीय अभिनय नहीं किया ? क्या उनका अतीत भी वर्तमान की भाँति अंधकारपूर्ण था ? सरमा ऐसा न समझो। आर्यों के सदृश उनका भी इसी भूमि पर विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक संस्कृति थी।

इस एक संभाषण से नाटक के अंतर्गत जो अंतर्द्वंद्व चल रहा है उसका संपूर्ण चित्र सामने आ जाता है। आगे के दृश्यों में इसी संघर्ष का सफल चित्रण है। नाटक का कथानक इस प्रकार विकसित होता है कि यह संघर्ष और अंतर्द्वंद्व बढ़ता ही जाता है और इसी संघर्ष की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ विविध नाटकीय घटनाओं और प्रसंगों के रूप में दिखाई पड़ती हैं। सुदर्शन-रचित 'अंजना' में भी एक संघर्ष है और उसी संघर्ष के फल-स्वरूप ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि भभक उठती है, विविध षड्यंत्रों की सृष्टि होती है और धीरे-धीरे क्रिया और प्रतिक्रिया का क्रम बढ़कर एक बहुत ही सुंदर नाटक की सृष्टि करता है। संघर्ष और अंतर्द्वंद्व के सफल चित्रण और क्रम-विकास से प्रसाद-स्कूल के नाटकों में एक अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि होती है जो हिन्दी के अन्य नाटकों में नहीं मिलती।

प्रसाद-स्कूल के नाटकों में कथानक का विकास स्वच्छंदवादी है, जिसमें कथानक उलझा हुआ और मिश्र होता है। गोविन्दवल्लभ पंत की 'वरमाला' का कथानक बड़ा ही सीधा-सादा और सरल है। उसमें केवल मुख्य कथानक मात्र है, किसी अप्रधान कथानक का नाम भी नहीं। अवीक्षित वैशालिनी से प्रेम करता है परंतु वैशालिनी उससे प्रेम नहीं करती। फिर एक घटना घटती है जिससे वैशालिनी नायक को प्यार करने लगती है, परंतु नायक अपने को नायिका के अयोग्य समझता है। फलतः दोनों का एक दूसरे से वियोग हो जाता है। नायिका अपने प्रेमी को ढूँढ़ने के लिए निकलती है और जंगल पहाड़ की धूल छानती फिरती है। नायक भी प्रेमयोगी होकर मन बहलाने के लिए शिकार करने जंगल में जाता है। भाग्य से वहीं दोनों का मिलन होता है और वैशालिनी सूखी वरमाला अवीक्षित के गले में डाल देती है। इस सरल कथनाक में कोई उलझन नहीं। यह आदर्श अमिश्र कथानक है। इसमें भावों का संघर्ष है और इस संघर्ष का विकास एक सरल रेखा में होता है। इसके विपरीत 'प्रसाद', सुदर्शन और उग्र' के नाटकों का कथानक स्वच्छंद-वादी है। उनमें मुख्य कथानक के अतिरिक्त दो, तीन या तीन से भी अधिक उपकथाएँ हैं जो एक दूसरे में इस प्रकार उलझ जाती हैं कि उनका सुलझाना

बड़ा कठिन हो जाता है अंतर्द्वंद्व सरल रेखा में नहीं विकसित होता वरन् अनेक चक्कर काटता हुआ टेढ़ी रेखा में बढ़ता है। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' का 'अजातशत्रु' ले लीजिए। इसमें अनेक कथाएँ हैं। एक ओर मगध में अजातशत्रु अपने पिता बिम्बसार को राज-सिंहासन छोड़ने पर विवश करता है और सम्राट् उसे सिंहासन देकर वासवी के साथ अरण्य-निवास करते हैं; दूसरी ओर अवंती में राजा उदयन की रानियों में षड्यंत्र चल रहा है—मागंधी अपने कौशल से उदयन को पद्मावती के विरुद्ध भड़का देती है और स्वयं अपने घर में आग लगाकर अंतर्धान हो जाती है; तीसरी ओर कौशाम्बी में राजकुमार विरुद्धक अपने पिता प्रसेनजित् से विद्रोह करता है राज्य के बाहर निकाले जाने पर शैलेन्द्र डाकू के रूप में काशी में विद्रोह की अग्नि भड़काता है। इनके अतिरिक्त कितनी ही छोटी-छोटी और उपकथाएँ भी हैं। मागधी का श्यामा वेश्या के रूप में काशी में शैलेन्द्र से प्यार और अंत में उससे त्यक्त होकर आम्रपाली के रूप में सेवा व्रत लेना, प्रसेनजित् का अपने सेनापति के विरुद्ध षड्यंत्र करके उसका वध कराना और फिर सेनापति की विधवा स्त्री के द्वारा उसकी रक्षा, इत्यादि अनेक और भी उपकथाएँ हैं। इस प्रकार एक ही नाटक में पाँच-छः कथाओं का मिश्रण है। एक कथा आगे बढ़कर दूसरी कथा से उलझ जाती है और उनमें से कितनी नई कथाएँ निकल पड़ती हैं; एक चरित्र परिवर्तित होकर नया चरित्र बन जाता है; एक प्रसंग कई प्रसंगों से मिलकर अद्भुत रूप धारण कर लेता है। इस मिश्र कथा के निरंतर उबलते हुए उठान और अंत मे उसका सुलझना स्वच्छंदवादी कथानक की विशेषता है। 'अंजना', 'राज्यश्री', जनमेजय का नाग-यज्ञ' सभी में कथा का क्रम-विकास स्वच्छंदवादी है। इस प्रकार के कथानक का सफल क्रम-विकास साधारण नाटककार के वश की बात नहीं है, इसमें अद्भुत प्रतिभा और क्षमता की आवश्यकता है। 'प्रसाद' में इस प्रकार की अलौकिक प्रतिभा थी। उनके नाटकों में कथा का विकास निर्दोष है। उन्होंने कहीं भी निरर्थक दृश्य और प्रसंग नहीं दिखाए, किसी व्यर्थ चरित्र को नाटक में नहीं स्थान दिया। उनकी निर्देशक शक्ति कलापूर्ण और अद्भुत थी।

इन नाटकों में कथानक ही स्वच्छंदवादी नहीं, चरित्र-चित्रण भी आदर्श-वाद ढंग के हैं। इन नाटककारों ने मानव-जीवन के साधारण और व्यापक भावनाओं का चित्रण नहीं किया, वरन् असाधारण और विशेष भावनाओं का। राज्यश्री, बिम्बसार, विशाख, आस्तीक, मणिमाला, अंजना, पवन,

शांति और महात्मा ईसा इत्यादि चरित्र असाधारण भावनाओं के प्रतीक स्वरूप हैं, उनमें साधारण गुणों का आरोप नहीं है। यथार्थवादी चरित्र चित्रण और स्वच्छंदवादी चरित्र-चित्रण में केवल चित्रण के ढंग में ही अंतर है। यथार्थवादी चित्रण में नाटककार एक साधारण और सामान्य व्यक्ति-विशेष (सामान्य राजा, सामान्य पंडित, सामान्य योद्धा इत्यादि) को चुनता है और विविध घटनाओं और जीवन-प्रसंगों के द्वारा उसका यथार्थ चित्रण करता है। परंतु स्वच्छंदवादी चित्रण में नाटककार एक असाधारण चरित्र को लेकर चलता है जिसके विचार, भाव, रुचि इत्यादि साधारण मनुष्यों के भाव, विचार और रुचि से बहुत भिन्न होते हैं। नाटककार को इस असाधारण चरित्र के संबंध में पहले ही संकेत कर देना पड़ता है और फिर विविध घटनाओं और प्रसंगों में पड़कर उसकी असाधारणता अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। अस्तु, 'अजातशत्रु' नाटक में बिम्बसार एक असाधारण सम्राट है—उसकी शांतिप्रियता और आदर्शवाद सभी सम्राटों में नहीं मिलती। झगड़ा झंझट मिटाने के लिए वह अपना राज्य अपने पुत्र को देकर एकांतवास करता है। उसके विचार बड़े ही अलौकिक और दार्शनिकता से पूर्ण हैं। यथा, वह संसार का भीषण चीत्कार सुनकर विचार करता है :

यदि मैं सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किशलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस पाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।

इसी प्रकार 'राज्यश्री' नाटक में राज्यश्री एक असाधारण विचारशील और दार्शनिक प्रवृत्ति की रानी है। वह साधारण रानियों से कितनी भिन्न है। जब उसका एक सेवक कहता है कि इसी रानी के कारण सभी लोग मारे जाएँगे तब वह कहती है :

दुखी मनुष्य! तुम मरने से इतना डरते हो! भग्न हृदयों से पूछो—वे मृत्यु की कितनी सुखद कल्पना करते हैं। [राज्यश्री—पृ० ४०]

एक दूसरे दृश्य में जब दस्यु उसे जंगल में ले जाकर धन माँगते हैं तब वह कहती है :

मैं दुखी हूँ दस्यु ! तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं। इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं है, पर जीवन ? आह ! जितनी साँसें चलती हैं वे तो चलकर ही रुकेंगी। तुम मनुष्य होकर हिंस्र पशुओं को क्यों लज्जित कर रहे हो ? इस श्मशान को कुरेद कर सूखी हड्डियों के अतिरिक्त मिलेगा क्या ?   [राज्यश्री—पृ० ४५]

'प्रसाद' के प्रधान चरित्र प्रायः सभी कवि और दार्शनिक प्रकृति के हैं। उन्हें क्षमा, दया और अन्य गुणों में असीम भक्ति है, वे हिंसा. क्रूरता इत्यादि से घृणा करते हैं और दूसरों के लिए बड़ा से बड़ा त्याग करने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं। अस्तु, 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में जरत्कारु के पुत्र आस्तीक ने अपने पिता की मृत्यु के बदले जनमेजय से नागों और आर्यों के बीच शांति-स्थापन चाहा था और सरमा ने रानी वपुष्टमा के अपमानों तथा जनमेजय के सिपाहियों द्वारा उसके पुत्र के प्रति किए गए दुर्व्यवहारों के बदले राजा से नागराज तक्षक की कन्या मणिमाला से विवाह करने की प्रार्थना की थी। सुदर्शन-रचित 'अंजना' नाटक में अंजना आदर्श प्रेमिका है। पवन की माता ने उस पर झूठा दोषारोपण करके घर से निकाल दिया; स्वयं उसके माँ बाप उसे शरण न दे सके, वह अकेली जंगल में भूख प्यास सहती हुई किसी प्रकार दिन काट रही थी; परंतु इस आपत्ति-काल में भी जब उसकी सखी वसंतमाला युद्ध में निमग्न उसके पति पवन के पास उसे ले जाने का प्रयत्न करती है तो वह जाने से एकदम इनकार कर देती है। देखिए उसके शब्दों में कितनी दृढ़ता है :

वे इस समय युद्ध-भूमि में यशःप्राप्ति का काम कर रहे हैं, देश की सेवा कर रहे हैं, संसार में अपने देश का सर ऊँचा कर रहे हैं ; मैं जाकर उनके हृदय को दूसरी ओर कर दूँगी तो सारा काम चौपट हो जायगा, उनके अद्वितीय यत्न में न्यूनता आ जायगी. पराक्रम थोथा हो जायगा। मैं यह पाप कर्म नहीं कर सकती—अपने सुख पर देश और जाति के यश को निछावर नहीं कर सकती। इत्यादि

देश और जाति के यश के लिए अंजना का यह त्याग अद्भुत और अलौकिक है। सुदर्शन रचित एकांकी नाटक 'छाया' में छाया भी आदर्श प्रेमिका है और चंद्रगुप्त मौर्य के लिए उसने जो त्याग किया उसकी तुलना ही नहीं हो सकती—वह अपूर्व है।

इन नाटकों में प्रधान चरित्र आदर्शवादी तो हैं ही, महत् स्थलों पर उनकी हृदयस्पर्शी और कवित्वपूर्ण मनोहर उक्तियाँ उनके आदर्श चरित्र को और भी अतिरंजित और कवित्वपूर्ण बना देती हैं। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में जब सम्राज्ञी वपुष्टमा स्वयं आर्यकन्या होकर एक नाग से विवाह करने के कारण सरमा का अपमान करती है, तब सरमा एकदम कह उठती है :

सम्राज्ञी! मैं तो एक मनुष्य-जाति देखती हूँ—न दस्यु और न आर्य! न्याय की सर्वत्र पूजा चाहती हूँ—चाहे वह राजमंदिर में हो, या दरिद्र कुटीर में।

कितनी सुंदर उक्ति है! उसी प्रकार 'अंजना' में जब सुखदा विद्युत्प्रभ के कारागार से पवन को मुक्त कर उसे अपनी पाप-कथा सुनाती है और उसके प्रायश्चित्त-रूप में कहती है कि मैं तुम्हारे लिए—तुम्हारे प्राणों की रक्षा के लिए—अपना प्राण तक दे सकती हूँ, तब पवन आश्चर्य-चकित होकर कह उठता है :

तुम अद्भुत स्त्री हो। तुम्हारे प्रेम में जलन है, तुम्हारी घृणा में जलन है। तुम अद्भुत स्त्री हो। प्रतीकार के लिए अपनी सारी जवानी भेंट कर देना असाधारण घटना है। परंतु आँख खुलने पर उसका प्रायश्चित्त करने के लिए अपने प्राण तक निछावर करने को उद्यत हो जाना, इससे भी अधिक असाधारण घटना है। तुम अद्भुत स्त्री हो।

इन नाटकों में आदर्शवादी चरित्र-चित्रण का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष कुछ चरित्रों का आकस्मिक परिवर्तन है। प्रायः दुष्ट चरित्र किसी महात्मा के उपदेश अथवा किसी कार्य और घटना-विशेष से प्रभावित होकर अचानक सच्चरित्र बन जाते हैं। अस्तु, 'राज्यश्री' नाटक में दस्युराज विकटघोष राज्यश्री को बहुत कष्ट देता है, परंतु अंत में वह उसको क्षमा कर देती है और इस घटना से प्रभावित होकर वह दस्यु भिक्षु बन जाता है। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' नाटक में अवन्ती की षड्यन्त्रकारिणी मागंधी जो काशी में श्यामा वेश्या के रूप में रहती थी, भगवान् बुद्ध के उपदेश से अचानक सेवाकारिणी आम्रपाली के रूप में मनुष्य मात्र की सेवा करना ही अपना परम धर्म मानती है। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में

अश्वसेन जो ऋषि-पत्नी दामिनी से बलात्कार करने ही वाला था, अपनी बहन मणिमाला के उपदेश से अचानक वीर सैनिक बन जाता है और 'अजना' नाटक में षड्यन्त्रकारिणी सुखदा अचानक एक भद्र महिला बन कर अपने परम शत्रु पवन के लिए प्राण तक देने को प्रस्तुत हो जाती है। मनोविज्ञान और यथार्थ चित्रण की दृष्टि से इस प्रकार का आकस्मिक परिवर्तन बहुत ही अस्वाभाविक और अयथार्थ होता है परंतु कवित्व की दृष्टि से इस प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन में एक अद्भुत सौन्दर्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अस्वाभाविक होने के कारण यथार्थवादी नाटकों में यह एक दोष समझा जायगा, परंतु स्वच्छंदवादी नाटकों में इस प्रकार का परिवर्तन बहुत ही कवित्वपूर्ण और उपयुक्त है।

इन ऐतिहासिक नाटकों में स्वच्छंदवादी कथानक, और आदर्शवादी चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त शैली में भी अपूर्वता मिलती है। हरिश्चंद्र-स्कूल के साहित्यिक नाटकों में चरित्र तो गूँगे जान पड़ते हैं परंतु नाटककार चरित्रों के पीछे खड़े हो कर बोला करते हैं। उदाहरण के लिए भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 'श्री चंद्रावली नाटिका' लीजिए। चंद्रावली श्रीकृष्ण के वियोग में प्रतिदिन सूखती जाती है, सखी ललिता इसे समझ जाती है; वह अपनी सखी से पूछती है:

ललिता—पर सखी! एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जैसी तू इस समय दुखी है, वैसी तू सर्वदा नहीं रहती।

चंद्रावली—नहीं सखी, ऊपर से दुखी नहीं रहती, पर मेरा जी जानता है जैसी रातें बीतती हैं:

मनमोहन ते बिछुरी जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिश्चन्द जू प्रेम के फन्द परी कुल की कुल लाजहि खोवती हैं।
दुख के दिन को कोऊ भाँति बितै बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हम ही अपुनी दशा जानैं सखी! निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं।

ललिता—यह हो, पर मैंने तुझे जब देखा, तब एक ही दशा से देखा और सर्वदा तुझे अपनी आरसी वा किसी दर्पण में मुँह देखते पाया, पर यह भेद आज खुला।

हौं तो याही सोच में विचारत रही री काहे
दरपन हाथ ते न छिन बिसरत है

स्यौं ही हरिचंद जू वियोग श्रौ सँयोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात
तू तौ परम पुनीत प्रेम-पथ विचरत है,
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति ताहि
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है।

जहाँ तक कविता का संबंध है उपरोक्त सवैया और कवित्त बहुत ही सुंदर हैं परतु पूरा वार्तालाप बड़ा अस्वाभाविक जान पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि चद्रावली और ललिता रीतिकाल की कोई कवि है जो समय असमय की उपेक्षा कर केवल सुन्दर मुक्तकों की रचना करने का बहाना निकाल कर कविता पढ़ रही हैं। इनमें उक्ति-वैचित्र्य तो अवश्य है परतु नाटक के लिए जिस महाकाव्यत्व और कोमल भावनाओं की व्यजना उपयुक्त होती है वह इनमें नहीं। इसी प्रकार भट्ट-स्कूल के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में वार्तालाप के बीच छद और पद्य तो अवश्य हैं परतु उनमें भी महाकाव्यत्व और कोमल भाव-व्यंजना का अभाव है। परतु 'प्रसाद', सुदर्शन और उग्र' के स्वच्छंदवादी नाटकों में वार्तालाप और भाषण सभी स्वाभाविक और यथार्थ हैं, साथ ही उनमें महाकाव्यत्व, भाव-व्यंजना और गभीर अवसरों पर उत्कृष्ट काव्य-प्रवाह भी मिलता है। यथा, 'महात्मा ईसा' नाटक के प्रथम अक का अष्टम दृश्य लीजिए :

[शांति एक माला गूँथती और गाती है। ईसा का प्रवेश।]

ईसा—शान्ति !

शान्ति—[सकपकाती हुई] कौन ? तुम हो ईसा ! आओ।

ईसा—तुम्हारा गान भी कितना मधुर होता है शान्ति ! सुनने वालों की हृत्तंत्रियाँ बज उठती हैं और धमनियों में सोमरस की सी मादकता अधिकार जमा लेती है।

शान्ति—ईश !

ईसा—शान्ति, तुमने मुझे देख कर अपना गाना क्यों बन्द कर लिया ? देखती हो, तुम्हारे पाले हुए मृग-शावक मेरी ओर कैसी क्रोधपूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। मानो मैंने उनका कोई सुख छीन लिया है। आम वृक्ष पर बैठी हुई मौन कोकिला मुझे देखते ही बोल उठी—मानो कहती है

कि इस समय चले जाओ। मेरे आनन्द के बाधक न बनो। मयूर जो अभी तक तुम्हारे गान पर मुग्ध होकर नाच रहे थे, अब अपने सहस्र-नील-चन्द्राङ्कित-पक्ष को समेट कर उदास खड़े हैं। इस समय यहाँ पर आकर मैंने बहुतों को कष्ट दिया है। इत्यादि

इस सभाषण में महाकाव्यत्व है कविता है और है चरित्र को अतिरंजन करने की शक्ति। उसी नाटक में जब ईसा क्रास पर चढ़ाया जा रहा था, शांति उत्तेजित-सी वहाँ आकर कहने लगती है :

ठहरो! अत्याचार के बादलो! सूर्यास्त के पहले कमलों को अपने मित्र की पवित्र मूर्ति आँख भर देख लेने दो, नहीं तो उनके दुखी हृदय से प्रचंड वायु की तरह शोकोच्छ्वास निकलेगा और तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। ठहरो! क्रूरता की अग्नि शिखाओ! किसी ग़रीब का सर्वस्व-भस्मसात् करने के पहले उसे अपनी निधि निरीक्षण कर लेने दो, नहीं तो उसकी आँखों से वह जल-प्रपात प्रकट होगा जिससे तुम्हारा अस्तित्व तक लुप्त हो जायगा। इत्यादि

'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में भी इस प्रकार के कवित्वपूर्ण अतिरंजित भावव्यंजक स्थलों की कमी नहीं है।

कवित्वपूर्ण शैली के अतिरिक्त इन नाटकों का समस्त वातावरण ही काव्यमय है। इन नाटकों में महत् चरित्रों और स्थलों की योजना करके ही नाटककार को संतोष नहीं हुआ, उसने स्थल-स्थल पर संगीत की भी अवतारणा की है और किसी-किसी नाटक में तो किसी कवि अथवा संगीतप्रिय चरित्र की भी व्यवस्था कर दी गई है जिससे बीच-बीच में काव्य और संगीत का आनंद मिलता रहता है। 'अजातशत्रु' की मागंधी बहुत ही संगीतप्रिय है और समय-समय पर गाना गाती रहती है। इसके अतिरिक्त इन ऐतिहासिक नाटकों में एक और संगीत मिलता है—वह है हमारी प्राचीन संस्कृति का संगीत। 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'अजना इत्यादि नाटकों में हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का एक संगीतमय इतिहास मिलता है। सारांश यह है कि प्रसाद-स्कूल के ऐतिहासिक नाटकों में काव्यमय नाटकों का चरम विकास मिलता है—इनका कथानक महत् है, चरित्र सभी दार्शनिक, कवि और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। सच बात तो यह है कि इन नाटकों में हिन्दी-नाट्य-कला का चरम विकास हुआ है

(४) सामयिक उपादानों पर रचित नाटक

कुछ नाटककारों ने सामयिक सामग्री लेकर भी नाटक लिखे, परन्तु ऐसे नाटकों की संख्या १९२५ तक बहुत ही कम है। जब हम इस काल की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक आंदोलनों पर दृष्टि डालते हैं तो जान पड़ता है कि इस प्रकार के नाटकों की संख्या बहुत अधिक होनी चाहिए। परंतु हुआ इसके ठीक विपरीत। इसका कारण जनता की रुचि है। गोपाल दामोदर तामस्कर 'राजा दिलीप नाटक' की भूमिका में लिखते हैं

> **लोक-रुचि के परिशीलन से जान पड़ा कि लोग पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथाओं को मानवी मन का सच्चा चित्र समझते हैं काल्पनिक कथा को वे मन का भी काल्पनिक चित्र समझते हैं।**
>
> [प्रस्तावना, पृ० १]

इसलिए सामाजिक, धार्मिक आदि विषयों से संबंध रखने वाले नाटकों का बिल्कुल प्रचार नहीं हुआ, यद्यपि पौराणिक नाटकों के साथ ही साथ इस प्रकार के नाटकों का भी प्रारंभ हुआ था। आगा हश्र काश्मीरी ने नाटकों में दो स्वतंत्र कथानक रखने की प्रणाली चलाई जिसमें एक गंभीर कथानक पुराणों से लिया गया होता और दूसरा प्राय: हास्यपूर्ण सामाजिक कथानक हुआ करता जिसमें सामाजिक कुरीतियों का व्यंग्यात्मक चित्रण होता था। यद्यपि ये नाटक केवल प्रहसन मात्र होते थे और कई दृश्यों में ही समाप्त हो जाते थे, फिर भी जनता गंभीर कथानकों से अधिक इन्हीं प्रहसनों को पसंद करती थी। इस प्रकार प्रहसनों के रूप में सामाजिक नाटकों का प्रारंभ होता है।

ये हास्य व्यंग्यपूर्ण कथानक गंभीर कथानकों के हृदय-विदारक दृश्यों के पश्चात् 'रिलीफ़'—भाव-विश्राम के लिए जोड़े जाते थे। साधारणतः इनमें ब्राह्मण और उनके शास्त्र, साधु और उनके नीच व्यवहार और व्यभिचार-प्रवृत्ति, वेश्याएँ और उनकी बेवफाई, वकील और उनके धनोपार्जन के घृणित नियम, रायबहादुर और आनरेरी मजिस्ट्रेट तथा नए फैशन के शिकार हमारे नवयुवक और नवयुवतियों के प्रति हास्य और व्यंग्य की व्यंजना होती था। कभी-कभी डाक्टर, वैद्य और ज्योतिषियों पर भी व्यंग्य किया जाता था। ये प्रहसन बहुत छोटे होते थे और नाटकत्व की दृष्टि से न उनमें समुचित कथा-वैचित्र्य और सौन्दर्य होता न चरित्रों का चित्रण, केवल अतिनाटकीय प्रसंगों और दृश्यों तथा हास्य व्यंग्यपूर्ण संलापों की भरमार रहती। उनका हास्य और व्यंग्य

भी सुरुचिपूर्ण न था, वरन् अतिनाटकीय और भद्दा था। नाटकों के इतिहास में इन छोटे-छोटे प्रहसनों का कोई महत्त्व और मूल्य नहीं, परंतु इनसे एक लाभ अवश्य हुआ कि इन्होंने आगे के लिए सामाजिक नाटकों का रास्ता साफ कर दिया और जनता को उनके लिए पहले ही से तैयार करा दिया जिससे कि आगे चलकर सामाजिक नाटकों की स्वतंत्र रचनाएँ हो सकीं।

सामयिक सामग्री के आधार पर नाटकों का वास्तविक प्रारंभ जी० पी० श्रीवास्तव और राधेश्याम कथावाचक के नाटकों से होता है। जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के नाटकों के हिन्दी अनुवाद और रूपांतर से प्रारंभ किया और थोड़े ही समय में लगभग दस नाटक रूपांतरित किए जिनमें 'मार मार कर हकीम' और 'साहब बहादुर उर्फ चड्ढा गुलखैरू' बहुत प्रसिद्ध हैं। पहले नाटक का एक और रूपांतर लक्ष्मीप्रसाद पांडेय ने 'ठोंक पीट कर वैद्य-राज' के नाम से किया। 'साहब बहादुर उर्फ चड्ढा गुलखैरू' एक मौलिक नाटक की तरह जान पड़ता है। हजामत बेग की मूर्खता और फैशन-प्रियता अद्भुत है। नाटक आदि से अंत तक हास्य से भरा है और हास्य भी सुरुचिपूर्ण और शुद्ध है।

अनुवाद और रूपांतर के अतिरिक्त जी० पी० श्रीवास्तव ने मौलिक हास्य-रसपूर्ण नाटक भी लिखे जिनमें 'मरदानी औरत', 'नोक-झोंक', 'उलट फेर' और एकांकी प्रहसनों का संग्रह 'दुमदार आदमी' कई बार अभिनीत हो चुके हैं। बेचन शर्मा 'उग्र' का 'उजबक' और 'चार बेचारे', बदरीनाथ भट्ट का 'चुंगी की उम्मेदवारी' 'विवाह-विज्ञापन' और 'लबड़धोंधों', राधेश्याम मिश्र का 'कौंसिल की मेम्बरी' और सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' भी सुंदर हास्यरसपूर्ण नाटक हैं। इन नाटकों में हास्य उत्पन्न करने के लिए कई ढंगों का प्रयोग हुआ है। पहला ढंग तो भाषा की हास्यमय शैली है। शब्द ऐसे चुन-चुन कर रखे गए हैं और उन शब्दों का क्रम इस प्रकार का है कि उन्हें सुनते ही हँसी आती है। उदाहरण के लिए 'मार मार कर हकीम' में प्रथम दृश्य देखिए—टर्रे खाँ अपनी स्त्री से कह रहे हैं :

टर्रे खाँ—बस मैंने कह दिया। न ज्यादे बक बक, न झक झक। जो कुछ कहूँ, तुम्हे चुपके से सुन दबा के करना पड़ेगा। सुना? हुक्म देना मेरा काम है और काम करना तेरा। इत्यादि

अथवा 'लबड़धोंधों' में 'पुराने हाकिम का नया नौकर' से एक दृश्य लीजिए :

हाकिम—तू अच्छी तरह नौकरी बजा सकेगा ?

नौकर—क्या घंटा बजाने की नौकरी है ? हजूर, मेरा क्या जाता है, आप कहेंगे तो दिन रात घंटे बजाया करूँगा।

हाकिम—अबे बेवकूफ़ !

नौकर—(आप ही आप) एक सारटीफिटक् तो मिला।

हाकिम—घंटा-वंटा कुछ नहीं, तू सब काम सँभाल लेगा ?

नौकर—जी हाँ, क्यों नहीं। मैं क्या आदमी नहीं हूँ ? आदमी का काम आदमी न सँभालेगा तो क्या जानवर सँभालेंगे। इत्यादि

इसमें शैली इस प्रकार की है कि हँसी आए बिना नहीं रहती। कभी-कभी गँवारों की गँवारू बोली से भी हास्य की सृष्टि की जाती है। मिश्रबंधु-रचित 'पूर्व भारत' में इसी ढंग से हास्य की सृष्टि की गई है। 'मरदानी औरत' से एक दृश्य लीजिए :

गदबद—जी हजूर ! अरे रमचोरवा ! ओ रमचोरवा !

[रमचोरवा का आना]

रमचोरवा—का होय हो ! अबते आवत मूड़े पर आसमान उठाय लेत हैं। भीतर अलगे कुहराम मचा है। बाहर ई जान खाए आए हैं।

गदबद—अबे चुप, देखता नहीं, राजा साहब आए हैं। चल कुर्सी ला।

रमचो०—अरे ई बौकल राजा साहब होयँ।

गदबद—हाँ, मगर तमीज से बातें कर।

रमचो०—तबै बौलर बन्दर अहहैं। मुला ई गदहा अस तो फूला हैं, कसस कुरसिया माँ धँसिएँ। इत्यादि [पृ०—१०७]

कभी-कभी कुछ आदमियों की कुछ विशेष आदतों के द्वारा भी हास्य की सृष्टि की जाती है, जैसे 'मरदानी औरत' में संपादक बटाधार 'स' के स्थान पर 'श' उच्चारण करते हैं। जब पेटूलाल आश्चर्य से उनसे पूछता है

तुम तो कुछ पढ़े नहीं हो। ख़त तक लिखना नहीं जानते हो।

तब बटाधार उत्तर देते हैं :

तभी तो शम्पादक बन गए। लेखक बनते तो लेख लिखना पड़ता, कबि बनते तो कविता करनी पड़ती और शम्पादक बनने में मज़े शे बैठे बैठे

धन लूटकर तोंद फुलानी पड़ती है, और यों मुग्ध के साहित्य के सपूत कहलाते हैं। जब से सम्पादक बने हैं तब से साढ़े सत्रह इंच तोंद बढ़ गई है। चाहे नाप के देख लो। इत्यादि

'उजबक' प्रहसन में छायावादी कवि लंठ सर्वदा मुक्त छंद में बोलता है, बातचीत करता है और संठ ब्रजभाषा छंदों में। वे दोनों अपने झगड़े का फैसला कराने कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है 'उजबक'-संपादक के पास जाते हैं। जरा दोनों की बातें सुन लीजिए :

लंठ— मेरा कहना है ब्रजभाषा मोस्ट रद्दी है
सातवीं की गद्दी है,
नूतनता मौलिकता हीन है,
दीन, अनवीन है।
और स्वच्छंद मेरा राग घट बढ़ है—
छन्द जो रबड़ है।
बोल्ड ब्रजभाषा में कलंक है, सुलंक है,
डर्टी पर्यंक है.
कामिनी है, कुच है, कलिन्दी का किनारा है,
तेरहीं सदी की गयबकी की गन्दी धारा है।

× × × ×

संठ— [लंठ को ललकार कर]
रुको! रुको! मत क्रोध दिखाओ,
झुको! झुको! मत बात बढ़ाओ।
अब मत राग बेसुरा गाओ,
ससुर बनो सुर को अपनाओ। इत्यादि

यहाँ हास्यरस की सृष्टि इन दोनों छायावादी और ब्रजभाषा कवियों की विचित्र आदत—सर्वदा पद्य में बात करने की आदत—से हुई। कभी-कभी किसी विशेष प्रकार के व्यक्तियों के व्यंग्यपूर्ण चित्रण से भी हास्य की अवतारणा होती है। 'मरदानी औरत' में समालोचक पक्षपातीलाल मूर्खानन्द एक इसी प्रकार का चरित्र है। उसका चित्रण देखिए :

[समालोचक पक्षपातीलाल मूर्खानन्द का मुँह सिकोड़े हुए आना।]

[हुलिया—कुरूप, काना, बदन लकवा मारे ।]

गड़बड़—धत् तेरी मनहूस की । कहाँ से सामने आगया । अब नाटम्मेत्री नज़र आती है । मगर वाह ! वाह ! यह मचक देखिये । एक-एक क़दम पर सारा बदन छेहरार बल खाता है ।

× × × ×

गड़बड़—हो देखता तो हूँ दुनिया भर के ऐबों से भरे मालूम होते हो ।

पक्ष०— तभी तो समालोचक हुए । जब तक अपने में ऐब न होंगे, दूसरों में क्या ख़ाक ऐब निकालेंगे ?

गड़बड़— अच्छा तो आप ऐब ही ऐब देखते हैं और गुण ?

पक्ष०—गुण कैसे दिखाई पड़े जी ! गुण को देखने वाली आँख तो फोड़वा वाली है । ऐब वाली रख छोड़ी है । देखते नहीं काने हैं । इत्यादि [पृ०—११७—११८]

परतु अधिकतर अतिनाटकीय प्रसगों और दृश्यों द्वारा ही हास्य की व्यजना की गई है । जी० पी० श्रीवास्तव ने इस रीति का सबसे अधिक उपयोग किया है । अस्तु, 'मरदानी औरत' में संपादक बटाधार नीलाम करने वालों की दृष्टि से बचने के लिए एक बोरे के अदर बद हो जाते हैं । बोरा सुखिया के दिखा देने पर एक सौ रुपये पर नीलाम हो जाता है । खरीदने वाला जब बोरा खोलता है तब बंटाधार निकल पड़ते हैं और उन पर बेभाव की मार पड़ती है । इसी प्रकार एक अन्य दृश्य में बटाधार और पेटूलाल की तोंद आपस में टकरा जाती है । यथा, द्वितीय अंक के द्वितीय दृश्य में देखिए :

बंटाधार—अरे बाप रे बाप ! तोंद फूट गई ।
पेटूलाल—अररररर ! मालगाड़ी लड़ गई ।
बंटाधार—अरे कौन चूरन वाले ? अरे यह कौन सा रोग हो गया है तुम्हें ? बदन भर में गर्भ ही गर्भ । इत्यादि

इस प्रकार के प्रसगों और दृश्यों से हास्य की सृष्टि तो अवश्य की जा सकती है परतु 'रस' का आनद नहीं मिल सकता । यों तो गुदगुदा कर भी हँसाया जा सकता है परतु वह हँसी वास्तविक हँसी नहीं होगी । उपरोक्त ढग से जिस हास्य की सृष्टि होती है वह गुदगुदा कर हँसाने के ही समान है । जी० पी० श्रीवास्तव ने इसी प्रकार अनेक रीतियों से हँसी उत्पन्न करने

की चेष्टा की है जिसमें किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से स्थान-परिवर्तन, छिप कर अपनी ही निंदा सुनना, किसी व्यक्ति को दूसरा कोई समझ कर उससे अद्भुत व्यवहार करना इत्यादि मुख्य हैं। इस प्रकार हास्य बहुत ही निम्नश्रेणी का हास्य है। वास्तविक हास्य हास्यमय प्रसगों की सृष्टि करने मे है जो हिन्दी में बहुत ही कम मिलता है। बदरीनाथ भट्ट के 'विवाह-विज्ञापन' और 'लबड्धोंधों' में इस प्रकार के कई सुदर प्रसंग मिलते हैं। 'उग्र' और बदरीनाथ भट्ट का हास्य अधिक उच्च कोटि का है। परंतु इन दोनों नाटककारों ने हास्य-पूर्ण नाटक बहुत ही कम लिखे। जी० पी० श्रीवास्तव ने अनेक प्रहसन और हास्य-व्यग्यमय नाटक लिखे जिनका जनता में खूब प्रचार हुआ, परतु रस और कला की दृष्टि से वे बहुत ही निम्न कोटि की रचनाएँ हैं।

इन हास्यपूर्ण नाटकों के अतिरिक्त सामयिक सामग्री पर कुछ गभीर नाटक भी लिखे गए जिनमें मिश्रबंधु का 'नेत्रोन्मीलन', राधेश्याम कथावाचक का 'परिवर्तन', जमुनादास मेहरा का 'पाप-परिणाम', आग़ा हश्र काश्मीरी की 'पतिभक्ति', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुर मिलन', प्रेमचंद का 'सग्राम' और लक्ष्मणसिंह का 'गुलामी का नशा' प्रसिद्ध हैं। 'परिवर्तन' जो १९४१ में लिखा गया था, परतु पहली बार १९२५ में अभिनीत हुआ, 'पाप-परिणाम', 'पति-भक्ति' और 'मधुर मिलन' जो १९२० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर कलकत्ता में खेला गया था, सामाजिक नाटक हैं। वेश्याओं की बेवफाई और धर्मपत्नी के पातिव्रत धर्म और अटल भक्ति की समता और विषमता ही इन नाटकों का मुख्य विषय है। इन सभी नाटकों का कथानक लगभग एक-सा ही है—नायक अपनी पत्नी का त्याग करके किसी वेश्या अथवा पतिता स्त्री से प्रेम करने लगता है और इस प्रकार अपनी सारी सपत्ति नष्ट करके दुख उठाता है और अत में अपनी पत्नी के पातिव्रत धर्म के बल से सँभल जाता है और अपने अतीत जीवन के लिए पश्चात्ताप करता हुआ घर लौट आता है और सुखपूर्वक जीवन बिताता है। 'सग्राम' का कथानक भी बहुत कुछ इन्हीं सामाजिक नाटकों से मिलता जुलता है, अतर केवल इतना ही है कि इस नाटक का वातावरण और प्रेमकथा की रंगभूमि गाँव के किसानों के बीच में है। इन सब नाटकों में 'पाप-परिणाम' का सबसे अधिक प्रचार हुआ और चार वर्ष के भीतर ही इसके तीन संस्करण प्रकाशित हुए। इस नाटक पर बंगला के प्रसिद्ध नाटककार गिरीश घोष के '[illegible]' अथवा आदर्श महिला-की छाप बहुत ही स्पष्ट है। नाटक का नायक कालिदास अपने स्वार्थी और

झूठे मित्र मनोरजन की चिकनी चुपड़ी बातों मे पड़कर रज़िया नामक एक वेश्या के प्रेम में फँस जाता है। उसी के लिए वह अपने पिता को विष देकर मार डालता है और उसे अपनी सारी सपत्ति भेंट कर देता है परन्तु अंत में रज़िया उसे अपने घर से निकाल देती है। अपनी पतिव्रता पत्नी के प्रयत्नों से उसकी आँख खुलती है और वह एक भला आदमी बन जाता है। उसकी बहन कमला, जिसका विवाह एक नववयस्क बालक मदन मे हुआ है, अपने एक पड़ोसी हरिकिशोर से प्रेम करने लगती है। एक और मनुष्य हीरा-लाल भी कमला से प्रेम करने लगता है। हरिकिशोर मदन की हत्या करके काँटा निकाल देना चाहता है, परतु कालिदास अपने नौकर जीवन और सच्चे मित्र दुर्गादास की सहायता से ठीक समय पर पहुँचकर मदन की रक्षा करता है और हरिकिशोर को बदी बनाता है। इन सामाजिक नाटकों का वातावरण यथार्थवादी है और उनके चरित्र सभी यथार्थ और सच्चे हैं। इन नाटकों में समाज की अनेक कुरीतियों पर प्रकाश डाला गया है और उनके दुष्परिणामों का अतिशयोक्तिपूर्ण सुदर चित्र खींचा गया है।

'नेत्रोन्मीलन' में अदालत और मुक़दमेबाज़ों का सुदर चित्रण मिलता है। 'ग़ुलामी का नशा', 'भारत-दर्पण या क़ौमी तलवार', 'भारतवर्ष' इत्यादि नाटक राजनीतिक हैं जिनमें भारत की परतन्त्रता और स्वतत्र होने के लिए सत्याग्रह-संग्राम के आधार पर कथानकों की सृष्टि हुई है। इनमें भी सामाजिक नाटकों की भाँति यथार्थ वातावरण और यथार्थ चरित्र-चित्रण मिलता है।

सामयिक उपादानों के आधार पर लिखे गए यथार्थवादी नाटक कला की दृष्टि से बहुत ही हीन हैं। उनकी यथार्थवादिता ही उनकी दुर्बलता है। यथार्थ-वादी नाटकों में नाटककार एक सामान्य चरित्र लेकर प्रतिदिन के जीवन का यथार्थ चित्र खींचने का प्रयत्न करता है। उनमें पद पद पर यथार्थ जीवन के अनुकरण की धुन में जीवन के अनावश्यक पक्षों के चित्रण की आशका सर्वदा बनी रहती है। उनमें कवित्वपूर्ण भावों और कल्पनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रहता और कोमल उद्‌गारों तथा महत् क्षणों के लिए उपयुक्त अवसर नहीं होता। यथार्थवादी नाटकों को प्रभावपूर्ण, शक्तिशाली और आकर्षक बनाने के लिए एक अत्यत आवश्यक बात अर्थत्व अथवा लाक्षणिकता (Significance) है। लाक्षणिकता—गभीर लाक्षणिकता—हम लोगों को उतना ही प्रभावित करती है जितना कोई कवित्वपूर्ण भाव अथवा रोमाच-कारी प्रसंग। लाक्षणिकता से रहित यथार्थवादी नाटक इतना ही गद्यात्मक

(Prosaic) और प्रभावहीन होता है जितना कवित्वपूर्ण भावों यथा कोमल उद्गारों से रहित आदर्शवादी नाटक। इन सामाजिक और राजनीतिक नाटकों में शक्तिशाली तथा गभीर लाक्षणिकता का नितात अभाव मिलता है, क्योंकि उनके रचियता ऐसे शक्तिपूर्ण चरित्रों का चित्रण नहीं कर सके जिनके दुर्भाग्य पर हमारी आँखों से आँसू बह निकलें, जिनके सौभाग्य पर हम हर्ष से उछल पड़ें। अधिक से अधिक वे तुच्छ और साधारण चरित्रों का ही चित्रण कर सके हैं, जिनके दुखों को हम अपना दुख नहीं समझते, जिनके सुख में हम सुखी नहीं होते।

(५) प्रतीकवादी नाटक

हिन्दी में उपरोक्त मुख्य चार प्रकार के नाटक मिलते हैं। किन्तु एक प्रकार का नाटक और भी मिलता है जिसे हम प्रतीकवादी नाटक कह सकते हैं। प्रतीकवादी नाटक भारत में प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। 'प्रबोध-चंद्रोदय' इसी प्रकार का एक संस्कृत नाटक है जो बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। हिन्दी में केशव का 'विज्ञानगीता' और देव का 'देव माया-प्रपच' इसी श्रेणी के नाटक हैं।

साधारणतः नाटकों में प्रतीक दो रूप में आ सकते हैं। प्रथम प्रतीक के दर्शन हमें 'उत्तर रामचरित' के तमसा और मुरला पात्रियों में मिलते हैं जहाँ पर प्रकृति के अंग-विशेष मानव रूप में प्रतीक-स्वरूप उपस्थित किए गए हैं। तमसा और मुरला दो नदियाँ हैं जो स्त्री रूप में आई हैं। वे बाहर, भीतर, सब तरह से स्त्रियाँ हैं और सीता पर माता के समान स्नेह रखती हैं। सुमित्रा-नंदन पंत रचित 'ज्योत्स्ना' में भी इसी प्रकार का प्रतीकवाद मिलता है जहाँ नदी, छाया, तारा, जुगनू, लहर इत्यादि स्त्री रूप में उपस्थित किए गए हैं। इस प्रतीकवादी के मूल में एक आध्यात्मिक तत्व छिपा हुआ है। सभी स्थानों में, प्रकृति की सभी वस्तुओं में, ईश्वर की शक्ति निहित है और उसी शक्ति का मानवीकरण इस प्रकार का प्रतीकवाद है। इस प्रकार का प्रतीकवाद नाटकों के उपयुक्त नहीं है वरन् कविता में ही इसकी सार्थकता है। परन्तु दूसरे प्रकार का प्रतीकवाद जो 'प्रसाद' की 'कामना' और शानदत्त सिंह के 'मायावी' में मिलता है, नाटकों के लिए सर्वथा उपयुक्त है। 'प्रबोध-चंद्रोदय' और रवीन्द्र-नाथ के नाटकों -'किंग आव दी डार्क चैम्बर (King of the Dark Chamber) और 'साइकिल आव द स्प्रिंग' Cycle of the Spring)- में भी इसी प्रकार का प्रतीकवाद मिलता है। 'कामना' में संतोष,

विवेक, विलास और विनोद इत्यादि पुरुष पात्र और कामना, लालसा, लीला और करुण इत्यादि स्त्री पात्र हैं। ये सभी चरित्र लेखक के मस्तिष्क की उपज हैं। संसार में ऐसे चरित्र नहीं मिलते परन्तु इनकी प्रकृति, इनके कार्य, इनके विचार और इनकी भावनाएँ सभी काल में सभी मनुष्यों में मिल सकती हैं। ये किसी व्यक्ति-विशेष के अनुकरण नहीं हैं, न किसी काल के किसी महापुरुष के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं, किन्तु फिर भी ये अमर हैं, अनंत हैं, ये प्रत्येक काल और प्रत्येक देश के लिए सत्य हैं, ये समय और स्थान की सीमा पार करके चिरंतन हो गए हैं। इस का कारण यह है कि इनमें मनुष्य मात्र की भावनाएँ निहित हैं, ये जाति और युग के प्रतिनिधि हैं, मनुष्य जाति का अनंत विभूतियों के द्योतक हैं।

नाटक में एक संघर्ष होता है। वह संघर्ष चाहे बाह्य हो, चाहे अंतरंग, परंतु बिना संघर्ष के वास्तविक नाटक की रचना नहीं हो सकती। सभी प्रसिद्ध नाटकों में यह संघर्ष मिलता है। कोई पात्र बाह्य परिस्थितयों से लड़ रहा है, कोई समाज से उलझ रहा है, तो कोई अपने ही विचारों से उलझ रहा है परंतु एक संघर्ष और है जो प्रायः अदृश्य में हुआ करता है, वह संघर्ष है धर्म अधर्म का, सत्य असत्य का, पाप पुण्य का। इस अदृश्य संघर्ष को दृश्यमान करने के लिए दृश्य-काव्यों की रचना ही द्वितीय प्रकार के प्रतीक-वादी नाटकों की कला है। 'कामना' में हमें यही मिलता है। पुष्प द्वीप के नक्षत्र-संतान सभी पवित्र और धार्मिक हैं, उनमें स्वार्थ नहीं, द्वेष नहीं, संघर्ष नहीं सभी सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। सहसा एक दिन एक विदेशी विलास अपने दो साथियों कंचन और कादम्ब के साथ इस द्वीप में आ जाता है। उसके पास बहुत सा सोना है। कामना सोने के लोभ से विलास से प्रेम करने लगती है और द्वीप-निवासी कंचन और कादम्ब के पीछे पागल होकर दौड़ते हैं। फल यह होता है कि ईर्ष्या, द्वेष बढ़ता है और अपराधों की वृद्धि होती है। स्वार्थ, द्वेष और ईर्ष्या के कारण लोग एक दूसरे की हत्या तक करते हैं। फिर पुलिस अदालत इत्यादि की व्यवस्था होती है। परंतु शांति स्थापन का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, उतनी ही अशांति बढ़ती है। इसमें नाटक-कार ने पूर्वी सभ्यता की आत्मिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता की भौतिक उन्नति का संघर्ष चित्रित किया है। वह संघर्ष आज का नहीं है, वरन् अनादि काल से चला आ रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। ज्ञानदत्त सिद्ध रचित 'मायावी' नाटक में एक ओर कला, विद्या, बुद्धि, रमा और दूसरी ओर

फैशन, शराब, व्यभिचार इत्यादि के बीच जो संघर्ष चल रहा है उसका नाटक-रूप में चित्रण मिलता है।

इन नाटकों के चरित्र हमें वास्तविक जीवन में नहीं मिलते, इसलिए साधारण जनता के लिए इन चरितों का कुछ भी मूल्य और महत्त्व नहीं। परंतु बुद्धिमान् और मेधावी व्यक्तियों के लिए कामना इत्यादि चरित्र वास्तविक जीवन के प्रतिकृति रूप चरितों तथा ऐतिहासिक और पौराणिक महापुरुषों से भी अधिक सजीव और सत्य हैं, क्योंकि ये सभी काल और सभी देशों के लिए सत्य हैं। साधारण चरितों के कार्यों और भावों से इनके कार्य और भाव अधिक प्रभावशाली, अधिक पवित्र और अधिक सत्य हैं। हिन्दी में प्रतीकवादी नाटक इने गिने हैं जिनमें 'कामना' ही एक सफल प्रयास है।

विशेष

हिन्दी का नाटक साहित्य तीन विभिन्न धाराओं में होकर बहा है। पहली धारा थिएटरों की है जो पारसी थिएटर से प्रारंभ होकर टाकीज़ के उदय से पहले तक अटूट प्रवाह में चली आई। पारसी थिएटरों के अतिरिक्त और भी कितने क्लब, कंपनियाँ और नाटक-मंडलियाँ खुलीं जिनका मुख्य ध्येय पारसी कंपनियों की ही भाँति जनता का मनोरंजन करना था, नाट्य-कला के विकास की ओर उनका ध्यान न था। दूसरी धारा उन साहित्यिक नाटकों की थी जिन पर अप्रयत्न पारसी नाटकों का प्रभाव पड़ रहा था। यद्यपि उसके लेखक पारसी नाटकों से घृणा करते थे, फिर भी वे उनके प्रभाव से न बच सके। इन नाटकों का वातावरण अधिक संस्कृत और श्लील होता था। तीसरी धारा उन शुद्ध साहित्यिक नाटकों की थी जो जनता की रुचि की बिल्कुल उपेक्षा करते रहे। उनका ध्यान सर्वदा कला की ओर ही रहा। कवित्वपूर्ण आदर्शवादी चरित्र-चित्रण, कवित्वपूर्ण गंभीर भाषा-शैली और मिश्र तथा जटिल कथानक इनकी विशेषता थी। ये नाटक अध्ययन-योग्य शुद्ध साहित्यिक हैं, रंगमंच पर अभिनय-योग्य नहीं।

परंतु इन तीन धाराओं के रहते हुए भी हिन्दी में वास्तविक नाट्य-कला—वह नाट्य-कला जिसमें रंगमंचीय नाटकों के मनोरंजन, उत्सुकता और आनंद, तथा साहित्यिक नाटकों के कवित्व और प्रभावशाली चरित्र-चित्रण दोनों का सुंदर सम्मिश्रण और सामंजस्य हो—का विकास नहीं हो सका। पारसी कंपनियों ने नाटकों में वे सभी वस्तुएँ उपस्थित कीं जिन्हें जनता चाहती है, जिन पर

विवेक, विलास और विनोद इत्यादि पुरुष पात्र और कामना, लालसा, लीला और करुण इत्यादि स्त्री पात्र हैं। ये सभी चरित्र लेखक के मस्तिष्क की उपज हैं। संसार में ऐसे चरित्र नहीं मिलते परन्तु इनकी प्रकृति, इनके कार्य, इनके विचार और इनकी भावनाएँ सभी काल में सभी मनुष्यों में मिल सकती हैं। ये किसी व्यक्ति-विशेष के अनुकरण नहीं हैं, न किसी काल के किसी महापुरुष के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं, किन्तु फिर भी ये अमर हैं, अनंत हैं, ये प्रत्येक काल और प्रत्येक देश के लिए सत्य हैं, ये समय और स्थान की सीमा पार करके चिरंतन हो गए हैं। इस का कारण यह है कि इनमें मनुष्य मात्र की भावनाएँ निहित हैं, ये जाति और युग के प्रतिनिधि हैं, मनुष्य-जाति की अनंत विभूतियों के द्योतक हैं।

नाटक में एक संघर्ष होता है। वह संघर्ष चाहे बाह्य हो, चाहे अंतरंग; परंतु बिना संघर्ष के वास्तविक नाटक की रचना नहीं हो सकती। सभी प्रसिद्ध नाटकों में यह संघर्ष मिलता है। कोई पात्र बाह्य परिस्थितियों से लड़ रहा है, कोई समाज से उलझ रहा है, तो कोई अपने ही विचारों से उलझ रहा है परंतु एक संघर्ष और है जो प्रायः अदृश्य में हुआ करता है, वह संघर्ष है धर्म अधर्म का, सत्य असत्य का, पाप पुण्य का। इस अदृश्य संघर्ष को दृश्यमान करने के लिए दृश्य काव्यों की रचना ही द्वितीय प्रकार के प्रतीकवादी नाटकों की कला है। 'कामना' में हमें यही मिलता है। पुष्प द्वीप के नक्षत्र-संतान सभी पवित्र और धार्मिक हैं, उनमें स्वार्थ नहीं, द्वेष नहीं, संघर्ष नहीं सभी सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। सहसा एक दिन एक विदेशी विलास अपने दो साथियों कंचन और कादम्ब के साथ इस द्वीप में आ जाता है। उसके पास बहुत सा सोना है। कामना सोने के लोभ से विलास से प्रेम करने लगती है और द्वीप-निवासी कंचन और कादम्ब के पीछे पागल होकर दौड़ते हैं। फल यह होता है कि ईर्ष्या, द्वेष बढ़ता है और अपराधों की वृद्धि होती है। स्वार्थ, द्वेष और ईर्ष्या के कारण लोग एक दूसरे की हत्या तक करते हैं। फिर पुलिस अदालत इत्यादि की व्यवस्था होती है। परन्तु शांति स्थापन का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, उतनी ही अशांति बढ़ती है। इसमें नाटककार ने पूर्वी सभ्यता की आत्मिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता की भौतिक उन्नति का संघर्ष चित्रित किया है। वह संघर्ष आज का नहीं है, वरन् अनादि काल से चला आ रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। ज्ञानदत्त सिद्ध रचित 'मायावी' नाटक में एक ओर कला, विद्या, बुद्धि, रमा और दूसरी ओर

फैशन, शराब, व्यभिचार इत्यादि के बीच जो संघर्ष चल रहा है उसका नाटक-रूप में चित्रण मिलता है।

इन नाटकों के चरित्र हमें वास्तविक जीवन में नहीं मिलते, इसलिए साधारण जनता के लिए इन चरितों का कुछ भी मूल्य और महत्त्व नहीं। परंतु बुद्धिमान् और मेधावी व्यक्तियों के लिए कामना इत्यादि चरित्र वास्तविक जीवन के प्रतिकृति रूप चरितों तथा ऐतिहासिक और पौराणिक महापुरुषों से भी अधिक सजीव और सत्य हैं, क्योंकि ये सभी काल और सभी देशों के लिए सत्य हैं। साधारण चरितों के कार्यों और भावों से इनके कार्य और भाव अधिक प्रभावशाली, अधिक पवित्र और अधिक सत्य हैं। हिन्दी में प्रतीकवादी नाटक इने गिने हैं जिनमें 'कामना' ही एक सफल प्रयास है।

विशेष

हिन्दी का नाटक साहित्य तीन विभिन्न धाराओं में होकर बहा है। पहली धारा थिएटरों की है जो पारसी थिएटर से प्रारंभ होकर टाकीज़ के उदय से पहले तक अटूट प्रवाह में चली आई। पारसी थिएटरों के अतिरिक्त और भी कितने क्लब, कंपनियाँ और नाटक-मंडलियाँ खुलीं जिनका मुख्य ध्येय पारसी कंपनियों की ही भाँति जनता का मनोरंजन करना था, नाट्य-कला के विकास की ओर उनका ध्यान न था। दूसरी धारा उन साहित्यिक नाटकों की थी जिन पर अप्रयत्न पारसी नाटकों का प्रभाव पड़ रहा था। यद्यपि उसके लेखक पारसी नाटकों से घृणा करते थे, फिर भी वे उनके प्रभाव से न बच सके। इन नाटकों का वातावरण अधिक संस्कृत और श्लील होता था। तीसरी धारा उन शुद्ध साहित्यिक नाटकों की थी जो जनता की रुचि की बिल्कुल उपेक्षा करते रहे। उनका ध्यान सर्वदा कला की ओर ही रहा। कवित्वपूर्ण आदर्शवादी चरित्र-चित्रण, कवित्वपूर्ण गंभीर भाषा-शैली और मिश्र तथा जटिल कथानक इनकी विशेषता थी। ये नाटक अध्ययन-योग्य शुद्ध साहित्यिक हैं, रंगमंच पर अभिनय-योग्य नहीं।

परंतु इन तीन धाराओं के रहते हुए भी हिन्दी में वास्तविक नाट्य-कला—वह नाट्य-कला जिसमें रंगमंचीय नाटकों के मनोरंजन, उत्सुकता और आनंद, तथा साहित्यिक नाटकों के कवित्व और प्रभावशाली चरित्र-चित्रण दोनों का सुंदर सम्मिश्रण और सामंजस्य हो—का विकास नहीं हो सका। पारसी कंपनियों ने नाटकों में वे सभी वस्तुएँ उपस्थित कीं जिन्हें जनता चाहती है, किन पर

रंगमंचीय नाटकों की सफलता निर्भर है—उन्होंने हास्य दिया, नृत्य दिया, संगीत दिया, दृश्य-दृश्यांतर दिए, आकर्षक वेश-भूषा दी और दिया एक रंगमंच, परंतु वे कवित्व नहीं दे सके, जीवित चरित्र नहीं दे सके। दूसरी ओर साहित्यिक नाटकों ने काव्य दिया और दिए सुंदर, स्वाभाविक, सजीव चरित्र। परंतु एक साथ दोनों ही कोई नाटककार नहीं दे सका। बदरीनाथ भट्ट ने इन दोनों का सामंजस्य करने का प्रयत्न अवश्य किया, परंतु वे सफल नहीं हो सके। हिन्दी में वास्तविक नाट्य-कला के दर्शन नहीं हो सके।

भारतवर्ष में जहाँ नाटकों की संधि, रस, चरित्र आदि के संबंध में इतने अधिक विस्तार से लिखा गया, वहाँ रंगमंच के संबंध में बहुत कम लिखा गया। इसका कारण यह है कि शायद हमारे यहाँ लोकप्रिय रंगमंच था ही नहीं, नाटकों का अभिनय राजप्रासादों अथवा मंदिरों में हुआ करता था और वह भी विशेष पर्वों अथवा उत्सवों के अवसर पर। रासलीला और नौटंकियों के घरेलू रंगमंच नाम-मात्र को रंगमंच थे। प्रथम वैज्ञानिक रंगमंच हमें पारसी कंपनियों ने दिया जिन्होंने शेक्सपियर के युग के अंगरेजी रंगमंच के आधार पर भारतीय वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल एक रंगमंच की व्यवस्था की। क्लब, नाटक-मंडली और अन्य नाटक खेलने वालों ने भी पारसी कंपनी का रंगमंच लिया और उसी को सरल बनाकर अपना काम निकालने लगे।

रंगमंच के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग पर्दा और प्रकाश (Light effect) हैं। किसी दृश्य को समझने और उससे आनंद प्राप्त करने के लिए दो बातों का जानना बहुत आवश्यक होता है—पहला, वह किस स्थान में और किस वातावरण के मध्य में घटित हुआ, दूसरा, किस समय हुआ। पर्दा स्थान और वातावरण की सूचना देता है और प्रकाश से समय ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए 'अंजना' नाटक का दृश्य ले लीजिए। दृश्य के पहले लेखक रंगमंच की सुविधा के लिए कुछ आवश्यक सूचना दे देता है, यथा :

समय : प्रात, स्थान पशुमुखा वन में कुटिया का बाहरी भाग। इत्यादि

इस दृश्य को दर्शकों के सामने उपस्थित करने के लिए एक पर्दा होना चाहिए जिस पर एक वन का चित्र चित्रित हो और उसमें एक कुटिया बनी हो जिसका बाहरी भाग रंगमंच का प्लेटफार्म हो और समय दिखाने

लिए प्रकाश का ऐसा प्रबंध होना चाहिए कि प्रभात का समय दिखाया जा सके। इस प्रकार एक नाटक अभिनीत करने में उतने पर्दे चाहिए जितने दृश्य नाटक में हों। परतु पर्दा बनाने में इतना अधिक व्यय होता है कि प्राइवेट क्लब और नाटक मंडलियों के लिए यह असभव है। इसी प्रकार प्रकाश का भी उचित प्रबंध बहुत अधिक व्यय के बिना नहीं हो सकता। पारसी कपनियाँ व्यवसायी कपनियाँ थीं, इस कारण वे पर्दे और प्रकाश के लिए व्यय भी अधिक कर सकती थीं और करती भी थीं, परतु नाटक-मडलियों के पास कुछ थोड़े से पर्दे होते थे जिनका वे सभी स्थानों पर उपयोग किया करते थे। स्कूल, कालेजों में तथा निजी ढग पर जो नाटक अभिनीत होते वे उन्हीं नाटक-मंडलियों से कुछ पर्दे किराए पर लाकर अपना काम चलाते थे। इस प्रकार धन के अभाव से रगमच में पर्दों और प्रकाश का समुचित प्रबध नहीं हो पाता था जिससे नाटकों के अभिनय में पूर्णता नहीं आ सकती थी।

पर्दे और प्रकाश की कठिनाइयों के अतिरिक्त हिन्दी नाटकों में अभिनय भी उच्च श्रेणी का नहीं मिलता। इसके दो कारण हैं—पहला यह कि पढ़े लिखे शिक्षित और सभ्य लोग नाटकों के अभिनय में भाग नहीं लेते थे। थियेटर के प्रति लोगों के विचार अच्छे न थे और जो कोई नाटकों में अभिनय करते थे उन पर लोग उँगली उठाते थे। इस कारण केवल अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित दरिद्र और निम्न श्रेणी के लोग ही अभिनय में भाग लेते और इस कारण उनका अभिनय कभी उच्च कोटि का नहीं हो पाता। दूसरा कारण और अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि पुरुषों और बालकों को स्त्री-पात्र का अभिनय करना पड़ता था। सामाजिक नियमों के कारण उत्तरी भारत की उच्च जाति तथा सभ्य घरों की स्त्रियाँ पुरुष अभिनेताओं के साथ रगमंच पर अभिनय करना तो दूर रहा पर्दे के बाहर भी नहीं निकल सकती थीं। इस कारण छोटे छोटे बालकों को ही स्त्री-पात्र का अभिनय करना पड़ता था और वे यह अभिनय ठीक से कर नहीं पाते थे। पारसी कपनियों में स्त्री पात्र के अभिनय के लिए अभिनेत्रियाँ भी थीं परन्तु वे अधिकांश वेश्या श्रेणी की थीं। ये अशिक्षित, किराए पर लाई हुई, रुपयों की लोभी वेश्याएँ सीता, द्रौपदी जैसी उच्च और सती स्त्रियों का अभिनय कर ही नहीं सकती थीं। इस कारण पारसी थियेटरों में भी अभिनय बहुत ही निकृष्ट श्रेणी का हुआ करता था।

हमने अपनी सभ्यता के केवल एक ही अंग और पक्ष की उन्नति की, दूसरे पक्ष की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। जिस प्रकार स्त्रियों की हमने उपेक्षा की उसी प्रकार स्त्रियों की कला और सभ्यता की भी हमने अवहेलना की। पुरुषों के उपयुक्त तलवार चलाना, कुश्ती लड़ना, युद्ध करना, कविता करना इत्यादि कलाओं का तो हमने पूर्णतया विकास किया परंतु स्त्रियों की कला के विकास के लिए हमने कोई अवसर ही नहीं दिया। रंगमंचीय कला स्त्रियों की कला है। सारा बर्नहार्ट (Sarah Bernhardt) ने रंगमंचीय कला की बहुत ही उपयुक्त उपमा स्त्रियों से दी है :

The dramatic art would appear to be rather a feminine art, it contains in itself all the artifices which belong to the province of women, the desire to please, facility to express emotions and hide defects and the faculty of assimilation which is the real essence of women. The reason, why the theatrical art, which is so fine and so complete, because it reflects all other arts, remains on a slightly inferior plane, is that it cannot be practiced without beauty of form and face

[The art of Theatre—Page 144]

अर्थात्—नाट्य-कला एक कामिनी-कला सी प्रतीत होगी, इसमें वे सभी साधन सम्मिलित हैं जो नारी क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं—प्रसन्न करने की अभिलाषा, भावनाओं को व्यक्त करने और दोषों को छिपाने की सुगमता तथा अंगीकरण का गुण जो नारियों का वास्तविक सार गुण है। अन्य सभी कलाओं को (अपने में) प्रतिबिम्बित करने के कारण इतना सुंदर और इतना संपूर्ण होते हुए भी नाट्य-कला के (अन्य कलाओं की अपेक्षा) किंचित निम्नतर स्तर पर रहने का कारण यह है कि शरीर-सौष्ठव और मुख सौन्दर्य के बिना इस कला का अभ्यास नहीं किया जा सकता।

इसलिए जब तक भारत में स्त्रियाँ परतन्त्र रहेंगी, जब तक उन्हें समानाधिकार न मिलेगा, जब तक कामिनी-कला का विकास न होगा, तब तक रंगमंचीय कला की पूर्ण उन्नति संभव नहीं है।

पाँचवाँ अध्याय

उपन्यास

हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप का विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ। हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास देवकीनंदन खत्री का 'चंद्रकाता' है जो १८९१ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद उपन्यास का विकास बड़े वेग से हुआ और धीरे-धीरे कविता और नाटक से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर वह आधुनिक साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय अंग बन गया। इसके विकास की कई श्रेणियाँ हैं जिनके द्वारा धीरे-धीरे उपन्यास के वास्तविक कला-रूप की प्रतिष्ठा हुई।

उपन्यास के कला-रूप का विकास

हिन्दी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल 'तोता-मैना' और 'सारंगा-सदावृक्ष' जैसी कहानियों में खोजना पड़ेगा जिनका उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है। इन कथाओं का उल्लेख हमें कालिदास के ही समय से मिलता है जब वृद्ध लोग उदयन की कथा सुनाया करते थे। जायसी के 'पद्मावत' तथा इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' के वस्तु-विन्यास पर इन कथाओं का स्पष्ट प्रभाव मिलता है : प्राचीन काल में जब लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे और पुस्तकों का नितांत अभाव था, तब संगीत के अतिरिक्त मनोरंजन का एक मात्र साधन कहानियाँ ही थीं। जाड़े की रात में आग के चारों ओर बैठकर वृद्ध लोग उत्सुक श्रोताओं को कोई मनोरंजक प्रेमकथा अथवा भूत-प्रेतों की कहानी सुनाते, जंगल में पेड़ों के नीचे बैठकर ग्वाले और गड़रिए कुछ इसी प्रकार

की कहानियों द्वारा अपने साथियों का मनोरंजन करते। समय बीतने पर कुछ कहानियों को लोग भूल गए, कई कहानियाँ अद्भुत प्रकार से एक दूसरे से मिश्रित हो गईं और कुछ के विचित्र रूपातर हो गए। इन कहानियों के समय और लेखक का निर्णय करना असभव-सा है, किन्तु यह निश्चित है कि ये १८६० के लगभग लिपिबद्ध हुईं। सार्वजनिक शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ इनकी माँग बढ़ती गई और ये नित्य अधिक सख्या में प्रकाशित होने लगीं।

इन कहानियों में कला-रूप का प्रथम आभास व्यक्तित्व के विकास में मिलता है। 'तोता मैना' मे किसी व्यक्ति-विशेष का परिचय नहीं मिलता, मिलता है केवल एक मौखिक वादविवाद। किन्तु 'गुलबकावली', 'छबीली भटियारिन' और 'हातिमताई' मे व्यक्ति-विशेष के दर्शन होते हैं जिनमें मानव चरित्र के सरल और सामान्य गुणों का समावेश मिलता है। ये चरित्र अधिकाश कल्पित हैं और कुछ दृष्टियों में विचित्र भी हैं। हमारे बीच में उनके समान चरित्र नहीं मिलते फिर भी वे हमसे नितात भिन्न नहीं हैं। इन साहसिक वीरों (adventurers) की बहुत सी बातें हमारे ही समान हैं, उनके जीवन-कार्यों के वातावरण और परिस्थितियाँ यथार्थवादी हैं। यदि वे हमसे भिन्न हैं तो इसका कारण यह है कि वे भिन्न युग के वीर चरित्र हैं।

किन्तु इन उपन्यासों के रहते हुए भी देवकीनदन खत्री के 'चद्रकाता' से पहले हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी। 'तोता-मैना' 'गुलबकावली' इत्यादि कहानियाँ मनोरजक और लोकप्रिय तो अवश्य थीं, किन्तु उनमें यथार्थ जीवन का चित्रण लेश मात्र भी नहीं था। अतः जब देवकीनदन खत्री ने बारहवीं शताब्दी के पद्यबद्ध वीर-आख्यानों की परपरा अलिफ लैला (सहस्र रजनी चरित्र) की कथाओं, अमीर हमजा की तिलिस्म दिलरूबा और लोक-प्रचलित कहानियों की कथा-सामग्री का उपयोग अपने तिलस्मी उपन्यासों में किया तो उनमें प्रेमाख्यानक काव्यों का अद्भुत सौन्दर्य आ गया। 'चद्रकाता' की तुलना सबसे अधिक लोकप्रिय चारण-काव्य 'आल्ह खड' से की जा सकती है। दोनों के मूल में वही सर्वव्यापी स्वच्छदवादी प्रेम है। 'चद्रकाता' के अय्यार बहुत कुछ उस अर्द्धपौराणिक वीर-काव्य के नायकों के समान हैं, केवल उपन्यास की परिस्थिति ने उन्हें थोड़ा परिवर्तित कर दिया है। उदाहरण के लिए जब चुनार का अधिपति आल्हा ऊदल को युद्ध में परास्त न कर सका तब उसने अपने मित्र से सहायता माँगी और उसके मित्र ने नृत्य और सगीत का जाल बिछाकर सरल-हृदय आल्हा को बदी बना लिया। उस समय ऊदल और उसके मित्रों ने काबुली घोड़े बेचने वालों का वेष

बना कर चतुरता से आल्हा को बंदीगृह से मुक्त किया। यह चाल तिलस्मी उपन्यासों के ढंग की है। इसी प्रकार जब बिठूर में गंगा-स्नान करते हुए इन्दल का उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर चित्रलेखा नाम जादूगरनी ने हरण किया और जब आल्हा ऊदल को इन्दल-हरण का समाचार मिला तो वे उसकी खोज में निकल पड़े और अपने कौशल और वीरता से उसी प्रकार इन्दल की प्राप्ति की जिस प्रकार 'चंद्रकांता' के अय्यार अपने खोए हुए स्वामियों तथा साथियों का पता लगाते हैं।

भावना और शैली दोनों ही की दृष्टि से तिलस्मी उपन्यास चारण-काव्यों के अनुगामी जान पड़ते हैं। किन्तु लोकप्रिय होते हुए भी उनमें मानवी भावनाओं और मनोविकारों के लिए विशेष स्थान नहीं था। इस कारण शिक्षित कहलाने वाले लोग यद्यपि उन्हें पढ़ने का लोभ संवरण न कर सके फिर भी वे उनसे असंतुष्ट थे। वे उन्हें कला की वस्तु न मानकर केवल मनोरंजन का साधन मानते थे। किन्तु मनोरंजन की क्षमता भी कला का एक प्रधान अंग है और उसकी प्रगति का द्योतक है, अतः तिलस्मी उपन्यासों को कलात्मक उपन्यासों का प्रथम रूप समझना चाहिए।

तिलस्मी उपन्यासों के साथ ही साथ कुछ लेखकों ने उपन्यास पर नाटकीय कला के विविध गुणों का आरोप करने का प्रयत्न किया और उन्हें सफलता भी मिली। यदि इन उपन्यासों में वास्तविक नाट्य-कला का आरोप किया जाता तो ये उपन्यास वास्तव में बहुत ही कलापूर्ण, सुंदर और पठनीय होते, किन्तु मुसलमानों के आक्रमण के बाद राष्ट्रीय रंगमंच के विनाश के कारण नाट्य कला प्रकट रूप में केवल संलाप और सम्भाषण-मात्र रह गई थी और सिद्धांत-रूप में केवल नायिका-भेद और रस-निरूपण तक सीमित थी। नाट्य कला भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अंग है और यद्यपि प्राचीन काल में नाट्य-साहित्य का अभाव था फिर भी नाटकीय रूप सदा रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग, नक़ल इत्यादि के रूप में वर्तमान रहा। परिस्थितियों के अनुकूल होने पर यह पुनः दो रूपों में प्रकट हुआ—एक आधुनिक नाटकों के रूप में और दूसरे नाटकीय कलामय उपन्यासों के रूप में। छापेखानों के प्रचार से नाटक उपन्यास नाटकों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए, क्योंकि वे अपेक्षाकृत निर्धनों और व्यस्त पाठकों के लिए अधिक सुलभ थे।

किशोरीलाल गोस्वामी, जिन्होंने पहले-पहल हिन्दी उपन्यासों में नाटकीय कला के विविध गुणों का सफल आरोपण किया, खत्री के 'चंद्रकान्ता' से ना

[प]हले 'कुसुम-कुमारी' की रचना १८८९ में कर चुके थे, यद्यपि इसका प्रकाशन [१]९०१ के पहले न हो सका। इस ग्रंथ की प्रेरणा उन्हें रीति-कवियों से मिली [ज]िन्होंने अपने मुक्तक काव्यों के लिए नायिका-भेद एक ऐसा विषय चुना [ज]िसका संबंध मूल रूप से नाटकों में ही था। किशोरीलाल स्वयं उसी परंपरा के कवि थे, उन्होंने नायिका-भेद तथा अन्य रीति-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। इसलिए जब वे उपन्यास लिखने बैठे तब उन्हें केवल एक सुसंगत प्रेम कहानी की कल्पना करनी पड़ी और उसमें उन्होंने प्राचीन कवियों की परंपरानुसार प्रेम-संबंधी विविध प्रसंगों को यथावसर अनेक अध्यायों में गद्या-त्मक भाषा में जड़ दिया। उनकी 'तारा', 'अँगूठी का नगीना' तथा अन्य उपन्यास हर्ष और राजशेखर के संस्कृत प्रेम-नाटकों का स्मरण दिलाते हैं। परंपरागत प्रेम—अभिसार, मान, परिहास इत्यादि इसमें भरे पड़े हैं।

गोस्वामी के पश्चात् उपन्यासकारों के एक समुदाय ने संस्कृत के प्रेम-नाटकों और रीति-काव्य से प्रेरणा ग्रहण करने के स्थान पर पारसी थियेटरों और उर्दू-काव्यों का अनुकरण किया। इस समुदाय के प्रमुख लेखक रामलाल वर्मा थे जिनका 'गुलबदन उर्फ़ रज़िया बेगम' १९२३ में तीसरी बार प्रकाशित हुआ। इसके विज्ञापन में प्रकाशक ने इसे हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ थियेट्रिकल उप-न्यास लिखा था और यह बिल्कुल सत्य भी था। यह पारसी थियेटरों के समस्त उपकरणों से संयुक्त, अतिनाटकीय रोमांचकारी प्रसंगों से परिपूर्ण, एक अपूर्व उपन्यास है। गुलबदन और जमशेद जिस जहाज़ पर बम्बई-यात्रा कर रहे हैं वह अचानक डूब जाता है। गुलबदन को उसका प्रेमी सफदरजंग बचा लेता है और जमशेद संयोग से जीवित निकल आता है। इसके पश्चात् रोमांचकारी घटनाओं तथा रंगमंच के अन्य दृश्यों की इसमें भरमार है। थियेट्रिकल नाटकों के साथ इसकी समानता इसके गुण और दोष दोनों का कारण है—गुण इसलिए कि इसकी लोकप्रियता इसी कारण से है और दोष इसलिए कि इसमें अतिनाटकीय प्रसंगों की भरमार है जो उपन्यास के कलात्मक सौन्दर्य को नष्ट कर देते हैं। जो भी हो, ये थियेट्रिकल उपन्यास जनता बड़े चाव से पढ़ती थी।

इन उपन्यासों की सफलता के कारण लेखकों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और वे पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं, मौखिक कथाओं, किम्वद-तियों तथा घर, समाज और उनके पारिपार्श्विक उपकरणों को लेकर नाटक के रूप में उपन्यासों की रचना करने लगे। नाटकों के रूप में उपन्यास-रचना आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक नया और अद्भुत आविष्कार था और इससे

उपन्यास के विकास में बहुत सहायता मिली। उदाहरण के लिए भगवानदीन पाठक का 'सती-सामर्थ्य' ले लीजिए। लेखक पहले जेठ मास के सूर्य से संतप्त मरुस्थल-तुल्य पृथ्वी का वर्णन करता है। फिर अनुसूया जल की खोज में निकलती है। उसे एक तपस्विनी मिलती है और दोनों में एक संलाप प्रारंभ होता है। इस संलाप से ज्ञात होता है कि स्वामी की सेवा में संलग्न रहने के कारण साध्वी अनुसूया को यह भी पता न चला कि पिछले तीन वर्षों से तनिक भी वर्षा नहीं हुई और यह भी ज्ञात होता है कि तपस्विनी स्वामी की सेवा के सौभाग्य से वञ्चित होने के कारण कठिन तपश्चर्या से स्वर्ग प्राप्त करने की साधना कर रही है। इस प्रकार उपन्यास के कथानक का विकास और विस्तार होता है। पाठकों का मस्तिष्क ही रंगमंच है जिस पर लेखक पहले एक वातावरण की सृष्टि करता है फिर दो या अधिक पात्र-पात्रियाँ आकर संलाप और संभाषणों द्वारा अपने चरित्र और कथा वस्तु की व्यंजना करती हैं। प्रत्येक परिच्छेद एक दृश्य के समान है। उसी उपन्यास में एक परिच्छेद में वातावरण की सृष्टि का एक नमूना देखिए :

अस्तु, पाठक! आज भगवती अनुसूया की परीक्षा का दिन आया है, जगत के उत्पादक पालक और संहारक त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—स्वर्गलोक में अपने-अपने आसन पर विराजमान हैं। महर्षि नारद पास में बैठे हुए सती अनुसूया के अशेष गुणों का गायन कर रहे हैं। इत्यादि

वातावरण की सृष्टि हो जाने के उपरांत संलाप प्रारंभ होता है। नारद लक्ष्मी से कहते हैं :

तुमने और कुछ सुना, मैं अभी एक नया कौतुक देखकर आ रहा हूं।

यह ठीक नाटकों की परंपरा में जान पड़ता है जहाँ पहले एक पुरुष—सूत्रधार—आता है और आवश्यक बातों की सूचना दे जाता है जिनकी सहायता से दर्शक (श्रोता) आगे की बातचीत समझ सकें। फिर संलाप प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार जयगोपाल-रचित 'उर्वशी' (१६२५) में उपन्यास का प्रारंभ इस करुण-पुकार से होता है :

बचाओ! बचाओ! है कोई देवताओं का प्यारा जो हमारी रक्षा करे।

यह पुकार दूर से आती है जो नाटक के 'नेपथ्य' का एक रूप जान पड़ता है। इसके उपरांत लेखक वातावरण की सृष्टि करता है :

आषाढ़ मास के थोड़े से सौंस बाक़ी थे। प्रचंड गर्मी से मनुष्य, पशु, पक्षी व्याकुल हो रहे थे। न रात को नींद न दिन को चैन, जिधर जाओ, जहाँ देखो, हाय गर्मी! हाय गर्मी! की पुकार थी।

फिर लेखक प्रकृति पर उस करुण पुकार का प्रभाव दिखलाता है, फिर राजा पुरूरवा पर उसका प्रभाव वर्णित करता है और आगे इसी प्रकार कथानक का विकास होता है। यह उपन्यास के रूप में वास्तव में एक नाटक ही है।

परतु इन उपन्यासों में नाटकीय कला इनके बाह्य रूप अर्थात् केवल सलाप, सभाषण और साधारण कथा-वर्णन तक ही सीमित थी, इनके अतर में कोई सघर्ष, क्रिया प्रतिक्रिया, चरम-सधि (Climax) और सक्राति (Crisis) इत्यादि अन्य नाटकीय गुणों का कोई आरोप न था। परन्तु धीरे-धीरे जब लेखकों को वास्तविक नाट्य-कला का बोध होने लगा तब वे अपने उपन्यासों में वास्तविक नाट्य कला का आरोप करने लगे और क्रमशः तीनों नाटकीय ऐक्य—स्थान, समय और कार्य—से प्रारम कर नाटकीय व्यग्य (Dramatic Irony) और अन्य नाटकीय गुणों का आरोप होने लगा। व्रजनदन सहाय ने अपने 'राधाकात' में स्थान, समय और कार्य तीनों ऐक्यों का पूर्ण निर्वाह किया और अन्य नाटकीय गुणों का भी सफल आरोप किया। 'रगभूमि' में एक नाटकीय व्यग्य देखिए। जब सूरदास अपने पाँच सौ रुपयों की चोरी हो जाने पर बिलख रहा था, उसने मिट्ठू को रोते और घीसू को यह कह कर चिढ़ाते सुना "खेल में रोते हो", यह सुनते ही सूरदास रोना बद कर कह उठता है:

वाह मैं तो खेल में रोता हूँ कितनी बुरी बात है। इत्यादि

यह है नाटकीय कला और गुणों का उपन्यास में पूर्ण आरोप।

उपन्यास कला का नवीनतम विकास इसमें मनोविज्ञान के समावेश के कारण हुआ जिससे उपन्यासों के कला सौन्दर्य में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अब तक उपन्यास के कथानकों में, मानव-जीवन की उलझनों में, दैव-घटना और सयोग का ही प्रधान भाग रहता था। कथानक के विकास और उसकी उलझनों को सुलझाने के लिए प्रायः सयोग और दैव-घटनाओं का आवश्यकता से अधिक और कहीं-कहीं सस्ती सूझों का भी उपयोग किया जाता था। इसी बीच भारत में मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर लोगों की रुचि बढने लगी। लोगों को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखने और सुनने जैसे

साधारण कार्यों में भी आँखों और कानों की अपेक्षा मस्तिष्क का ही अधिक कार्य होता है। इस प्रकार उन्हें मानव-मस्तिष्क की व्यापक महत्ता का बोध हुआ और उन्हें अनुभव होने लगा कि संयोग और दैव घटनाओं की अपेक्षा जीवन में मनुष्य के मस्तिष्क और मन का अधिक प्रभाव और महत्त्व है। संसार का वास्तविक नाटक मानव-हृदय और मस्तिष्क का नाटक है, आँख, कान तथा अन्य इन्द्रियों का नहीं। शरच्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चित्रण और विश्लेषण का महत्त्व लोगों के सामने रखा। फिर जीवन भी अब पहले से अधिक मिश्र और गहन होता जाता था, लोग अपने मस्तिष्क और बुद्धि का नित्य अधिक प्रयोग करने लगे थे। लोगों का वह सरल मस्तिष्क जो धर्मग्रंथों की सभी बातों को ब्रह्मवाक्य समझता था, जो पुराणों की सभी स्वाभाविक और अस्वाभाविक कथाओं पर विश्वास करता था, अब संशयवादी हो गया। इस प्रकार लेखकों को मानव-हृदय और मस्तिष्क के वास्तविक नाटक के प्रदर्शन की आवश्यकता जान पड़ी। अस्तु, मनोविज्ञान की सहायता ने उपन्यासों पर वास्तविक नाट्य-कला की परंपरा का आरोप हुआ और उपन्यास कला-रूप की श्रेष्ठतम कोटि पर पहुँच गया। प्रेमचंद के 'रंगभूमि' में मानव हृदय का सूक्ष्म विश्लेषण देखिए :

सूरदास ने सोचा था अभी किसी से यह बात न कहूँगा। पर इस समय दूध लेने के लिए खुशामद ज़रूरी थी। अपना त्याग दिखा कर सुर्खरू बनना चाहता था। इत्यादि

उसी उपन्यास में एक अन्य स्थान पर देखिए :

इस समय राजा साहब की दशा उस कृपण की सी थी, जो अपनी आँखों से अपना धन लुटते देखता हो, और इस भय से कि लोगों पर मेरे धनी होने का भेद खुल जायगा, कुछ बोल न सकता हो। इत्यादि

यह वर्णन कितना सत्य और यथार्थ है। यह पाठकों के सामने पात्रों का हृदय खोलकर रख देता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चित्रण ने उपन्यासों के कला-पक्ष की उन्नति तो अवश्य हुई और बहुत अधिक हुई, परंतु साथ ही उनके नाटकीय सौन्दर्य की बड़ी हानि हुई। जब उपन्यासकार मनोविज्ञान के चित्रण पर बहुत अधिक ज़ोर देने लगे, तब उन्हें बहुत सी ऐसी दैव-घटनाओं और संयोग-वाहित प्रसंगों का निराकरण करना पड़ा जो कथानक के विकास लिए अत्यंत

आषाढ़ मास के थोड़े से दिन बाकी थे। प्रचंड गर्मी से मनुष्य, पशु, पक्षी व्याकुल हो रहे थे। न रात को नींद न दिन को चैन, जिधर जाओ, जहाँ देखो, हाय गर्मी! हाय गर्मी! की पुकार थी।

फिर लेखक प्रकृति पर उस करुण पुकार का प्रभाव दिखलाता है, फिर राजा पुरूरवा पर उसका प्रभाव वर्णित करता है और आगे इसी प्रकार कथानक का विकास होता है। यह उपन्यास के रूप में वास्तव में एक नाटक ही है।

परंतु इन उपन्यासों में नाटकीय कला इनके बाह्य रूप अर्थात् केवल संलाप, संभाषण और साधारण कथा-वर्णन तक ही सीमित थी, इनके अंतर में कोई संघर्ष, क्रिया प्रतिक्रिया, चरम-संधि (Climax) और संक्रांति (Crisis) इत्यादि अन्य नाटकीय गुणों का कोई आरोप न था। परंतु धीरे-धीरे जब लेखकों को वास्तविक नाट्य-कला का बोध होने लगा तब वे अपने उपन्यासों में वास्तविक नाट्य कला का आरोप करने लगे और क्रमशः तीनों नाटकीय ऐक्य—स्थान, समय और कार्य—से प्रारंभ कर नाटकीय व्यंग्य (Dramatic Irony) और अन्य नाटकीय गुणों का आरोप होने लगा। व्रजनंदन सहाय ने अपने 'राधाकांत' में स्थान, समय और कार्य तीनों ऐक्यों का पूर्ण निर्वाह किया और अन्य नाटकीय गुणों का भी सफल आरोप किया। 'रंगभूमि' में एक नाटकीय व्यंग्य देखिए। जब सूरदास अपने पाँच सौ रुपयों की चोरी हो जाने पर बिलख रहा था, उसने मिट्ठू को रोते और घीसू को यह कह कर चिढ़ाते सुना "खेल में रोते हो", यह सुनते ही सूरदास रोना बंद कर कह उठता है:

वाह मैं तो खेल में रोता हूँ कितनी बुरी बात है। इत्यादि

यह है नाटकीय कला और गुणों का उपन्यास में पूर्ण आरोप।

उपन्यास कला का नवीनतम विकास इसमें मनोविज्ञान के समावेश के कारण हुआ जिससे उपन्यासों के कला सौन्दर्य में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अब तक उपन्यास के कथानकों में, मानव-जीवन की उलझनों में, दैव-घटना और संयोग का ही प्रधान भाग रहता था। कथानक के विकास और उसकी उलझनों को सुलझाने के लिए प्रायः संयोग और दैव-घटनाओं का आवश्यकता से अधिक और कहीं-कहीं सस्ती सूझों का भी उपयोग किया जाता था। इसी बीच भारत में मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर लोगों की रुचि बढ़ने लगी। लोगों को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखने और सुनने जैसे

साधारण कार्यों में भी आँखों और कानों की अपेक्षा मस्तिष्क का ही अधिक कार्य होता है। इस प्रकार उन्हें मानव-मस्तिष्क की व्यापक महत्ता का बोध हुआ और उन्हें अनुभव होने लगा कि संयोग और दैव घटनाओं की अपेक्षा जीवन में मनुष्य के मस्तिष्क और मन का अधिक प्रभाव और महत्त्व है। संसार का वास्तविक नाटक मानव हृदय और मस्तिष्क का नाटक है, आँख, कान तथा अन्य इन्द्रियों का नहीं। शरच्चंद्र और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चित्रण और विश्लेषण का महत्त्व लोगों के सामने रखा। फिर जीवन भी अब पहले से अधिक मिश्र और गहन होता जाता था, लोग अपने मस्तिष्क और बुद्धि का नित्य अधिक प्रयोग करने लगे थे। लोगों का वह सरल मस्तिष्क जो धर्मग्रंथों की सभी बातों को ब्रह्मवाक्य समझता था, जो पुराणों की सभी स्वाभाविक और अस्वाभाविक कथाओं पर विश्वास करता था, अब संशयवादी हो गया। इस प्रकार लेखकों को मानव-हृदय और मस्तिष्क के वास्तविक नाटक के प्रदर्शन की आवश्यकता जान पड़ी। अस्तु, मनोविज्ञान की सहायता ने उपन्यासों पर वास्तविक नाट्य-कला की परंपरा का आरोप हुआ और उपन्यास कला-रूप की श्रेष्ठतम कोटि पर पहुँच गया। प्रेमचंद के 'रंगभूमि' में मानव हृदय का सूक्ष्म विश्लेषण देखिए :

सूरदास ने सोचा था अभी किसी से यह बात न कहूँगा। पर इस समय दूध लेने के लिए खुशामद ज़रूरी थी। अपना त्याग दिखा कर सुर्खरू बनना चाहता था। इत्यादि

उसी उपन्यास में एक अन्य स्थान पर देखिए :

इस समय राजा साहब की दशा उस कृपण की सी थी, जो अपनी आँखों से अपना धन लुटते देखता हो, और इस भय से कि लोगों पर मेरे धनी होने का भेद खुल जायगा, कुछ बोल न सकता हो। इत्यादि

यह वर्णन कितना सत्य और यथार्थ है। यह पाठकों के सामने पात्रों का हृदय खोलकर रख देता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चित्रण ने उपन्यासों के कला-पक्ष की उन्नति तो अवश्य हुई और बहुत अधिक हुई, परन्तु साथ ही उनके नाटकीय सौन्दर्य की बड़ी क्षति हुई। जब उपन्यासकार मनोविज्ञान के चित्रण पर बहुत अधिक ज़ोर देने लगे, तब उन्हें बहुत-सी ऐसी दैव-घटनाओं और संयोग-घटित प्रसंगों का निराकरण करना पड़ा जो कथानक के विकास के लिए अत्यन्त

आवश्यक थे। परतु मनोविज्ञान पर बहुत अधिक ज़ोर देने की प्रवृत्ति हिन्दी में १९२५ के बाद आई। १९२५ तक कथानक के नाटकीय विकास तथा चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चित्रण में पूर्ण सामजस्य मिलता है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में इन दोनों तत्त्वों का सुदर और पूर्ण सामजस्य सराहनीय है। इन दोनों तत्त्वों के समन्वय से उपन्यासों के श्रेष्ठतम कला रूप का प्रादुर्भाव और विकास हुआ।

वीराख्यानक काव्य-परपरा, नाटकीय कला और मनोविज्ञान के अतिरिक्त कुछ उपन्यासकारों ने जो कवि भी थे, उपन्यास में गीति कला (Lyric-art) का भी उपयोग किया। बग साहित्य में यह प्रयोग सफल हुआ था—चद्रशेखर का 'उद्भ्रात प्रेम' इसका उदाहरण है। फलतः ब्रजनदन सहाय ने १९१२ के लगभग 'सौन्दर्योपासक' की रचना की जिसका प्रायः प्रत्येक परिच्छेद, जिसे लेखक ने कवित्व के अनुरोध से कल्पना नाम दिया है, बायरन, शेली, कीट्स आदि अँगरेज़ी के गीति-कवियों की पक्तियों से प्रारभ होता है और उसके बाद नायक सौन्दर्योपासक अपने उद्दाम हृदयोद्गारों की शक्तिशाली शब्दों में व्यजना करता है। यह सत्य है कि केवल विशुद्ध गीति-कला नाटकीय कला की सहायता के बिना उपन्यास की सृष्टि नहीं कर सकती, किन्तु नाटकीय कला का प्रयोजन केवल रूप प्रदान के लिए, शरीर गढ़ने के लिए होता है, आत्मा उसमें गीति-कला द्वारा ही मिलती है। आत्मा प्रधान अवश्य है फिर भी शरीर के बिना उसका अस्तित्व ही क्या? 'सौन्दर्योपासक' में आत्मा तो है लेकिन रूप, शरीर नगण्य है इसीलिए उसकी महत्ता और मूल्य अधिक नहीं। इस वर्ग के पिछले लेखक अधिक सतर्क थे, उन्होंने आत्मा के साथ-साथ रूप और शरीर की सृष्टि में भी अधिक सावधानी से काम लिया। उदाहरण के लिए जयशकर प्रसाद रचित 'ककाल' में केवल एक विद्रोही हृदय का उद्गार-मात्र नहीं है वरन् लेखक उस देह के रूप और आकार का भी परिचय देता है जिसमें यह हृदय निवास करता है। चडीप्रसाद 'हृदयेश' ने भी इसी प्रकार दो उपन्यास लिखे, विशेषतया उनकी 'मनोरमा' में गीति-कला और नाट्य-कला का सुदर सामजस्य मिलता है। इन गीति-कलापूर्ण उपन्यासों को कवित्वपूर्ण उपन्यास भी कह सकते हैं।

शैली

उपन्यास की कहानी अथवा कथानक को पाठकों के सामने रखने की

शैली में भी अद्भुत उन्नति और विकास हुआ और इस शैली के विकास से उपन्यास के कला-रूप के विकास में भी अत्यधिक सहायता मिली। 'चंद्रकांता' से 'रंगभूमि' तक कथा-वर्णन की शैली में महान् अंतर पाया जाता है। 'चंद्रकांता' तथा अन्य प्रारंभिक उपन्यासों की शैली इस प्रकार की है कि वे हमें पुराने कहानी कहने वालों की याद दिलाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यासकार किसी उत्सुक श्रोता-मंडली को कोई कहानी सुना रहा है, वह इस बात को कभी भूल ही नहीं पाता कि उसके प्रत्येक शब्द को उत्सुक श्रोता बड़े ध्यान से सुन रहे हैं। यथा, 'धोखे की टट्टी' (१६०६) में रामजीदास वैश्य लिखते हैं :

लीजिए हमें अभी कितनी दूर जाना है, इसका कुछ भी ख़याल न किया और इसी अधटूटे मकान की उधेड़ बुन में इतना समय नष्ट कर डाला।

पाठकगण! आप भी ज़रूर ऐसा विचारते होंगे, किन्तु कुछ फ़िक्र की बात नहीं, धीरज धरिये। हम आपको अभी ऐसी अच्छी जगह लिए चलते हैं, जहाँ पहुँच कर आप ज़रूर ख़ुश होंगे। इत्यादि

ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने पाठकों को ख़ुश करने का ठेका ही ले लिया है, वह पग-पग पर अपनी सफ़ाई देता चलता है। इसी प्रकार उपदेश उपन्यासों में वह पग पग पर अवसर मिलते ही शिक्षा देने के लिए उपस्थित हो जाता है। अस्तु, 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य' में लेखिका लिखती है :

प्रिय पाठक पाठिकाओ! आपने देखा, इस सत्संग में हमारी पुत्रियों को किन शुभ गुणों की शिक्षा मिल जाती है।

लेखिका की सुधार-प्रवृत्ति शिक्षा देने का एक भी अवसर हाथ से नहीं जाने देती। इस वर्ग के सभी लेखक इसी कथा-शैली का अनुकरण करते हैं, वे स्वयं सूत्रधार बन जाते हैं और उपन्यास में जो जीवन नाटक खेला गया है, पाठकगण उसके दर्शक अथवा श्रोतागण होते हैं।

उपन्यास की कथा कहने की शैली में प्रथम विकास उस समय हुआ जब कि उपन्यासकार श्रोताओं अथवा पाठकों का ध्यान रखे बिना ही तटस्थ-से होकर कथा का पूरा वर्णन करने लगे।। इसी वर्णन-शैली में लेखक उपन्यास के भीतर आए हुए पात्रों तथा दृश्यों का वर्णन एक अन्य पुरुष

हुआ। कैसी विडम्बना थी! कितना नैराश्यपूर्ण दारिद्र था! न खाट, न बिस्तर, न बरतन न भाँड़े। एक कोने में मिट्टी का एक घड़ा था जिसकी आयु का कुछ अनुमान उस पर जमी हुई कुछ काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँडी थी। एक पुराना, चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ एक तवा, और एक छोटी सी कठौत और एक लोटा। बस यही उस घर की सारी सम्पत्ति थी। मानव-लालसाओं का कितना संक्षिप्त स्वरूप! इत्यादि इन मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चित्रों से उपन्यास का सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है।

उपन्यास की कथा-शैली का द्वितीय विकास वार्तालाप अथवा सभाषण की कला के सूत्रपात से हुआ जब कि चरित्र-चित्रण और कथानक के विकास के लिए स्थान-स्थान पर दो-तीन या और अधिक पात्रों का सभाषण दिया जाने लगा। उपन्यास में सभाषण-कला का उपयोग बहुत देर में हुआ, प्रारभ में बहुत दिनों तक केवल वर्णनात्मक शैली का ही बोलबाला था। सभाषण भी बीच बीच में दे दिए जाते थे, परतु उससे चरित्रों के चित्रण और कथानक के विकास में सहायता नहीं ली जाती थी। लेखक यह नहीं समझते थे कि सभाषण द्वारा भी कथा का विकास और चरित्रों का चित्रण हो सकता था, वे तो संभाषण को कथा के बढ़ाने का एक साधन मात्र मानते थे। परतु क्रमशः सभाषणों की उपयोगिता लेखकों की समझ में आने लगी और उनका प्रयोग उपन्यास में बढ़ता गया। 'कौशिक' ने सभाषणों का सबसे अच्छा उपयोग किया। उनकी 'माँ' में कुछ बहुत ही मनोरजक, यथार्थ और व्यजनापूर्ण सभाषण हैं, जिनसे कथा के विकास और विस्तार तथा चरित्रों के चित्रण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

सभाषण-कला के सूत्रपात से चरित्रों के व्यक्तीकरण में बहुत सहायता मिली। १६१६ से पहले उपन्यासों में चरित्र प्रायः प्रकार-विशेष के अतर्गत आते हैं, व्यक्ति-विशेष के नहीं, परतु जब से सभाषण-कला का सूत्रपात उपन्यासों में हुआ तब से चरित्रों के व्यक्तीकरण और चित्रण में लेखकों को सहायता मिलने लगी। इस प्रकार वर्णन शैली में मनोविज्ञान और सभाषण-कला के सयोग से उपन्यास की कथा शैली का पूर्ण विकाश हुआ। 'प्रेमचद' के उपन्यासों में इस पूर्ण विकसित शैली का सुदर उदाहरण मिलता है।

परतु कुछ उपन्यासों में कथा-शैली एक दम भिन्न मिलती है। व्रजनदन

सहाय के 'सौन्दर्योपासक', रामचंद्र शर्मा के 'कलक' तथा इलाचंद्र जोशी की 'घृणामयी' में नायक अथवा नायिका अपनी तथा उपन्यास की पूरी कथा उत्तम पुरुष सर्वनाम (मैं) के रूप में वर्णन करती है। 'सौन्दर्योपासक' में नायक विस्तारपूर्वक वर्णन करता है कि किस प्रकार वह अपने विवाह के समय अपनी छोटी साली से प्रेम करने लगा, किस प्रकार वह प्रेम-विटप बढ़ा और विकसित हुआ और किस प्रकार सामाजिक बधन के कारण उन दोनों का मिलन असभव हुआ और किस प्रकार उसे तथा उसकी प्रियतमा को अनेक दुःख उठाने पड़े। नायक के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपन्यास की यह शैली सर्वोत्तम है, क्योंकि स्वय कथा कहने के कारण नायक अपने अंतस्तल तक की बातों का अत्यत प्रभावपूर्ण वर्णन कर सकता है, परतु इस शैली में एक दोष है कि नायक के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का सुदर चित्रण नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कथा के सौन्दर्य की भी इस शैली से पर्याप्त क्षति होती है। इसमें वर्णनात्मक शैली के उपन्यासों की भाँति मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा प्रकृति के सुदर चित्र नहीं मिल सकते। साधारणत; यह शैली केवल उन्हीं उपन्यासों के लिए उपयुक्त है जहाँ केवल एक ही प्रधान चरित्र हो और अन्य सभी चरित्र बहुत साधारण हों और वे सख्या में भी कम ही हों।

परतु जहाँ उपन्यास में चरित्र तो सख्या में बहुत कम हों परतु महत्त्व में दो या तीन चरित्र समान हों, वहाँ सभी प्रधान चरित्र बारी-बारी से अपनी कहानी अपने मुँह से सुनाते हैं। चद्रशेखर पाठक के 'वारागना-रहस्य' में इसी शैली का प्रयोग किया गया है। इस में तीन या चार प्रधान चरित्र अपने संबंध की सभी घटनाओं तथा अपने अतस्तल की सभी बातों और विचार-धाराओं का उल्लेख अपने ही मुख से उत्तम पुरुष (मैं) के रूप में करते हैं। इन सभी चरित्रों की कथाओं को मिलाने से एक कथा का विकास होता है। व्रजनंदन सहाय के 'राधाकात' में दो चरित्र हैं और दोनों बारी-बारी से अपनी कहानी सुनाते हैं और दोनों के मिलाने से ही उपन्यास का पूरा कथानक समझ में आता है। यह शैली शायद रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'घर और बाहर' से ली गई थी। इसमें दोष यह है कि कथानक समझने के लिए पाठकों को दिमाग लगाना पड़ता है, सीधी तरह से कथानक का विकास नहीं होता। परतु प्रधान चरित्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इसकी उपयोगिता विशेष है।

इसके अतिरिक्त दो और शैलियाँ हैं—एक पत्रों के द्वारा और दूसरी डायरी के उद्धरणों द्वारा कथानक का विकास। बेचन शर्मा 'उग्र' का 'चंद हसीनों के खतूत' पत्र-शैली में लिखा उपन्यास है जिसमें कुछ पत्रों के उद्धरण से कथानक का विकास और चरित्र चित्रण इत्यादि सभी कुछ कराया गया है। यह शैली भी उपन्यासों के लिए बहुत ही अनुपयुक्त है। इसमें कथानक तथा उसका विकास समझना जरा 'टेढ़ी खीर' है क्योंकि एक पत्र में लिखी हुई बातों का विस्तार और विवरण कई अन्य पत्रों द्वारा मिलता है–फिर इन पत्रों में शिष्टाचार की बातें काफी रहती हैं, जिनका उपन्यास से कोई संबंध नहीं। मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा प्रकृति-वर्णन इत्यादि के लिए इसमें बहुत कम स्थान मिलता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह शैली उपरोक्त अपनी कथा कहने की शैली से मिलती है। इस शैली का प्रचार हिन्दी में बिल्कुल नहीं हुआ शायद 'उग्र' का एक उपन्यास केवल प्रयोग की ही दृष्टि से लिखा गया था। डायरी-उद्धरण-शैली तो हिन्दी में केवल एक उपन्यास—'शोणित-तर्पण'—में मिलती है। इस शैली में स्वयं कथा कहने की शैली के सभी गुण-दोष मिलते हैं।

उपन्यासों की रचना का उद्देश्य

उपन्यासों का प्रारंभ जनता का मनोरंजन करने के लिए ही हुआ था। ग़दर के पश्चात् हम हिन्दी प्रदेश की जनता को तीन भिन्न श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी के लोग वे थे जो अँगरेज़ी हिन्दी आदि विविध विषयों की शिक्षा पाए हुए थे और जो सरकारी अथवा गैर सरकारी नौकरियाँ करते थे। ऐसे लोगों को पहले तो अवकाश ही बहुत कम मिलता था और जो कुछ मिलता भी था उसे व हिन्दी की पुस्तकें पढ़कर नष्ट करना नहीं चाहते थे, वरन् अँगरेज़ी के अभ्यास के लिए प्राय: अँग्रेज़ी के जासूसी उपन्यास अथवा कुछ और पढ़ा करते थे। दूसरी श्रेणी में वे लोग थे जो संस्कृत के तो अच्छे ज्ञाता थे परंतु हिन्दी कम जानते थे। वे लोग रामायण, महाभारत और पुराण को छोड़ और कुछ पढ़ने को उद्यत न थे। उनके लिए ज्ञान का सारा भंडार इन्हीं प्राचीन पुस्तकों में निहित था। तीसरी श्रेणी में वे लोग थे जिन्होंने बहुत साधारण शिक्षा पाई थी और केवल हिन्दी ही लिख पढ़ सकते थे। ये लोग या तो छोटी मोटी दूकान करते थे, अथवा खेती बारी और इधर उधर की मेहनत और मज़दूरी। उनको अपने बचे हुए समय को बिताने के लिए किसी साधन की आवश्यकता थी। पारसी नाटक

उनकी शक्ति के बाहर थे। अतः इस अर्द्धशिक्षित जनता की आवश्यकता-पूर्ति के लिए हिन्दी में उपन्यासों की रचना हुई। मनोरंजन ही इन उपन्यासों का एक मात्र उद्देश्य था। कथानक उनका पूर्णतया लौकिक होता था, उनमें मानवीय भावनाओं, साहित्यिक छटा और उच्च विचारों तथा चरित्रों का एकांत अभाव था, केवल कल्पना की जादूगरी और कथा की विचित्रता होती थी। इनमें एक बालक की भाँति पाठकों को सभी बातें मान लेनी पड़ती थीं, मरे हुए मनुष्य भी जीवित हो जाते थे। इनमें 'क्यों?' और 'कैसे?' का प्रश्न ही नहीं उठाया जाता था, केवल 'आगे क्या हुआ?' बस यही बताया जाता था। हिन्दू पाठकों का वह सरल और निश्छल मस्तिष्क, जो पुराणों की सभी बिना सिर पैर की बातों पर आँख मूँद कर विश्वास कर लेता था, इन उपन्यासों की भी सभी बातें बिना किसी संशय के मान लेता। इन पाठकों की उत्सुकता असीम और अनंत अवश्य थी फिर भी वह सरल थी। पुराणों के धार्मिक रूपक अब इनका मनोरंजन न कर पाते थे, वे कुछ इसी प्रकार की वस्तु चाहते थे, और लेखकों ने उनकी इच्छा पूरी की। अर्द्धशिक्षितों की संपत्ति होने के कारण उपन्यास साहित्य में घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, पिता अपने पुत्रों को, भाई अपने छोटे भाई और बहनों को उपन्यास पढ़ने से रोकते थे। इस प्रकार शिक्षित जनता उपन्यासों से उदासीन थी। साहित्यिक लेखक उपन्यास लिखना निन्दा की वस्तु समझते थे। इस निन्दा, घृणा और उदासीनता के वातावरण में उपन्यास-साहित्य का प्रारंभ और विकास हुआ।

परंतु यद्यपि शिक्षित जनता उपन्यासों को घृणा की दृष्टि से देखती थी, फिर भी उनकी माँग सर्वदा बढ़ती ही जा रही थी। उपन्यासों की इस लोकप्रियता के कारण धर्म-प्रचारकों और समाज-सुधारकों ने उपन्यासों को अपने मतों और विश्वासों के प्रचार का एक अस्त्र बनाना चाहा, विशेषतया आर्य-समाजियों ने, जो अपने सुधारवादी विचार के प्रचार के लिए सदा ऐसे ही साधनों की खोज में रहते थे, इस अस्त्र का पूर्ण प्रयोग किया। इस प्रकार उपदेश-उपन्यासों का बहुत प्रचार होने लगा और सामाजिक उपन्यास अधिक लिखे जाने लगे। उपन्यासकारों के सौभाग्य से हमारे सामाजिक और पारिवारिक जीवन में अनेक दोष थे। सास-बहू और ननद-भौजाई का झगड़ा हमारे घरों की प्रतिदिन की घटना थी। बाल-विवाह, स्त्रियों की दासता, जात-पाँत का झमेला, दहेज, अस्पृश्यता और

ऐसी ही हज़ारों समस्याएँ हमें सुलझानी थीं। अस्तु, उपदेश-उपन्यासों के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र था।

उपदेश-उपन्यासों की कुछ दिन की धूम के बाद समालोचकों ने इनके विरुद्ध आवाज़ उठाई और 'कला कला के लिए' की पुकार उठने लगी। किन्तु उपन्यास में उपदेशवाद की वांच्छनीयता और अवाञ्छनीयता अब भी एक विवादग्रस्त समस्या है। एक समालोचक ने तो यहाँ तक कह डाला है :

In the interest of novel and social progress as well as in the interest of art, a protest must be raised against the novel with a purpose. The schemes of improvement which moralists and political thinkers devise can in fairness be presented to the public for general approval only on their own merits, set forth with whatever skill in statement they can command. To take the public unawares through an irrelevant appeal to their feelings is to use an unjust and mischevous advantage.

अर्थात्—उपन्यास, सामाजिक उन्नति और कला के हित के लिए भी उपदेश-उपन्यास के विरुद्ध आंदोलन अवश्य होना चाहिए। सुधारकों और राजनीतिज्ञों द्वारा आविष्कृत सुधार-साधनों को केवल अपने ही मूल गुणों के बल पर जनता की स्वीकृति के लिए उसके सामने अपनी भरसक योग्यता के अनुसार रखना अधिक उचित होगा। एक अप्रासंगिक साधन द्वारा अचानक जनता की भावनाओं को प्रभावित करना उस (साधन) का अनुचित और दुष्ट प्रयोग करना है।

यह बिल्कुल ठीक जान पड़ता है। परतु भारतवर्ष में साहित्य से सर्वदा धर्म-प्रचार का कार्य लिया गया है। 'रामायण' और 'महाभारत' के पीछे धर्म की शिक्षा है, 'शकुतला' और 'उत्तर रामचरित' में धर्म का उपदेश है। परतु इन उपदेशों में एक विशेषता है कि ये उपदेश बहुत ही व्यापक हुआ करते थे। आधुनिक काल में पश्चिम के प्रभाव के कारण 'कला कला के लिए' की पुकार बहुत बढ़ चली थी। वास्तव में यह सिद्धात उन लेखकों को बहुत आकर्षक प्रतीत होता था जिनमें व्यापक उपदेशपूर्ण रचना की प्रतिभा ही न थी।

अस्तु, १९१८ ई० के बाद उपन्यासकारों में दो भिन्न समुदाय हो गए। एक ओर प्रेमचंद, 'कौशिक' इत्यादि लेखकों के उपन्यासों में व्यापक उपदेश मिलते थे, दूसरी ओर चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' और इलाचंद्र जोशी 'कला कला के लिए' सिद्धांत के पक्षपाती थे। अस्तु, उद्देश्य की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास चार वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं :

(१) मनोरंजन के लिए लिखे गए उपन्यास।
(२) उपदेश-उपन्यास।
(३) व्यापक उपदेश संयुक्त उपन्यास।
(४) 'कला कला के लिए' सिद्धांत के प्रतिपादक उपन्यास।

कथानक और चरित्र

अपने एक लेख में स्टीवेन्सन (R. L. Stevenson) ने तीन प्रकार के उपन्यास बताए हैं—घटना-प्रधान अथवा कथा-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान और प्रत्येक प्रकार के उपन्यास के उपयुक्त भिन्न-भिन्न शैली और भाव तथा विचारों की विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। स्टीवेन्सन के मतानुसार घटना-प्रधान उपन्यास ही सबसे अच्छे होते हैं। उनका कहना है :

The greatest triumph of the novelist is the power to create so perfect an illusion, to represent situations of interest with so irresistible an appeal to the imagination that the reader shall for the moment identify himself with the characters of the story and seem to experience the adventures in his own person.

अर्थात्—उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह एक ऐसी भ्रांति की सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियों को ऐसी कुशलता के साथ व्यक्त करे कि पाठकों की कल्पना उससे आकर्षित हुए बिना न रह सके और वे उस क्षण के लिए अपने को कहानी के पात्रों से एक समझने लगें और उनके कृत्यों को व्यक्तिगत रूप से अपना समझ कर अनुभव करने लगें। इस संबंध में देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकान्ता' और 'भूतनाथ' ही सर्वोत्कृष्ट कलात्मक रचनाएँ ठहरेंगी। परन्तु अन्य समालोचक इससे सहमत नहीं होते।

ऐसी ही हजारों समस्याएँ हमें सुलझानी थीं। अस्तु, उपदेश-उपन्यासों के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र था।

उपदेश-उपन्यासों की कुछ दिन की धूम के बाद समालोचकों ने इनके विरुद्ध आवाज़ उठाई और 'कला कला के लिए' की पुकार उठने लगी। किन्तु उपन्यास में उपदेशवाद की वाञ्छनीयता और अवांञ्छनीयता अब भी एक विवादग्रस्त समस्या है। एक समालोचक ने तो यहाँ तक कह डाला है :

In the interest of novel and social progress as well as in the interest of art, a protest must be raised against the novel with a purpose. The schemes of improvement which moralists and political thinkers devise can in fairness be presented to the public for general approval only on their own merits, set forth with whatever skill in statement they can command. To take the public unawares through an irrelevant appeal to their feelings is to use an unjust and mischevous advantage.

अर्थात्—उपन्यास, सामाजिक उन्नति और कला के हित के लिए भी उपदेश-उपन्यास के विरुद्ध आंदोलन अवश्य होना चाहिए। सुधारकों और राजनीतिज्ञों द्वारा आविष्कृत सुधार-साधनों को केवल अपने ही मूल गुणों के बल पर जनता की स्वीकृति के लिए उसके सामने अपनी भरसक योग्यता के अनुसार रखना अधिक उचित होगा। एक अप्रासंगिक साधन द्वारा अचानक जनता की भावनाओं को प्रभावित करना उस (साधन) का अनुचित और दुष्ट प्रयोग करना है।

यह बिल्कुल ठीक जान पड़ता है। परंतु भारतवर्ष में साहित्य से सर्वदा धर्म-प्रचार का कार्य लिया गया है। 'रामायण' और 'महाभारत' के पीछे धर्म की शिक्षा है, 'शकुंतला' और 'उत्तर रामचरित' में धर्म का उपदेश है। परंतु इन उपदेशों में एक विशेषता है कि ये उपदेश बहुत ही व्यापक हुआ करते थे। आधुनिक काल में पश्चिम के प्रभाव के कारण 'कला कला के लिए' की पुकार बहुत बढ़ चली थी। वास्तव में यह सिद्धांत उन लेखकों को बहुत आकर्षक प्रतीत होता था जिनमें व्यापक उपदेशपूर्ण रचना की प्रतिभा ही न थी।

कुछ था ही नहीं। इसी को तिलस्म कहते हैं और फ़ारसी कहानियों में इसका प्रायः उपयोग किया जाता है। फारसी से यह उर्दू में आया और अमीर हमज़ा ने अनेक तिलस्मी उपन्यास लिखे जिनमें अद्भुत तिलस्मों की सृष्टि की गई। देवकीनदन खत्री ने उर्दू से लेकर हिन्दी में तिलस्मों का प्रयोग किया परतु अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति और प्रतिभा के बल से उनमें इतना कौशल और अलौकिकत्व भर दिया कि वे उर्दू और फारसी के तिलस्मों से कहीं अधिक अद्भुत और आकर्षक बन गए। 'चंद्रकांता' और 'चद्रकाता सतति' के तिलस्म अद्भुत कौशलपूर्ण और अपूर्व हैं। खत्री की देखादेखी अन्य लेखकों ने भी कितने ही नए तिलस्मों की सृष्टि की। धीरे धीरे तिलस्मों का प्रचार इतना अधिक बढ़ा कि सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मों का प्रयोग किया जाने लगा। ये तिलस्म इतने यथार्थवादी ढंग में भी वर्णित हुए और इतनी अधिक सख्या में लिखे गए कि तिलस्मी उपन्यासों के पाठक सभी जगह तिलस्म ही तिलस्म देखने लगे और कुछ पाठकों को तो ऐसी आशका होने लगी कि कहीं उनके पैरों के नीचे ही कोई तिलस्म न हो।

तिलस्मों में मूलरूप में अतिप्राकृत भावना का आरोप न था। तिलस्म की सृष्टि में अद्भुत कौशल और अनोखी सूझ की आवश्यकता होती थी। उसकी उलझनें लखनऊ की भूल-भुलैयों की तरह चक्कर में डाल देने वाली होती थीं। तिलस्म का रहस्य न जानने वाला मनुष्य चाहे कितना ही चतुर क्यों न हो तिलस्म में पड़कर चक्कर में पड़ जाता था। परतु पिछले खेवे के लेखकों में इस प्रकार के अद्भुत तिलस्म सृष्ट करने की क्षमता न थी, इस कारण वे क्रमशः अतिप्राकृत सूझों से काम लेने लगे। स्वय देवकीनदन खत्री के उपन्यासों में भी इस प्रकार के अतिप्राकृत प्रसंग आने लगे थे यथा, तिलस्मी खंजर के छुलाने मात्र से मनुष्य के शरीर में बिजली लगने की सी सनसनी पैदा होती थी और वह बेहोश हो जाता था और तिलस्मी तलवार कमर के चारों ओर लपेटी जा सकती थी। परतु पिछले खेवे के कुछ उपन्यासकारों के तिलस्म तो बहुत कुछ जादू से जान पड़ते हैं। निहालचद वर्मा रचित 'जादू का महल' में तो हमें जादूगरनी माया का अपने मत्र के बल से अपने उस्ताद से युद्ध करने का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस उपन्यास में तिलस्म, महल, बंदीगृह सभी जादू के हैं। राजकुमार अजयसिंह एक खुली जगह में रहता है जिसके चारों ओर एक आग जलती रहती है जो जादू द्वारा जलाई जाती है और जादू द्वारा एक पल में ही बुझाई भी जा सकती

फिर भी इसमें कोई संन्देह नहीं कि हिन्दी में कुछ बहुत ही सुदर और मनोरजक कथा-प्रधान उपन्यास लिखे गए।

(१) कथा-प्रधान उपन्यासों के भिन्न रूप—(क) तिलस्मी

हिन्दी में अनेक प्रकार के कथा प्रधान उपन्यास लिखे गए परतु देवकी-नदन खत्री इत्यादि के तिलस्मी और अय्यारी उपन्यास ही सबसे अधिक लोक प्रिय हुए। प्रायः सभी तिलस्मी उपन्यासों का कथानक कुछ इस प्रकार का होता था : कोई सुदर और वीर राजा या राजकुमार किसी राजकुमारी को उपवन अथवा किसी ऐसे ही स्थान में देखकर प्रथम दर्शन में, अथवा उसके सौन्दर्य की कीर्ति सुनकर, अथवा उसका चित्र देखकर उससे प्रेम करने लगता है और राजकुमारी भी इन्हीं ढगों से इस राजकुमार पर आसक्त हो जाती है। परतु दोनों वशों के पुरातन वैमनस्य अथवा किसी अन्य सामाजिक, राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत कारणों से उन दोनों के विवाह-संबध में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। राजकुमार और राजकुमारी दोनों इस मिलन के लिए अपने-अपने अय्यार छोड़ते हैं। इसी समय नायक से प्रेम करने वाली अन्य राजकुमारियाँ अथवा नायिका के अन्य प्रेमी भी नायक के विवाह में विघ्न डालने तथा अपने षड्यत्र में सफल होने के लिए अपने-अपने अय्यार छोड़ते हैं। इस प्रकार विविध अय्यारों के घात-प्रतिघात से उपन्यास का कथानक जटिल होता जाता है। अय्यारों के घात-प्रतिघात-जन्य उलझनों मात्र से सतुष्ट न होकर उपन्यासकारों ने तिलस्मों की भी सृष्टि की। इन तिलस्मों का रास्ता और इनके भीतर का स्थान बड़ा ही अद्भुत और आश्चर्यजनक होता है। इनमें या तो बहुत सा धन सञ्चित रहता है, या कोई अद्भुत रहस्य छिपा होता है, अथवा नायक, नायिका तथा अय्यारों को बंद करने के लिए ये अभेद्य बदीगृह का काम देते हैं। अत में नायक और नायिका के अय्यार तिलस्मों के तोड़ने, प्रतिस्पर्द्धियों के अय्यारों को परास्त करने और बदी बनाने में सफल होते हैं और नायक नायिका का मिलन और विवाह हो जाता है और वे आनदपूर्वक अपने अय्यारों के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं।

तिलस्म का भाव हिन्दी में फ़ारसी कहानियों से आया। 'अलीबाबा और चालीस चोर' कहानी में जब अलीबाबा कहता है 'खुल जा सीसेम' तब एक सुरग सा खुल जाता है और एक तहखाना दिखाई पड़ता है और 'बद हो सीसेम' कहने पर वह इस प्रकार बद हो जाता है मानों वहाँ पृथ्वी छोड़ और

कुछ था ही नहीं। इसी को तिलस्म कहते हैं और फारसी कहानियों में इसका प्रायः उपयोग किया जाता है। फारसी से यह उर्दू में आया और अमीर हमज़ा ने अनेक तिलस्मी उपन्यास लिखे जिनमें अद्भुत तिलस्मों की सृष्टि की गई। देवकीनदन खत्री ने उर्दू से लेकर हिन्दी में तिलस्मों का प्रयोग किया परतु अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति और प्रतिभा के बल से उनमें इतना कौशल और अलौकिकत्व भर दिया कि वे उर्दू और फारसी के तिलस्मों से कहीं अधिक अद्भुत और आकर्षक बन गए। 'चद्रकाता' और 'चद्रकाता सतति' के तिलस्म अद्भुत कौशलपूर्ण और अपूर्व हैं। खत्री की देखादेखी अन्य लेखकों ने भी कितने ही नए तिलस्मों की सृष्टि की। धीरे धीरे तिलस्मों का प्रचार इतना अधिक बढ़ा कि सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मों का प्रयोग किया जाने लगा। ये तिलस्म इतने यथार्थवादी ढंग में भी वर्णित हुए और इतनी अधिक सख्या में लिखे गए कि तिलस्मी उपन्यासों के पाठक सभी जगह तिलस्म ही तिलस्म देखने लगे और कुछ पाठकों को तो ऐसी आशका होने लगी कि कहीं उनके पैरों के नीचे ही कोई तिलस्म न हो।

तिलस्मों में मूलरूप में अतिप्राकृत भावना का आरोप न था। तिलस्म की सृष्टि में अद्भुत कौशल और अनोखी सूझ की आवश्यकता होती थी। उसकी उलझनें लखनऊ की भूल-भुलैयों की तरह चक्कर में डाल देने वाली होती थीं। तिलस्म का रहस्य न जानने वाला मनुष्य चाहे कितना ही चतुर क्यों न हो तिलस्म में पड़कर चक्कर में पड़ जाता था। परतु पिछले खेवे के लेखकों में इस प्रकार के अद्भुत तिलस्म सृष्ट करने की क्षमता न थी, इस कारण वे क्रमशः अतिप्राकृत सूझों से काम लेने लगे। स्वयं देवकीनदन खत्री के उपन्यासों में भी इस प्रकार के अतिप्राकृत प्रसग आने लगे जैसे यथा, तिलस्मी खजर के छुलाने मात्र से मनुष्य के शरीर में बिजली लगने की सी सनसनी पैदा होती थी और वह बेहोश हो जाता था और तिलस्मी तलवार कमर के चारों ओर लपेटी जा सकती थी। परतु पिछले खेवे के कुछ उपन्यासकारों के तिलस्म तो बहुत कुछ जादू से जान पड़ते हैं। निहालचद वर्मा रचित 'जादू का महल' में तो हमें जादूगरनी माया का अपने मत्र के बल से अपने उस्ताद से युद्ध करने का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस उपन्यास में तिलस्म, महल, बंदीघर सभी जादू के हैं। राजकुमार अजयसिंह एक खुली जगह में रहता है जिसके चारों ओर एक आग जलती रहती है जो जादू द्वारा जलाई जाती है और जादू द्वारा एक पल में ही बुझाई भी जा सकती

है। ज्यों ही माया पृथ्वी पर अपना पैर पटकती है, एक बीस या पच्चीस फुट का लम्बा चौड़ा अत्यत भली मनुष्य उपस्थित हो जाता है जो उसकी सारी आशाओं का पालन करता है। इन कहानियों को पढ़कर फारसी कहानियाँ तथा 'सहस्र रजनी-चरित्र' की याद आती है।

तिलस्मी उपन्यासों में तिलस्मों से भी अधिक अद्भुत कौशलपूर्ण और मनोरजक अय्यारों की अवतारणा थी। अय्यारी झोला लिए हुए ये अय्यार वास्तव में अद्भुत थे। उनके छोटे से झोले मे विविध रसायनिक पदार्थ होते थे जिनकी सहायता से वे अपना रग, अपनी बोली और अपना मुँह तक बदल डालते थे, उसमें नक़ली दाँतों की श्रेणियाँ, वेश-परिवर्तन के लिए अनेक प्रकार के पहनाव तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ होतीं। उनके झोले में सब से अद्भुत वस्तु 'लखलखा' हुआ करती थी जिसे सुँघाते ही बेहोश आदमी उठ बैठता। वे अद्भुत रासायनिक होते थे। वे ऐसे धुँएँ पैदा कर सकते थे कि जिसे सूँघते ही आदमी बेहोश हो जाता था। 'चद्रकाता' में बद्रीनाथ ने ऐसे गोले बनाए थे कि उनके फूटने से जो धुँआँ उड़ता उसे सूँघने वाला बेहोश हो जाता परतु स्वय उसके पास ऐसी दवा थी कि उस पर धुँएँ का कुछ भी प्रभाव न पड़ता। फिर वे कारीगर भी बहुत अच्छे होते थे। मोम के ऐसे मनुष्य बनाते थे कि जीवित मनुष्य से उनमें ज़रा भी अतर नहीं रहता था। इतना ही नहीं, बुद्धि में भी वे आधुनिक जासूसों से कहीं अधिक चतुर और बुद्धिमान् हुआ करते थे। उनकी तरकीबें और चालें सभी मौलिक हुआ करतीं और उनके घात-प्रतिघात अत्यत कौशलपूर्ण और अद्भुत चातुर्य-युक्त होते थे।

जासूसों से भी अधिक चतुर और बुद्धिमान् होते हुए भी नैतिकता और वीरता की दृष्टि से वे अय्यार महावीर थे। नैतिकता और वीरता का उनका अपना नियम और दृष्टिकोण था जो बहुत कुछ मध्यकालीन राजपूतों से मिलता जुलता था। उनकी वीरता पर उनके स्वामियों को अभिमान हुआ करता था, उनकी स्वामिभक्ति पत्थर की चट्टान की भाँति अचल और अटल थी। कुछ इने गिने अय्यारों को छोड़कर वे नैतिक दृष्टि से सर्वदा ही महान् और साधु हुआ करते थे। स्त्रियों के प्रति उनका भाव सर्वथा पवित्र और निर्दोष हुआ करता था। एक अय्यार दूसरे अय्यार की हत्या नहीं करता था न उससे कोई दुर्व्यवहार, वह केवल उसे बदी बना सकता था अथवा उसे जीत कर अपने पक्ष में कर सकता था। दूसरों के भेदों और रहस्यों का वे समुचित आदर करते

थे और प्राण देकर भी उनकी रक्षा करते थे। वचन देकर हटना तो उन्होंने सीखा ही न था और युद्ध से वे कभी पीछे न हटते थे। इस प्रकार के वे अय्यार थे जिनका राजपूतों का सा उच्च और महान् नैतिक आदर्श था, राजपूतों के समान ही जिनकी वीरता थी; जो आधुनिक वैज्ञानिकों के समान रासायनिक थे; आधुनिक जासूसों सी जिनकी चतुरता और सतर्कता थी, सेनानायकों के समान जिनका रण कौशल था और जो आदर्श मित्र के समान स्नेह और प्रेम करते थे। उनकी अपनी एक विशेष भाषा थी जो वे ही समझ पाते थे। यथा, 'चद्रकाता' में बद्रीनाथ 'टेटी चोटी' और 'तेज मेमचे बद्री' कहता है, जिसे तेजसिंह तो समझ जाता है लेकिन डाकू लोग नहीं समझ पाते। मध्यकालीन राजपूतों के साथ अठारहवीं शताब्दी के ठगों और आधुनिक काल के रासायनिक जासूसों का सम्मिलन करा के अय्यारों की सृष्टि हुई थी। वास्तव मे अय्यार हिन्दी उपन्यास-साहित्य के अद्भुत अपूर्व आविष्कार हैं।

(स) साहसिक उपन्यास

ऐतिहासिक दृष्टि से और महत्त्व की दृष्टि से भी तिलस्मी उपन्यासों के बाद साहसिक उपन्यासों का स्थान है। इन उपन्यासों में साधारणतः डकैती का एक झुंड किसी नगर में आता है और धनियों के घर डाके पड़ते हैं। पुलीस और जासूस डाकू पकड़ने के लिए छोड़े जाते हैं और अंत में वे सफल भी होते हैं! साहसिक उपन्यास तीन प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के साहसिक उपन्यासों का प्रतिनिधि चद्रशेखर पाठक का 'अमीरअली ठग' है जिसमें प्रसिद्ध ऐतिहासिक ठग अमीरअली अपनी अतीत कहानी सुनाता है। परंतु उपन्यास का नायक अभयराम है जो वीर और उदार है। डाकू अथवा ठग जिस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं अभयराम उस प्रकार का ठग अथवा डाकू नहीं है। वह डाका अवश्य डालता है परंतु केवल अत्याचारियों और दुष्टों पर; निर्धनों का वह पालक और रक्षक है। उसके आदमी वेश बदल कर इधर उधर घूमकर दुष्टों और अत्याचारियों का पता लगाते हैं। इस प्रकार जब अभयराम को पता लगता है कि चौधरी ने एक विधवा का सर्वस्व छीन लिया और विधवा अपने दो बच्चों को लेकर गली-गली भीख माँग रही है, तब वह तुरत चौधरी को दंड देता है और विधवा को उसकी संपत्ति दिलवाता है। इसी प्रकार वह

किशोर के भाई और घनेश्वरसिंह ज़मीन्दार को भी दंड देता है। पुलिस और निर्भयराम जासूस उसका पीछा करते हैं और अंत में वह अपने आदमियों के साथ गिरफ़्तार होता और सज़ा पाता है। ये ठग या डाकू वीर हैं, उदार हैं, अभिमानी हैं और मान पर मर मिटने वाले हैं, परन्तु उनका कार्य नैतिक दृष्टि से निकृष्ट है। वे अठारहवीं शताब्दी के ठगों के अनुगामी जान पड़ते हैं। उनका अपना स्वतंत्र नैतिक आदर्श है, वे सच्चे प्रेमी और वीर होते हैं परंतु उनके साधन, उनके कार्य आधुनिक सरकार के विधानों के प्रतिकूल हैं। इन डकैती उपन्यासों को अठारहवीं शताब्दी के ठगों के रोमांचकारी कृत्यों से बहुत प्रेरणा मिली।

द्वितीय प्रकार के साहसिक उपन्यासों के नायक डकैत प्रथम प्रकार के ठगों से नितांत विपरीत होते हैं। वे कामी, लोभी, कठोर और अमानुषिक कर्म करने वाले राक्षसों के समान होते हैं, वे धनी, निर्धन, सज्जन और दुष्ट सभी को लूटते खसोटते हैं, हत्या करने में उन्हें ज़रा भी संकोच नहीं, कंचन और कामिनी के प्रति उनके लोभ का कोई अंत नहीं। वे बड़े ही साहसी और बहादुर होते हैं। पुलीस और जासूस इनका पीछा करते हैं और अंत में डकैत पकड़े जाते हैं। एक ओर तो ये तिलस्मी और अय्यारी उपन्यासों के स्वच्छंदवादी वातावरण और आदर्शवादी चरित्रों से यथार्थ-वादी वातावरण और स्वाभाविक चरित्रों की ओर उतरते हुए जान पड़ते हैं और दूसरी ओर इन पर रेनाल्ड्स तथा अन्य अँगरेज़ी उपन्यासों का भी बहुत स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है। देवकीनंदन खत्री रचित 'काजर की कोठरी' में अय्यारों का मस्तिष्क और उनके साधन साधारण मनुष्य-कोटि के हैं। 'चंद्रकांता' के अय्यारों की तुलना में ये अय्यार अधिक रहस्यमय और साहसी हैं परंतु नैतिक आदर्श और वीरता में ये उनसे बहुत निकृष्ट हैं। तिलस्मी उपन्यासों के सज्जन और भले अय्यार इनमें जासूसों के रूप में दिखलाए गए हैं जो यश की प्राप्ति के लिए अथवा कर्तव्य वश चोर और डाकुओं का पीछा करते हैं, और दुष्ट तथा नीच अय्यार इनमें चोर और डाकू बन गए हैं जो रुपये के लिए सभी कुछ करने को तैयार रहते हैं और हत्या करने से भी नहीं हिचकते। अय्यारी झोला के स्थान पर अब क्लोरोफ़ार्म का प्रयोग होने लगा और खंजर का स्थान पिस्तौल ने ले लिया।

द्वितीय प्रकार के साहसिक उपन्यासों में दो भिन्न प्रकार के उपन्यास मिलते हैं। पहला, डकैती-उपन्यास में डाकुओं का एक गिरोह किसी

शहर में आकर डकैती और चोरी के अद्भुत कार्य कर दिखाता है। पुलीस और जासूस डाकुओं के पीछे लग जाते हैं; कभी-कभी तो वे डाकुओं के हाथ में पड़ जाते हैं और किसी प्रकार निकल भागते हैं; कई स्थानों पर विभिन्न परिस्थितियों में डाकुओं और जासूसों की मुठभेड़ होती है, घातें-प्रतिघातें चलती रहती हैं और अंत में डाकू बंदी बनाए जाते हैं। इस प्रकार के सभी उपन्यासों का कथानक प्रायः एक-सा ही होता है। दुर्गाप्रसाद खत्री रचित 'लाल पंजा' बहुत ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय डकैती-उपन्यास है जिसमें एक पत्र के सम्पादक ने एक डाकुओं का झुंड इकट्ठा करके बहुत ही अद्भुत और आश्चर्यजनक कारनामे दिखाए। पुलिस और जासूस उनका पीछा करते-करते हैरान हो गए परंतु डाकुओं का गिरोह पकड़ा नहीं जा सका और नित्य नई साहसपूर्ण चोरियाँ और डकैतियाँ होती रहीं। अंत में गोपालशंकर जासूस ने अपने अद्भुत बुद्धि-कौशल और साहस से डाकू-सरदार का पता लगाया और उससे मुठभेड़ की। इस प्रकार के डकैती-उपन्यासों में प्रायः जासूस या तो किसी गिरोह के आदमी को फोड़ लिया करते अथवा स्वयं डाकू बन कर उस गिरोह में घुस जाते थे और इस प्रकार उनको बंदी बनाया करते थे।

द्वितीय प्रकार के साहसिक उपन्यासों में दूसरे ढंग के उपन्यास रहस्य-पूर्ण उपन्यास कहला सकते हैं जिनमें खल-नायक (Villain) कोई डाकू नहीं होता वरन् सभ्य-समाज का भलामानुस होता जो भीतर-भीतर हत्याकारी षड्यंत्र रचा करता है। ये नीच षड्यंत्रकारी बड़े ही चतुर होते हैं, केवल रुपये ही के लिए नहीं वरन् कामिनी के लिए भी विविध षड्यंत्र रचा करते हैं और प्रायः प्रेम की उलझनों में पड़ने के कारण ही गिरफ्तार भी होते हैं। इन रहस्यपूर्ण उपन्यासों पर रेनाल्ड्स का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है। वास्तव में डकैती और रहस्यपूर्ण उपन्यास अंगरेज़ी के अनुकरण पर लिखे गए। रूपराम गुप्त की 'राजदुलारी' एक सुंदर रहस्यपूर्ण उपन्यास है जिसमें नाहरसिंह अपना सारा धन फूंककर निर्धन बन जाता है परंतु वह नरेन्द्रसिंह की पत्नी से प्यार करता है और नरेन्द्रसिंह को मारकर उसकी पत्नी और जमींदारी दोनों का स्वामी बनना चाहता है। सुजानसिंह और सुहासिनी वेश्या की सहायता से नाहरसिंह कितने ही षड्यंत्र रचता है परंतु अंत में सुहासिनी नरेन्द्रसिंह से

प्रेम करने लगती है और नरेन्द्रसिंह के मैनेजर मृत्युंजय सिंह के कौशल और बुद्धि-चातुर्य से नाहरसिंह मारा जाता है। इस उपन्यास का कथानक बहुत ही मिश्र और रहस्यपूर्ण है।

तृतीय प्रकार के साहसिक उपन्यास बीसवीं शताब्दी के हिंसात्मक आंदोलन के आधार पर लिखे गए। कुछ उत्साही देशभक्तों ने मातृभूमि भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिए एक गुप्त संस्था बनाई जिसका उद्देश्य था हिंसात्मक रीति से भारत को स्वतंत्र बनाना। चपेकर बंधुओं ने १८९७ में इसका प्रारंभ महाराष्ट्र में किया जो क्रमशः बढ़कर बंगाल, संयुक्त-प्रान्त और पंजाब तक फैल गया। 'रक्त-मंडल' उपन्यास इसी प्रकार का एक उपन्यास है। रक्त-मंडल का संस्थापन भारत को स्वतंत्र करने के लिए हुआ था। इस संस्था का नायक और संचालक नगेन्द्र बहुत बड़ा वैज्ञानिक है जिसने मृत्यु-किरण का आविष्कार किया। इस मृत्यु किरण तथा बम के गोलों के प्रयोग से रक्त मंडल कई अँगरेज़ अफसरों की हत्या करता है और कितने खज़ाने लूटता है। कितने जासूस रक्त-मंडल का पता लगाने निकलते हैं परंतु सबको जान से हाथ धोना पड़ता है। अंतः में गोपालशंकर एक देहाती बनकर नगेन्द्र की प्रयोगशाला में पहुँच जाता है और अपने अद्भुत चातुर्य और बुद्धि-कौशल से रक्त-मंडल का विध्वंस करके उसके नायकों को बंदी बनाता है। इस उपन्यास में चातुर्य और कौशल के साथ ही साथ वैज्ञानिक आविष्कार तथा दूर की सूझ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। मृत्यु-किरण और गोलों की भावना लेखक को शायद अँगरेज़ी लेखक वेल्स (Wells) की वैज्ञानिक कहानियों से मिली।

(ग) जासूसी उपन्यास

साहसिक उपन्यासों से ही मिलता जुलता गोपालराम गहमरी तथा अन्य लेखकों का जासूसी उपन्यास है। इसमें जासूस को किसी रहस्यपूर्ण षड्यंत्र को सुलझाना पड़ता है। कोई बड़ी चोरी, डाका अथवा हत्या हो जाने पर जासूस को अपराधी की खोज करनी पड़ती है। वह प्रत्येक घटना तथा घटना-स्थल की प्रत्येक वस्तु और निशान का सूक्ष्म परीक्षण करता, प्रत्येक बात का सूक्ष्म विश्लेषण करता और वातावरण तथा परिपार्श्व की सभी बातों की सहायता से अपराधी की खोज करता है और अपराधी अपने कुशल और रहस्यपूर्ण षड्यंत्रों, धमकियों तथा अन्य उपायों से अपने बचने की रीति निकाला करता है। जासूसी उपन्यासों में लेखक की विश्लेषण करने की प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन

होता है, उसे प्रत्येक बात को अलग करके उसका सूक्ष्म विश्लेषण करना पड़ता है। साधारण उपन्यासों में कई घटनाओं और प्रसगों का संश्लेषण करके उसे एक कथानक के रूप में देना पड़ता है परंतु जासूसी उपन्यास ठीक उसके विपरीत हुआ करते हैं जिसमें संश्लेषण के स्थान पर विश्लेषण प्रधान होता है।

जासूसी उपन्यास आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सर्वोत्तम प्रतिनिधि है जो प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करता है, प्रतीति (external show) के परदे में छिपे हुए सत्य का अन्वेषण करता है। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण पश्चिम की देन थी और उसी प्रकार जासूसी उपन्यास भी अँगरेज़ी के जासूसी उपन्यासकारों की रचनाओं के अनुकरण में लिखे गए।

उत्कृष्ट और सुंदर जासूसी उपन्यासों में दो विशेषताएँ होनी चाहिए—, पहली यह कि उनके कथानक बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थवादी हों और दूसरी यह कि कहानी की उलझनें बहुत ही सरल रीति से सुलझाई जाएँ और उनमें अतिप्राकृत और अतिमानुषिक शक्तियों का सहायता अथवा आरोप न हो। लेखक को ऐसी उलझनें उपस्थित करनी चाहिए कि साधारण पाठक उसका सुलझाना असभव-सा समझें और उन उलझनों को इस प्रकार सुलझाएँ कि उन्हें पढ़कर पाठक कह उठें कि बस यही ठीक है और इसे तो हम भी जान सकते थे। जासूसों में कोई असाधारण शक्ति अथवा बुद्धि नहीं होनी चाहिए। हाँ, वह सामान्य मनुष्यों से अधिक सतर्क, सभी साधनों से युक्त और सभी बातों के परीक्षण तथा विश्लेषण में अधिक विधियुक्त और कुशल हो, उसमें सहज बुद्धि और प्रत्युत्पन्न मति हो, वह साहसी सच्चा और सहृदय हो। जासूसी उपन्यास लिखने में गोपालराम गहमरी की प्रतिभा सर्वोत्कृष्ट थी। उन्होंने 'जासूस' नाम की एक मासिक पुस्तिका निकालनी प्रारंभ की जिसमें धारावाहिक जासूसी उपन्यास और जासूसी कहानियाँ प्रकाशित होती थीं। उनकी रचनाएँ बहुत ही लोकप्रिय थीं। 'हत्या का रहस्य' 'गेरुआ बाबा', 'मेम की लाश' और 'जासूस की ज़बानी' उनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

(घ) प्रेमाख्यानक उपन्यास

ऐय्यारी, साहसिक और जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमाख्यानक उपन्यास भी हिन्दी में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जिनमें प्रेमी और प्रेमिकाओं के हाव-भाव और संयोग-वियोग का सुंदर और विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रेमाख्यानों को दो विभिन्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक वर्ग में

प्रेम करने लगती है और नरेन्द्रसिंह के मैनेजर मृत्युजय सिंह के कौशल '
बुद्धि-चातुर्य से नाहरसिंह मारा जाता है। इस उपन्यास का कथानक बहुत
मिश्र और रहस्यपूर्ण है।

तृतीय प्रकार के साहसिक उपन्यास बीसवीं शताब्दी के हिंसात्मक आ
लन के आधार पर लिखे गए। कुछ उत्साही देशभक्तों ने मातृभूमि भारत
की स्वतत्रता के लिए एक गुप्त सस्था बनाई जिसका उद्देश्य था हिंसात्मक ·
से भारत को स्वतत्र बनाना। चपेकर बधुओं ने १८८७ में इसका प्रारम्भ म
राष्ट्र में किया जो क्रमशः बढ़कर बगाल, सयुक्त-प्रान्त और पजाब तक
गया। 'रक्त-मडल' उपन्यास इसी प्रकार का एक उपन्यास है। रक्त-म
का सस्थापन भारत को स्वतत्र करने के लिए हुआ था। इस सस्था का ना
और सचालक नगेन्द्र बहुत बड़ा वैज्ञानिक है जिसने मृत्यु-किरण का आ
ष्कार किया। इस मृत्यु किरण तथा बम के गोलों के प्रयोग से रक्त मडल
अँगरेज़ अफसरों की हत्या करता है और कितने खज़ाने लूटता है। कितने जा
रक्त-मडल का पता लगाने निकलते हैं परतु सबको जान से हाथ धोना पा
है। अतः में गोपालशकर एक देहाती बनकर नगेन्द्र की प्रयोगशाला में प
जाता है और अपने अद्भुत चातुर्य और बुद्धि-कौशल से रक्त-मडल का वि
करके उसके नायकों को बंदी बनाता है। इस उपन्यास में चातुर्य और कौ
के साथ ही साथ वैज्ञानिक आविष्कार तथा दूर की सूझ भी पर्याप्त मात्र
मिलती है। मृत्यु-किरण और गोलों की भावना लेखक को शायद अँग
लेखक वेल्स (Wells) की वैज्ञानिक कहानियों से मिली।

(ग) जासूसी उपन्यास

साहसिक उपन्यासों से ही मिलता-जुलता गोपालराम गहमरी तथा अ
लेखकों का जासूसी उपन्यास है। इसमें जासूस को किसी रहस्यपूर्ण षड्यन्त्र
सुलझाना पड़ता है। कोई बड़ी चोरी, डाका अथवा हत्या हो जाने पर जा
को अपराधी की खोज करनी पड़ती है। वह प्रत्येक घटना तथा घटना-स्
की प्रत्येक वस्तु और निशान का सूक्ष्म परीक्षण करता, प्रत्येक बात का स
विश्लेषण करता और वातावरण तथा परिपार्श्व की सभी बातों की सहा
से अपराधी की खोज करता है और अपराधी अपने कुशल और रहस्यपू
षड्यन्त्रों, धमकियों तथा अन्य उपायों से अपने बचने की रीति निकाला क
है। जासूसी उपन्यासों में लेखक की विश्लेषण करने की प्रतिभा का पूर्ण प्रदश

होता है, उसे प्रत्येक बात को अलग करके उसका सूक्ष्म विश्लेषण करना पड़ता है। साधारण उपन्यासों में कई घटनाओं और प्रसंगों का संश्लेषण करके उसे एक कथानक के रूप में देना पड़ता है परंतु जासूसी उपन्यास ठीक उसके विपरीत हुआ करते हैं जिसमें संश्लेषण के स्थान पर विश्लेषण प्रधान होता है।

जासूसी उपन्यास आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सर्वोत्तम प्रतिनिधि है जो प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करता है, प्रतीति (external show) के परदे में छिपे हुए सत्य का अन्वेषण करता है। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण पश्चिम की देन थी और उसी प्रकार जासूसी उपन्यास भी अँगरेज़ी के जासूसी उपन्यासकारों की रचनाओं के अनुकरण में लिखे गए।

उत्कृष्ट और सुंदर जासूसी उपन्यासों में दो विशेषताएँ होनी चाहिए—, पहली यह कि उनके कथानक बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थवादी हों और दूसरी यह कि कहानी की उलझनें बहुत ही सरल रीति से सुलझाई जाएँ और उनमें अतिप्राकृत और अतिमानुषिक शक्तियों का सहायता अथवा आरोप न हो। लेखक को ऐसी उलझनें उपस्थित करनी चाहिए कि साधारण पाठक उसका सुलझाना असंभव-सा समझें और उन उलझनों को इस प्रकार सुलझाएँ कि उन्हें पढ़कर पाठक कह उठें कि बस यही ठीक है और इसे तो हम भी जान सकते थे। जासूसों में कोई असाधारण शक्ति अथवा बुद्धि नहीं होनी चाहिए। हाँ, वह सामान्य मनुष्यों से अधिक सतर्क, सभी साधनों से युक्त और सभी बातों के परीक्षण तथा विश्लेषण में अधिक विधियुक्त और कुशल हो, उसमें सहज बुद्धि और प्रत्युत्पन्न मति हो, वह साहसी सच्चा और सहृदय हो। जासूसी उपन्यास लिखने में गोपालराम गहमरी की प्रतिभा सर्वोत्कृष्ट थी। उन्होंने 'जासूस' नाम की एक मासिक पुस्तिका निकालनी प्रारंभ की जिसमें धारावाहिक जासूसी उपन्यास और जासूसी कहानियाँ प्रकाशित होती थीं। उनकी रचनाएँ बहुत ही लोकप्रिय थीं। 'हत्या का रहस्य' 'गेरुआ बाबा', 'मेम की लाश' और 'जासूस की ज्वानी' उनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

(घ) प्रेमाख्यानक उपन्यास

ऐयारी, साहसिक और जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमाख्यानक उपन्यास भी हिन्दी में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जिनमें प्रेमी और प्रेमिकाओं के हाव-भाव और संयोग-वियोग का सुंदर और विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रेमाख्यानों को दो विभिन्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक वर्ग में

रीति-कवियों की शृंगार-भावना और परंपरागत प्रेम की व्यंजना मिलती है और दूसरे में उर्दू और फारसी कवियों के परंपरागत प्रेम का प्रदर्शन होता है। प्रथम वर्ग के उपन्यासों में प्रेम प्राय. प्रथम दर्शन में ही उत्पन्न हो जाता है और फिर रीति-कवियों की विविध नायिकाओं के अनुकरण पर अभिसार, उत्कंठा, मान इत्यादि प्रसंगों और भावनाओं का परंपरागत वर्णन मिलता है। इनमें रसात्मक, दूर की सूझ और ऊहात्मक उक्तियाँ खूब मिलती हैं। किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'अँगूठी का नगीना', 'कुसुम कुमारी' इत्यादि इसी वर्ग के उपन्यास हैं जिनमें नायक नायिका से रेल में, नाव में अथवा पानी बरसने के कारण भाग कर खड़े हुए किसी घर के बरामदे में मिल जाया करते हैं और प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो जाता है, जो प्रेम-पत्र अभिसार इत्यादि रीतियों से सिंचित होकर क्रमशः पल्लवित होता है और संयोग तथा दैव-घटनाओं की सहायता से उनका मिलन भी हो जाता है।

दूसरे वर्ग के उपन्यासों में फारसी काव्य के परंपरागत प्रेम का सुंदर चित्रण मिलता है। इनमें प्रेमी को प्रेमिका से मिलने के लिए बहुत बड़े-बड़े और साहसिक कार्य—पहाड़ तोड़ना, अपने प्रतिस्पर्द्धी से युद्ध करना अथवा ऐसे ही कितने अद्भुत कार्य करने पड़ते हैं। प्रेम का चित्रण शोखी, शरारत, चुहल इत्यादि से भरा होता है। इन प्रेमाख्यानों में अतिनाटकीय प्रसंगों तथा अस्वाभाविक और अयथार्थ कार्यों की भरमार रहती है। रामलाल वर्मा के 'गुलबदन' में अस्वाभाविक कार्य और अतिनाटकीय प्रसंग अधिकता से पाए जाते हैं।

प्रेमाख्यानक उपन्यासों में जी० पी० श्रीवास्तव रचित 'गंगा-जमुनी' (१९२०) का एक विशेष स्थान है। इसमें लेखक ने नायक के विविध प्रेम-प्रसंगों का हास्यपूर्ण शैली में विस्तृत वर्णन किया है। नायक पहले एक बंगालिन नलिनी से प्रेम करता है, फिर एक कहारी स्त्री चंचल से, फिर अपनी एक ईसाइन विद्यार्थी जूलियट से और इसी प्रकार और भी अनेक स्त्रियों से प्रेम करता है। उसके प्रेम-प्रसंगों का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। सभी जातियों की और सभी प्रकार की स्वकीया, परकीया और सामान्या नायिकाओं से विविध वातावरण में उसने प्रेम किया। पुस्तक में सभी प्रेम प्रसंगों और भावनाओं का बड़ा ही विस्तृत और हास्यमय चित्रण लेखक ने किया है। एक स्थान पर लेखक लिखता है :

अगर मधुमक्खी एक ही फूल पर संतोष किया करे तब तो दुनिया शहद

खा चुकी। यदि ये लोग (साहित्यिक जन) भी एक ही सौन्दर्य के उपासक रहते तो साहित्य में उत्तमा, मध्यमा, अधमा, स्वकीया, परकीया, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की नायिकाओं के विचित्र चरित्र, भाव, संकेत उक्ति, युक्ति, संयोग, वियोग और हाव-भाव का बाँकापन कौन वर्णन करता और उनमें भेद कौन बतलाता। इत्यादि

इस उपन्यास का कथानक बहुत कुछ इसी प्रकार का है जिसमें लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार की नायिकाओं के विचित्र चरित्र, भाव, संकेत, उक्ति, युक्ति और हाव-भाव का बाँकापन वर्णन करता है। हिन्दी में हास्यमय उपन्यासों का एकात अभाव है। केवल जी० पी० श्रीवास्तव के इस उपन्यास में हास्य का थोड़ा सा पुट मिल जाता है जो प्रायः उपन्यास की भाषा-शैली में ही निहित है। यथा :

हव् तेरे प्रेम की ! न जानें किस कमबख्त का शाप पड़ा है कि तेरा रास्ता कभी सीधा नहीं रहने पाता। कभी बेचैनी तड़पाती है कभी रुसवाई सताती है, कभी बेवफ़ाई रुलाती है, कभी डाह जलाती है कभी बदनामी जान लेती है और फिर विरह और वियोग तो सत्यानास ही करके छोड़ते हैं। इत्यादि

भाषा शैली के अतिरिक्त हास्यमय प्रसगों की भी स्थान-स्थान पर अवतारणा की गई है जिनमें अधिकाश अतिनाटकीय हैं। फिर जहाँ पर नायिकाओं की शोख़ी, शरारत और चुहलबाज़ियों का दृश्य दिखाया गया है वहाँ पर भी हास्य की अच्छी सृष्टि हुई है।

(ङ) ऐतिहासिक उपन्यास

हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास उच्च कोटि के और पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। संख्या में तो हिन्दी में भी ऐतिहासिक उपन्यासों की कमी नहीं है, यद्यपि वे तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों से बहुत कम हैं, परन्तु उच्च कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास इस काल में हिन्दी में एक भी नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हिन्दी में उपन्यास घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, शिक्षित और सभ्य जनता उपन्यास लिखना तो दूर रहा, पढ़ना भी पसंद नहीं करती थी। सभ्य और शिक्षित लेखक कविता, नाटक अथवा निबंध

इत्यादि लिखा करते थे, उपन्यास लिखना उस श्रेणी के लेखकों का काम था जो अधिक शिक्षित न थे और जिनमें कविता, नाटक अथवा निबंध लिखने की क्षमता न थी। वे केवल साधारण हिन्दी का ज्ञान रखते थे और भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ थे। हिन्दी में इस प्रकार की उपयोगी साहित्य था भी नहीं और अँगरेज़ी में इनका अध्ययन करना उन लेखकों के लिए संभव न था। इसके अतिरिक्त हमारे लेखकों में ऐसी प्रतिभा न थी जिससे इस प्रकार की मौलिक साहित्यिक रचनाओं की सृष्टि कर सकते जिसमें महाकाव्यों जैसा गंभीर कल्पनापूर्ण कथानक हो और प्रेम इत्यादि उच्च भावनाओं का अतिरंजित चित्रण हो। इस प्रकार की प्रतिभा के अभाव का कारण हमारे साहित्य ही में था। तीन सौ वर्षों से हिन्दी में केवल मुक्तक-काव्य की रचना हुई और खंडकाव्य, महाकाव्य तथा नाटकों की उपेक्षा होती रही। इसके परिणाम-स्वरूप हमारे कवियों और लेखकों का मस्तिष्क ऐसे साँचे में ढल गया कि वे जीवन के किसी एक अंग-विशेष अथवा प्रसंग मात्र का दिग्दर्शन कर पाते थे, किसी एक ओर ही उनकी कल्पना-शक्ति दौड़ पाती थी। जीवन के सर्वांगीण चित्र उनकी दृष्टि में न आते थे। एक उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास की रचना के लिए दो बातों की विशेष आवश्यकता होती है, (१) जिस युग और प्रांत का कथानक हो उस युग और प्रांत की संस्कृति, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति तथा रहन-सहन और चाल-ढाल का पूरा ज्ञान होना चाहिए और (२) कथानक गढ़ने के लिए एक अपूर्व कल्पना-शक्ति की आवश्यकता है जो जीवन का सर्वांगीण चित्र और मानव-जीवन की अतिरंजित भावनाओं का चित्रण कर सके। हिन्दी के उपन्यासकारों में इन दोनों विशेषताओं का अभाव था, इस कारण वे उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिख सके। तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की लोकप्रियता के कारण जनता ने भी कभी ऐतिहासिक उपन्यास की माँग न की। जो कुछ थोड़े से लोग ऐतिहासिक उपन्यास पढ़ना भी चाहते थे उनके लिए बँगला और मराठी से अनुवादित उपन्यास मिल जाया करते थे। साधारण जनता तो तिलस्म, जासूस तथा अय्यारों के पीछे पागल हो रही थी और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी इन्हीं की खोज करती थी। इसलिए उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्म, अय्यार आदि की सृष्टि किया करते थे।

हिन्दी के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास केवल नाम मात्र के ऐतिहासिक

है क्योंकि उनमें लेखकों ने इतिहास की ओट में तिलस्म, अय्यार और प्रेम-प्रसंगों की ही अवतारणा की है। उस युग का सांस्कृतिक वातावरण, महत् चरित्रों का चित्रण तथा महान् भावनाओं का अतिरंजित चित्र उनमें लेश-मात्र भी नहीं है। अस्तु, किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'लखनऊ की क़ब्र' में तिलस्म और अय्यारों का चित्रण है, 'शोणित तर्पण' मे, जिसमें १८५७ के सिपाही-विद्रोह का हाल है, सरदार रामसिंह की जासूसी का विशद वर्णन है जो नाना साहब और तातिया टोपी के सहायक रार्बट मैकेयर, अब्दुल्ला तथा उनके लुटेरे साथियों को बंदी बनाता है, और 'कोहेनूर' तथा 'शीश महल' में प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम प्रसंगों का चित्रण है। इन उपन्यासों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के द्वारा एक वातावरण की सृष्टि अवश्य कर दी गई है. ऐतिहासिक उपन्यास की और कोई विशेषता इनमें नहीं है।

हिन्दी में कुछ ऐतिहासिक उपन्यास उपन्यास रूप में इतिहास मात्र हैं जिनमें ऐतिहासिक कहानियाँ उपन्यास रूप में ढाल दी गई हैं। 'रानी दुर्गावती', 'वीरपत्नी अथवा रानी संयोगिता' में रानी दुर्गावती और संयोगिता की कहानियाँ गद्य में अर्द्धनाटकीय शैली में लिख दी गई हैं, जिनमें कहीं कहीं कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दिए गए हैं। अस्तु, 'रानी दुर्गावती' में लेखक ने एक हरामुद्दीन नामक देशद्रोही की अवतारणा की है जो आसफ़ खाँ के लिए मंडला दुर्ग का फाटक खोल देता है; और 'वीरपत्नी' में प्रताप सिंह और आनंदी की एक मौलिक प्रेम-कथा संयोगिता के इतिहास के साथ जोड़ दी गई है जिससे इस इतिहास के शुष्क वर्णन में एक औपन्यासिक सौन्दर्य आ गया है। 'चौहानी तलवार', 'सोने की राख', 'अवध की बेगम' इत्यादि इसी श्रेणी के ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें औपन्यासिकता तो बहुत कम है और इतिहास ही अधिक है। कथानक का कौशलपूर्ण गठन, महत् चरित्रों की अवतारणा और व्यापक प्रभावशाली प्रसंगों तथा अतिरंजित भावनाओं के चित्रण इनमें बहुत कम मिलते हैं।

केवल इने-गिने ऐतिहासिक उपन्यास ही वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में आ सकते हैं। ब्रजनंदन सहाय रचित 'लालचीन' एक सुंदर ग्रंथ है परंतु यह शेक्सपियर के 'मैकबेथ' Macdeth) नाटक का मध्य-कालीन मुस्लिम इतिहास के वातावरण में एक रूपांतर मात्र जान पड़ता है। श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र रचित 'वीरमणि' भी एक सुंदर रचना है जिसमें वर्णन के लिए अलाउद्दीन का चित्तौर पर चढ़ाई के

इत्यादि लिखा करते थे, उपन्यास लिखना उस श्रेणी के लेखकों का काम था जो अधिक शिक्षित न थे और जिनमें कविता, नाटक अथवा निबंध लिखने की क्षमता न थी। वे केवल साधारण हिन्दी का ज्ञान रखते थे और भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में सर्वथा अनभिज्ञ थे। हिन्दी में इस प्रकार की उपयोगी साहित्य था भी नहीं और अँगरेज़ी में इनका अध्ययन करना उन लेखकों के लिए संभव न था। इसके अतिरिक्त हमारे लेखकों में ऐसी प्रतिभा न थी जिससे इस प्रकार की मौलिक साहित्यिक रचनाओं की सृष्टि कर सकते जिसमें महाकाव्यों जैसा गंभीर कल्पनापूर्ण कथानक हो और प्रेम इत्यादि उच्च भावनाओं का अतिरंजित चित्रण हो। इस प्रकार का प्रतिभा के अभाव का कारण हमारे साहित्य ही में था। तीन सौ वर्षों से हिन्दी में केवल मुक्तक-काव्य का रचना हुई और खंडकाव्य, महाकाव्य तथा नाटकों की उपेक्षा होती रही। इसके परिणाम-स्वरूप हमारे कवियों और लेखकों का मस्तिष्क ऐसे साँचे में ढल गया कि वे जीवन के किसी एक अंग-विशेष अथवा प्रसंग मात्र का दिग्दर्शन कर पाते थे, किसी एक ओर ही उनकी कल्पना-शक्ति दौड़ पाती थी। जीवन के सर्वांगीण चित्र उनकी दृष्टि में न आते थे। एक उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास की रचना के लिए दो बातों की विशेष आवश्यकता होती है, (१) जिस युग और प्रांत का कथानक हो उस युग और प्रांत की संस्कृति, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति तथा रहन-सहन और चाल-ढाल का पूरा ज्ञान होना चाहिए और (२) कथानक गढ़ने के लिए एक अपूर्व कल्पना-शक्ति की आवश्यकता है जो जीवन का सर्वांगीण चित्र और मानव-जीवन की अतिरंजित भावनाओं का चित्रण कर सके। हिन्दी के उपन्यासकारों में इन दोनों विशेषताओं का अभाव था, इस कारण वे उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिख सके। तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की लोकप्रियता के कारण जनता ने भी कभी ऐतिहासिक उपन्यास की माँग न की। जो कुछ थोड़े से लोग ऐतिहासिक उपन्यास पढ़ना भी चाहते थे उनके लिए बँगला और मराठी से अनुवादित उपन्यास मिल जाया करते थे। साधारण जनता तो तिलस्म, जासूस तथा अय्यारों के पीछे पागल हो रही थी और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी इन्हीं की खोज करती थी। इसलिए उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्म, अय्यार आदि की सृष्टि किया करते थे।

हिन्दी के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास केवल नाम मात्र के ऐतिहासिक

है क्योंकि उनमें लेखकों ने इतिहास की ओट में तिलस्म, अय्यार और प्रेम-प्रसंगों की ही अवतारणा की है। उस युग का सांस्कृतिक वातावरण, महत् चरित्रों का चित्रण तथा महान् भावनाओं का अतिरंजित चित्र उनमें लेश-मात्र भी नहीं है। अस्तु, किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'लखनऊ की क़ब्र' में तिलस्म और अय्यारों का चित्रण है; 'शोणित तर्पण' में, जिसमें १८५७ के सिपाही-विद्रोह का हाल है, सरदार रामसिंह की जासूसी का विशद वर्णन है जो नाना साहब और तांतिया टोपी के सहायक राबर्ट मैकेयर, अब्दुल्ला तथा उनके लुटेरे साथियों को बंदी बनाता है; और 'कोहेनूर' तथा 'शीश महल' में प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम प्रसंगों का चित्रण है। इन उपन्यासों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के द्वारा एक वातावरण की सृष्टि अवश्य कर दी गई है ऐतिहासिक उपन्यास की और कोई विशेषता इनमें नहीं है।

हिन्दी में कुछ ऐतिहासिक उपन्यास उपन्यास रूप में इतिहास मात्र हैं जिनमें ऐतिहासिक कहानियाँ उपन्यास रूप में ढाल दी गई हैं। 'रानी दुर्गावती', 'वीरपत्नी अथवा रानी संयोगिता' में रानी दुर्गावती और संयोगिता की कहानियाँ गद्य में अर्द्धनाटकीय शैली में लिख दी गई हैं, जिनमें कहीं कहीं कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दिए गए हैं। अस्तु, 'रानी दुर्गावती' में लेखक ने एक हरामुद्दीन नामक देशद्रोही की अवतारणा की है जो आसफ खाँ के लिए मडला दुर्ग का फाटक खोल देता है; और 'वीरपत्नी' में प्रताप सिंह और आनंदी की एक मौलिक प्रेम-कथा संयोगिता के इतिहास के साथ जोड़ दी गई है जिससे इस इतिहास के शुष्क वर्णन में एक औपन्यासिक सौन्दर्य आ गया है। 'चौहानी तलवार', 'सोने की राख', 'अवध की बेगम' इत्यादि इसी श्रेणी के ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें औपन्यासिकता तो बहुत कम है और इतिहास ही अधिक है। कथानक का कौशलपूर्ण गठन, महत् चरित्रों की अवतारणा और व्यापक प्रभावशाली प्रसंगों तथा अतिरंजित भावनाओं के चित्रण इनमें बहुत कम मिलते हैं।

केवल इने-गिने ऐतिहासिक उपन्यास ही वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में आ सकते हैं। ब्रजनंदन सहाय रचित 'लालचीन' एक सुंदर ग्रंथ है परंतु यह शेक्सपियर के 'मैकबेथ' Macdeth) नाटक का मध्य-कालीन मुस्लिम इतिहास के वातावरण में एक रूपांतर मात्र ज्ञात पड़ता है। श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र रचित 'वीरमणि' भी एक सुंदर रचना है कि जिसमें वनिता के लिए अलाउद्दीन का चित्तौर पर चढ़ाई के

ऐतिहासिक प्रसंग से एक काल्पनिक प्रसंग का सुंदर सम्मिश्रण किया गया है। इस उपन्यास की एक विशेषता यह है कि इसमें हिन्दूधर्म के आदर्शों और धार्मिक भावनाओं की सुंदर व्यंजना हुई है। वृन्दावनलाल वर्मा ने कुछ उत्तम ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। उनके 'गढ़-कुंडार' में मध्यकालीन बुंदेलखंड की संस्कृति, उसकी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थित और वातावरण का सुंदर चित्रण मिलता है। छोटे छोटे सरदारों का आपस में झगड़ना, वीर राजपूतों की सरल और सच्ची वीरता, उनके प्रेम-प्रसंग और उनके मान और अभिमान इत्यादि का बड़ा सुंदर और कौशलपूर्ण चित्रण हुआ है।

परंतु सब कुछ लिखने के पश्चात् यह स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास संख्या और श्रेष्ठता दोनों ही की दृष्टि से बहुत ही अवनत अवस्था में हैं। हिन्दी में ऐसा एक भी ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है जिसकी तुलना बँगला साहित्य के 'चंद्रशेखर', 'माधवी-कंकण', 'शशांक', 'करुणा', 'राजपूत-जीवन-संध्या' और 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात', अथवा मराठी के 'सूर्यग्रहण', 'उषाकाल', 'छत्रसाल' और 'सम्राट् अशोक' इत्यादि उपन्यासों से की जाय।

(च) पौराणिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यासों से ही मिलते जुलते पौराणिक उपन्यासों की सृष्टि हुई जिनका कथानक पुराणों से लिया गया था। 'सती सीता,' 'वीर कर्ण', 'सुभद्रा' इत्यादि पौराणिक उपन्यास कई कारणों से लिखे गए थे। पहला कारण जनता को, जो अँगरेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से दिन दिन अपने प्राचीन साहित्य और संस्कृति के प्रति उदासीन-सी होती जा रही थी, प्राचीन साहित्य से परिचित कराना और उन्हें उपदेश देना था। दूसरा कारण था उपन्यासों के लिए उपयुक्त उपकरणों और सामग्री का अभाव। जनता की उपन्यासों की माँग बराबर बढ़ती जा रही थी और विषय और उपादान सीमित थे इसलिए कुछ उपन्यासकारों ने पुराणों से सामग्री लेनी प्रारंभ कर दी। तीसरा और मुख्यतम कारण था स्त्री-शिक्षा का प्रसार। स्त्री-शिक्षा के प्रसार से स्त्रियों को भी उपन्यासों की आवश्यकता पड़ी। तिलस्मी, अय्यारी और जासूसी उपन्यास उन्हें पसंद नहीं थे, उन्हें तो धार्मिक कहानियों की आवश्यकता थी क्योंकि स्त्रियाँ

स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति की होती है। अतः उनके लिए पौराणिक उपन्यास लिखे गए।

इन उपन्यासों में साहित्यिक रूप तथा भाषा के अतिरिक्त और कोई मौलिकता न थी। कथानक सभी पुराणों से लिए गए थे और चरित्र भी सभी पौराणिक थे। केवल जहाँ तहाँ कथा में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन अवश्य कर दिए गए और कहीं कहीं कुछ साधारण नए चरित्रों की भी अवतारणा हुई परंतु मूलरूप में वे पुराण से भिन्न नहीं थे। अन्य कथा-प्रधान उपन्यासों से पौराणिक उपन्यासों की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। पहली यह कि इनमें नायक नायिका काल्पनिक नहीं हैं वरन् पुराणों से लिए गए हैं और स्थान काल के अनुसार कथानक में थोड़ा बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिया गया है। साथ ही इनमें अतिप्राकृत प्रसंगों की भी अवतारणा हुई है। दूसरी विशेषता यह है कि ये उपदेशप्रद उपन्यास हैं। इनमें पुराणों के आदर्श नायक और नायिकाओं का सुंदर चित्रण इस दृष्टि से किया गया है कि वे आधुनिक नर नारियों के लिए नमूने के समान हों और भारत के नर नारी उनका अनुकरण कर आदर्श चरित्र बनें। अस्तु, स्त्रियों के आदर्श के लिए महान् सतियों, जैसे सीता, सावित्री, अनुसूया, सुभद्रा, चंद्रलेखा, सती सीमतिनी और सती मदालसा इत्यादि के, और पुरुषों के आदर्श के लिए वीर कर्ण, एकलव्य, परशुराम इत्यादि महावीरों के चरित्र चित्रित किए गए।

(छ) अन्य कथा-प्रधान उपन्यास

इन उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ कथा-प्रधान-उपन्यास ऐसे भी हैं जो इनके अंतर्गत नहीं आते। इनमें लक्ष्मीदत्त जोशी-रचित 'ज्या-कुसुम अथवा नई सृष्टि' 'राबिन्सन क्रूसो' के ढंग की एक भ्रमण-कहानी है। इस उपन्यास का नायक मधुसूदन अफरीदी युद्ध देखने की इच्छा से पश्चिमोत्तर प्रदेश जाता है। वहाँ उसकी कैप्टन टामस तथा अन्य सेनानायकों से मित्रता हो जाती है, साथ ही वह कुछ अफरीदियों से भी परिचय प्राप्त करता है और एक अफरीदी बालिका गुलाब से तो बहुत ही घुल मिल जाता है जो उसे बहुत प्यार करती है। युद्ध के समाप्त होने पर मधुसूदन अपने छः साथियों को लेकर अरब सागर में एक द्वीप का नव अनुसंधान करता है और उसे एक उपनिवेश बना लेता है। वहाँ शासन-प्रबंध के

लिए इन सातों आदमियों की एक प्रबंधकारिणी समिति बनती है जिसका प्रधान महीने भर बाद इन्हीं में से एक बारी बारी हुआ करता था। यह उपन्यास 'राबिन्सन क्रूसो' और 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' जैसे अँगरेजी उपन्यासों का एक असफल अनुकरण मात्र जान पड़ता है। लेखक में न तो 'राबिन्सन क्रूसो' के रचयिता डीफ़ो (Defoe) की अद्भुत यथार्थवादिनी कल्पना शक्ति ही थी, न स्विफ्ट (Swift) की वह अद्भुत व्यंग्यात्मक प्रतिभा। इसी कारण यह एक असुंदर असफल सूझ मात्र रह गई है। पूरे उपन्यास में केवल एक ही विशेषता है—गुलाब का मधुसूदन के प्रति एक आदर्श निःस्वार्थ प्रेम और इस प्रेम से ही उपन्यास में थोड़ा बहुत सौन्दर्य आ गया है, नहीं तो यह बहुत ही नीरस, शुष्क और व्यर्थ प्रयास-सा है।

व्रजनंदन सहाय-रचित 'आरण्यबाला' बाण की 'कादंबरी' का एक भद्दा और असफल अनुकरण मात्र है। इसका कथानक उलझ-सा गया है। उपन्यास के मुख्य चरित्र पूर्व जन्म के कर्मों से अत्यधिक प्रभावित हैं। मुकुंद और व्रजमंजरी एक दूसरे के अस्तित्व से भी अपरिचित हैं, फिर भी मुकुंद स्वप्न में व्रजमंजरी को देखकर प्यार करने लगता है, क्योंकि पहले जन्म में वे एक दूसरे से प्रेम करते थे। इसी प्रकार मातंगिनी ने पिछले जन्म में मुकुंद और व्रजमंजरी का कुछ अपराध किया था, इसलिए वह अकारण ही मुकुंद से घृणा करती और व्रजमंजरी से आशंकित रहती है।

इन कथा-प्रधान उपन्यासों की सब से प्रधान विशेषता थी प्रेम का चित्रण। अँगरेजी राज्य के शांतिमय वातावरण में जनता के मनोरंजन के लिए प्रेम से बढ़कर और कौन सा विषय हो सकता था। भारतवर्ष में प्रेम साहित्य का एक मुख्य और चिरंतन विषय रहा है। हिन्दी में उपन्यासों का भी प्रारंभ उसी प्रेम के चित्रण से होता है। कथा-प्रधान उपन्यासों में प्रेम की सबसे प्रधान विशेषता थी उसका परंपरागत चित्रण। सभी उपन्यासों में प्रेम की धारा अबाध गति से बहती है। युवक और युवतियाँ बड़ी आसानी से प्रेम-धारा में बह जाती हैं। उनमें प्रेम या तो प्रथम दर्शन में ही हो जाता है, जैसा 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' में पाया जाता है, अथवा अनुपम सौन्दर्य और वीरता की ख्याति द्वारा होता है अथवा कभी-कभी चित्र देख कर भी प्रेम का उदय हो जाता है। 'शीश-महल' में इस्कंदर गुलशन से और 'वीरपत्नी अथवा रानी संयोगिता' में संयोगिता पृथ्वीराज से केवल उनके चित्र देख कर ही प्रेम करने लगती है। कभी-कभी स्वप्न-दर्शन भी प्रेम का

कारण होता है, जैसा ईश्वरीप्रसाद शर्मा के 'चंद्रकला' उपन्यास में मिलता है जहाँ चंद्रकला स्वप्न में सुदर्शन को देखकर उससे प्रेम करने लगती है। वियोग की दशा में लेखकगण विरह की एकादश दशाओं का विस्तृत वर्णन करते हैं और संयोग की दशा में वे हाव, भाव, हेला का चित्रण करना नहीं भूलते। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने प्रेमाख्यानों में इनका वर्णन विशेष रूप से किया है। उनके उपन्यासों में सभी प्रकार के नायक और नायिकाओं के दर्शन होते हैं। 'कुसुम कुमारी' में नायिका सामान्या है, 'अँगूठी का नगीना' में स्वकीया है और 'चपला' में परकीया के दर्शन होते हैं और इसी प्रकार भी नायक अनुकूल और दक्षिण सभी प्रकार के मिलते हैं। प्रेम-चित्रण की दृष्टि से इन उपन्यासों में रीति-कविता की प्रेम परंपरा मिलती है। तीन सौ वर्षों से हिन्दी में इसी प्रकार का प्रेम चित्रित किया जा रहा है और उपन्यासों में भी इसी प्रेम को स्थान मिला। जिस प्रेम के कारण 'करुणा' में गुप्त साम्राज्य का पतन होता है, जिस प्रेम के कारण 'शशांक' में शशांक का जीवन नष्ट हो जाता है, जिस प्रेम के कारण 'दीप निर्वाण' में हिन्दुओं का साम्राज्य मुसलमानों के हाथ में चला जाता है वह प्रेम और उसका अद्भुत व्यापक प्रभाव हिन्दी उपन्यासों में देखने को भी नहीं मिलता। इसका एकमात्र कारण यह है कि तीन सौ वर्षों से हमने प्रेम को हाव, हेला और मूर्च्छा, उन्माद, प्रमाद के रूप में ही चित्रित किया और देखा। फिर ऐतिहासिक उपन्यास, जहाँ निःस्वार्थ प्रेम का विशुद्ध रूप और उसका व्यापक प्रभाव उपयुक्त रूप से चित्रित किया जा सकता था, हिन्दी में लिखे ही नहीं गए। केवल वृंदावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुंडार' में दिवाकर के प्रेम में इस व्यापक प्रेम का एक छोटा सा उदाहरण मिलता है।

इन कथा-प्रधान उपन्यासों में चरित्र-चित्रण बहुत ही कम मिलता है। चरित्र सभी प्रायः किसी प्रकार-विशेष (type) के प्रतिनिधि से जान पड़ते हैं। कोई आदर्श प्रेमी है तो कोई अत्याचारी, कोई कठोर और निर्दय डाकू है तो कोई महान् लोभी। ये चरित्र अधिकांश में या तो बिल्कुल भले ही हैं या बिल्कुल ही बुरे; बीच में कोई नहीं। भले चरित्र शास्त्रों के नियमों का पालन करते हैं और बुरे चरित्र काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर तथा लोभ के शिकार हैं और ये किसी भी साधन से अपनी इच्छा-पूर्ति करना चाहते हैं — वे हत्या करने से भी नहीं हटते। जिस प्रकार के आदर्श इन उपन्यासकारों ने देखे और सुने थे, अथवा जिस प्रकार के व्यक्तियों की वे कल्पना कर सकते

थे (जैसे अय्यार), उस प्रकार के ठीक-ठीक यथार्थवादी चित्रण करने में उन्होंने कमाल कर दिखाया है, परतु कथानक के विविध प्रसगों के बीच किसी चरित्र का क्रमिक विकास दिखाने में उन्हें शायद ही कभी सफलता मिली हो। उनके स्त्री और पुरुष उपन्यास के प्रारभ में जिस प्रकार के चित्रित किए गए हैं अत में भी ठीक उसी प्रकार के मिलते हैं और यदि किसी प्रकार उनमें परिवर्तन भी हो गया है तो यों ही बिना कारण परिवर्तन करा दिया गया है, पाठक इस आकस्मिक परिवर्तन को समझने में असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'चपला' में हरिनाथ को लीजिए। वह बड़ा ही आलसी और निखट्टू आदमी है, कभी-कभी वह हास्यास्पद भी हो जाता है, परतु पुस्तक के अत में उसकी सतर्कता, क्रियाशीलता और कुशलता सबको चकित कर डालती है। पाठक यह समझ नहीं सकते कि यह ऊँघने वाला निखट्टू आदमी किस प्रकार इतना क्रियाशील बन गया।

इन कथा-प्रधान उपन्यासों के लेखकों ने ससार को एक अनोखे दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार मानव वीर और कायर, बुद्धिमान् और मूर्ख, सुदर और कुरूप हो सकता है, परतु स्वार्थत्यागी और उदार कभी नहीं हो सकता। मनुष्य की निश्छलता, सरलता और धार्मिकता पर उनका कभी ध्यान ही नहीं गया। उनके अच्छे चरित्र शास्त्रों का अध अनुकरण करने में बड़े प्रवीण हैं और उनकी अच्छाई शास्त्रों तक ही सीमित है, परतु उनमें स्वय की सहज बुद्धि भी नहीं है। ससार में सफलता प्राप्त करने के लिए अय्यारी में उनका विश्वास बहुत ही दृढ जान पड़ता है। जयराम गुप्त के उपन्यास 'दिल का काँटा' में एक पात्र का कहना है कि बिना अय्यारी के ससार में सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती, वह लोगों को अपने पिता तक का विश्वास न करने का उपदेश देता है। इन लेखकों के लिए ससार में सभी मनुष्य इतने अधिक स्वार्थी हैं कि उनका तनिक भी विश्वास नहीं किया जा सकता। उनके धार्मिक मनुष्य बाहरी व्यवहार, रहन-सहन और वेश-भूषा में तो अवश्य धार्मिक हैं परतु हृदय तक उनकी धार्मिकता की पहुँच नहीं है। लेखकों के इस अनोखे दृष्टिकोण का कारण बहुत-कुछ हमारी सामाजिक अवस्था है। बाह्य आचार के अत्याचार ने हमारे नैतिक विकास का गला घोंट दिया। विधि-व्यवस्था और आचार-व्यवहार पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण मनुष्यत्व के स्वाधीन ऊँचे अगों की अवहेलना हुई और हम अपने लाभ-हानि के अतिरिक्त और कुछ सोच भी नहीं पाते थे। दूसरी ओर हज़ार वर्षों की परतन्त्रता

ने तो जादू का काम किया। हम दिन पर दिन अधिक स्वार्थी और हीन होते गए। इन उपन्यासकारों ने तात्कालिक समाज के इस विशृंखल रूप को ही देखा और उसे ही सत्य मान लिया। पिछले उपन्यासकारों ने भी समाज को इसी रूप में पाया, परंतु उनमें मानव चरित्र के उदात्त गुणों के देखने की भी क्षमता थी, इसी कारण उन्होंने उन दोनों रूपों का चित्र उपस्थित किया। परंतु इन उपन्यासकारों ने केवल एकांगी चित्र उपस्थित किए। परंतु सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि इस प्रकार का दृष्टिकोण होते हुए भी उन्होंने काव्य-न्याय पर इतना अधिक ज़ोर दिया। साधारणतया संसार में सभी दुष्ट मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता, परंतु इन उपन्यासों में सभी अच्छे कर्म सफलीभूत हुए हैं और दुष्कर्म सदा असफल रहे। दैव-घटनाओं, संयोग और दुर्घटनाओं के अमोघ अस्त्र द्वारा ईश्वर दुष्टों को अवश्य दंड देता है और प्रत्येक सज्जन और धार्मिक पुरुष को अंत में सुखी और समृद्धिशाली बनाता है।

(२) चरित्र-प्रधान उपन्यास

कथा-प्रधान उपन्यासों के साथ ही साथ चरित्र-प्रधान उपन्यास भी लिखे जा रहे थे। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पहले हमें उपदेश-उपन्यासों के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'; लज्जाराम मेहता का 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दंपति' और 'आदर्श हिन्दू'; पारसनाथ सिंह का 'मँझली बहू'; गिरजाकुमार घोष की 'छोटी बहू' और प्रियम्वदा देवी का 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य' तथा अन्य उपन्यासों की गणना की जा सकती है। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखने के पूर्व इस प्रकार के कुछ घरेलू उपन्यासों का बँगला से अनुवाद किया जिनमें 'बड़े भाई', 'देवरानी जेठानी', 'दो बहिन', 'तीन पतोहू' और 'सास-पतोहू' मुख्य हैं। ये अत्यंत साधारण कोटि के उपन्यास थे। इनका वस्तु-विन्यास और चरित्र चित्रण किसी बालक द्वारा पेंसिल से खिंचे किसी साधारण और सरल चित्र के समान है जिसमें कहीं रंग गहरा पड़ गया है और कहीं रंग का पता भी नहीं। इनमें गंभीर परिस्थितियों तथा नाटकीय प्रभावों का बहुत अभाव था। इन उपन्यासों का मूल और महत्त्व इनके उपदेशों और उद्देशों में निहित था। साहित्यिक दृष्टिकोण से इनका कुछ भी महत्त्व न था।

थे (जैसे अय्यार), उस प्रकार के ठीक-ठीक यथार्थवादी चित्रण करने में उन्होंने कमाल कर दिखाया है, परतु कथानक के विविध प्रसगों के बीच किसी चरित्र का क्रमिक विकास दिखाने में उन्हें शायद ही कभी सफलता मिली हो। उनके स्त्री और पुरुष उपन्यास के प्रारभ में जिस प्रकार के चित्रित किए गए हैं अत में भी ठीक उसी प्रकार के मिलते हैं और यदि किसी प्रकार उनमें परिवर्तन भी हो गया है तो यों ही बिना कारण परिवर्तन करा दिया गया है, पाठक इस आकस्मिक परिवर्तन को समझने में असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'चपला' में हरिनाथ को लीजिए। वह बड़ा ही आलसी और निखट्टू आदमी है, कभी-कभी वह हास्यास्पद भी हो जाता है, परतु पुस्तक के अत में उसकी सतर्कता, क्रियाशीलता और कुशलता सबको चकित कर डालती है। पाठक यह समझ नहीं सकते कि यह ऊँघने वाला निखट्टू आदमी किस प्रकार इतना क्रियाशील बन गया।

इन कथा-प्रधान उपन्यासों के लेखकों ने ससार को एक अनोखे दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार मानव वीर और कायर, बुद्धिमान् और मूर्ख सुदर और कुरूप हो सकता है, परतु स्वार्थत्यागी और उदार कभी नहीं हो सकता। मनुष्य की निश्छलता, सरलता और धार्मिकता पर उनका कभी ध्यान ही नहीं गया। उनके अच्छे चरित्र शास्त्रों का अध अनुकरण करने में बड़े प्रवीण हैं और उनकी अच्छाई शास्त्रों तक ही सीमित है, परतु उनमें स्वय की सहज बुद्धि भी नहीं है। ससार में सफलता प्राप्त करने के लिए अय्यारी में उनका विश्वास बहुत ही दृढ़ जान पड़ता है। जयराम गुप्त के उपन्यास 'दिल का काँटा' में एक पात्र का कहना है कि बिना अय्यारी के ससार में सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती; वह लोगों को अपने पिता तक का विश्वास न करने का उपदेश देता है। इन लेखकों के लिए ससार में सभी मनुष्य इतने अधिक स्वार्थी हैं कि उनका तनिक भी विश्वास नहीं किया जा सकता। उनके धार्मिक मनुष्य बाहरी व्यवहार, रहन-सहन और वेश-भूषा में तो अवश्य धार्मिक हैं परतु हृदय तक उनकी धार्मिकता की पहुँच नहीं है। लेखकों के इस अनोखे दृष्टिकोण का कारण बहुत-कुछ हमारी सामाजिक अवस्था है। बाह्य आचार के अत्याचार ने हमारे नैतिक विकास का गला घोंट दिया। विधि-व्यवस्था और आचार-व्यवहार पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण मनुष्यत्व के स्वाधीन ऊँचे अगों की अवहेलना हुई और हम अपने लाभ-हानि के अतिरिक्त और कुछ सोच भी नहीं पाते थे। दूसरी ओर हजार वर्षों की परतत्रता

ने तो जादू का काम किया। हम दिन पर दिन अधिक स्वार्थी और हीन होते गए। इन उपन्यासकारों ने तात्कालिक समाज के इस विशृंखल रूप को ही देखा और उसे ही सत्य मान लिया। पिछले उपन्यासकारों ने भी समाज को इसी रूप में पाया, परतु उनमें मानव चरित्र के उदात्त गुणों के देखने की भी क्षमता थी, इसी कारण उन्होंने उन दोनों रूपों का चित्र उपस्थित किया। परतु इन उपन्यासकारों ने केवल एकागी चित्र उपस्थित किए। परतु सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि इस प्रकार का दृष्टिकोण होते हुए भी उन्होंने काव्य-न्याय पर इतना अधिक ज़ोर दिया। साधारणतया ससार में सभी दुष्ट मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता, परंतु इन उपन्यासों में सभी अच्छे कर्म सफलीभूत हुए हैं और दुष्कर्म सदा असफल रहे। दैव-घटनाओं, सयोग और दुर्घटनाओं के अमोघ अस्त्र द्वारा ईश्वर दुष्टों को अवश्य दड देता है और प्रत्येक सज्जन और धार्मिक पुरुष को अंत में सुखी और समृद्धिशाली बनाता है।

(२) चरित्र-प्रधान उपन्यास

कथा-प्रधान उपन्यासों के साथ ही साथ चरित्र-प्रधान उपन्यास भी लिखे जा रहे थे। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पहले हमें उपदेश-उपन्यासों के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'; लज्जाराम मेहता का 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दपति' और 'आदर्श हिन्दू'; पारसनाथ सिंह की 'मँझली बहू'; गिरजाकुमार घोष की 'छोटी बहू' और प्रियम्वदा देवी का 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य' तथा अन्य उपन्यासों की गणना की जा सकती है। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखने के पूर्व इस प्रकार के कुछ घरेलू उपन्यासों का बँगला से अनुवाद किया जिनमें 'बड़े भाई', 'देवरानी जेठानी', 'दो बहिन', 'तीन पतोहू' और 'सास-पतोहू' मुख्य हैं। ये अत्यत साधारण कोटि के उपन्यास थे। इनका वस्तु-विन्यास और चरित्र चित्रण किसी बालक द्वारा पेंसिल से खिंचे किसी साधारण और सरल चित्र के समान है जिसमें कहीं रग गहरा पड़ गया है और कहीं रग का पता भी नहीं। इनमें गंभीर परिस्थितियों तथा नाटकीय प्रभावों का पूर्ण अभाव था। इन उपन्यासों का मूल और महत्त्व इनके उपदेशों और उद्देशों में निहित था। साहित्यिक दृष्टिकोण से इनका कुछ भी महत्त्व न था।

थे (जैसे अय्यार), उस प्रकार के ठीक-ठीक यथार्थवादी चित्रण करने में उन्होंने कमाल कर दिखाया है, परन्तु कथानक के विविध प्रसंगों के बीच किसी चरित्र का क्रमिक विकास दिखाने में उन्हें शायद ही कभी सफलता मिली हो। उनके स्त्री और पुरुष उपन्यास के प्रारम्भ में जिस प्रकार के चित्रित किए गए हैं अंत में भी ठीक उसी प्रकार के मिलते हैं और यदि किसी प्रकार उनमें परिवर्तन भी हो गया है तो यों ही बिना कारण परिवर्तन करा दिया गया है, पाठक इस आकस्मिक परिवर्तन को समझने में असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'चपला' में हरिनाथ को लीजिए। वह बड़ा ही आलसी और निखट्टू आदमी है, कभी-कभी वह हास्यास्पद भी हो जाता है, परन्तु पुस्तक के अंत में उसकी सतर्कता, क्रियाशीलता और कुशलता सबको चकित कर डालती है। पाठक यह समझ नहीं सकते कि यह ऊँघने वाला निखट्टू आदमी किस प्रकार इतना क्रियाशील बन गया।

इन कथा-प्रधान उपन्यासों के लेखकों ने संसार को एक अनोखे दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार मानव वीर और कायर, बुद्धिमान् और मूर्ख, सुंदर और कुरूप हो सकता है, परन्तु स्वार्थत्यागी और उदार कभी नहीं हो सकता। मनुष्य की निश्छलता, सरलता और धार्मिकता पर उनका कभी ध्यान ही नहीं गया। उनके अच्छे चरित्र शास्त्रों का अंध अनुकरण करने में बड़े प्रवीण हैं और उनकी अच्छाई शास्त्रों तक ही सीमित है, परन्तु उनमें स्वयं की सहज बुद्धि भी नहीं है। संसार में सफलता प्राप्त करने के लिए अय्यारी में उनका विश्वास बहुत ही दृढ जान पड़ता है। जयराम गुप्त के उपन्यास 'दिल का काँटा' में एक पात्र का कहना है कि बिना अय्यारी के संसार में सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती; वह लोगों को अपने पिता तक का विश्वास न करने का उपदेश देता है। इन लेखकों के लिए संसार में सभी मनुष्य इतने अधिक स्वार्थी हैं कि उनका तनिक भी विश्वास नहीं किया जा सकता। उनके धार्मिक मनुष्य बाहरी व्यवहार, रहन-सहन और वेश-भूषा में तो अवश्य धार्मिक हैं परन्तु हृदय तक उनकी धार्मिकता की पहुँच नहीं है। लेखकों के इस अनोखे दृष्टिकोण का कारण बहुत-कुछ हमारी सामाजिक अवस्था है। बाह्य आचार के अत्याचार ने हमारे नैतिक विकास का गला घोंट दिया। विधि-व्यवस्था और आचार-व्यवहार पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण मनुष्यत्व के स्वाधीन ऊँचे अंगों की अवहेलना हुई और हम अपने लाभ-हानि के अतिरिक्त और कुछ सोच भी नहीं पाते थे। दूसरी ओर हज़ार वर्षों की परतन्त्रता

ने तो जादू का काम किया। हम दिन पर दिन अधिक स्वार्थी और हीन होते गए। इन उपन्यासकारों ने तात्कालिक समाज के इस विशृंखल रूप को ही देखा और उसे ही सत्य मान लिया। पिछले उपन्यासकारों ने भी समाज को इसी रूप में पाया, परतु उनमें मानव चरित्र के उदात्त गुणों के देखने की भी क्षमता थी, इसी कारण उन्होंने उन दोनों रूपों का चित्र उपस्थित किया। परतु इन उपन्यासकारों ने केवल एकागी चित्र उपस्थित किए। परतु सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह था कि इस प्रकार का दृष्टिकोण होते हुए भी उन्होंने काव्य-न्याय पर इतना अधिक ज़ोर दिया। साधारणतया ससार में सभी दुष्ट मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता, परतु इन उपन्यासों में सभी अच्छे कर्म सफलीभूत हुए हैं और दुष्कर्म सदा असफल रहे। दैव-घटनाओं, सयोग और दुर्घटनाओं के अमोघ अस्त्र द्वारा ईश्वर दुष्टों को अवश्य दड देता है और प्रत्येक सज्जन और धार्मिक पुरुष को अंत में सुखी और समृद्धिशाली बनाता है।

(२) चरित्र-प्रधान उपन्यास

कथा-प्रधान उपन्यासों के साथ ही साथ चरित्र-प्रधान उपन्यास भी लिखे जा रहे थे। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पहले हमें उपदेश-उपन्यासों के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'; लज्जाराम मेहता का 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दपति' और 'आदर्श हिन्दू'; पारसनाथ सिंह की 'मँझली बहू'; गिरजाकुमार घोष की 'छोटी बहू' और प्रियम्वदा देवी का 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य' तथा अन्य उपन्यासों की गणना की जा सकती है। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखने के पूर्व इस प्रकार के कुछ घरेलू उपन्यासों का बँगला से अनुवाद किया जिनमें 'बड़े भाई', 'देवरानी जेठानी', 'दो बहिन', 'तीन पतोहू' और 'सास-पतोहू' मुख्य हैं। ये अत्यत साधारण कोटि के उपन्यास थे। इनका वस्तु-विन्यास और चरित्र चित्रण किसी बालक द्वारा पेंसिल से खिंचे किसी साधारण और सरल चित्र के समान है जिसमें कहीं रग गहरा पड़ गया है और कहीं रग का पता भी नहीं। इनमें गभीर परिस्थितियों तथा नाटकीय प्रभावों का बहुत अभाव था। इन उपन्यासों का मूल्य और महत्त्व इनके उपदेशों और सदेशों में निहित था। साहित्यिक दृष्टिकोण से इनका कुछ भी महत्त्व न था।

यहाँ दो प्रकार के उपदेश उपन्यासों—आदर्शवादी पौराणिक उपन्यास तथा चरित्र-प्रधान उपदेश-उपन्यास—की परस्पर तुलना असंगत न होगी। इन दोनों प्रकार के उपन्यासों का उद्देश्य एक ही था—जनता को उपदेश देना—परन्तु पौराणिक उपन्यासों में कथानक पुराणों से लिया गया होता था, उनमें अतिप्राकृत प्रसंगों की अवतारणा होती और परंपरागत प्रेम तथा परपरागत गुणों (स्त्रियों के लिए पातिव्रत और पुरुषों के लिए दया, दाक्षिण्य, सत्य और तपस्या आदि) का अतिरंजित और आदर्शवादी चित्रण हुआ करता था। घरेलू तथा सामाजिक उपदेश-उपन्यासों में प्रतिदिन के जीवन की घर-घर की सामग्री लेकर कथा वस्तु गढ़ी जाती थी। उनमें अतिप्राकृत प्रसंगों की अवतारणा न होती, अस्वाभाविकता का लेश भी न था, वरन् यथार्थ जीवन का अतिशयोक्तिपूर्ण अतिरजित चित्र होता था। सामाजिक और घरेलू जीवन के दोषों को वे इस अतिरजित रूप में चित्रित करते थे कि लोग उनसे घृणा करने लगें और उनसे दूर होने का प्रयत्न करें।

उपदेश के दृष्टिकोण से पौराणिक उपन्यासों को घरेलू उपन्यासों से अधिक सफलता मिली और वे लोकप्रिय भी अधिक हुए। मनोरजन की दृष्टि से भी पौराणिक उपन्यास अधिक सफल हुए। घरेलू उपन्यासों में कथानक का सौन्दर्य और प्रभावशाली चरित्रों का चित्रण न था, और इनमें लाक्षणिकता (Significance) का भी अभाव था। इनके चरित्र और नायक इतने तुच्छ और साधारण चित्रित हुए हैं कि जनता उनके सुख दुख को अपना सुख दुख नहीं समझ सकती और उनके विचारों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझती। इसी कारण ये यथार्थवादी घरेलू उपन्यास अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। दूसरी ओर पौराणिक उपन्यासों के चरित्र पुराणों से लिए गए थे जो जनता के आदर के पात्र थे और उनका चरित्र-चित्रण पुराणों के आधार पर होने के कारण प्रभावशाली बन पड़ा है। इनके अतिरिक्त पौराणिक उपन्यासों के कथानक को जनता सच समझती थी क्योंकि वे पुराणों और धर्मग्रंथों से लिए गए थे, और उन्हें श्रद्धा से पढ़ती थी, परन्तु इन घरेलू उपन्यासों को वह झूठी कहानी मात्र समझती थी, इसीलिए केवल कहानी के लिए पढ़ लेती थी, उस पर श्रद्धा और विश्वास न करती न उससे शिक्षा ग्रहण करने का ही प्रयत्न करती थी।

उपदेश-उपन्यासों के पश्चात् प्रयोगात्मक चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखे गए, जिनका कथानक सामयिक सामग्री और उपादानों से लिया गया था।

मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल' (१९१४) और 'कल्याणी' (१९१८) तथा शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' (१९२५) इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न हैं। कला की दृष्टि से उनमें कथानक सौन्दर्य और चरित्र-चित्रण का अभाव है। एक शक्तिशाली चरित्र का मेरु-दंड (Backbone) न होने के कारण प्रसंगों का महत्त्व और मूल्य बहुत घट गया है। उनमें चरित्र भी अधिक से अधिक केवल रेखा चित्र (Sketches) और व्यंग्य-चित्र (Caricatures) मात्र हैं। एक महंत के शिष्य बाबा रामलगन दास का एक चित्र देखिए। वह कहता है :

गद्दी का हक मेरा है। उस बेईमान आत्माराम को अक्षर से तो गम्य नहीं है, और हियाँ हम शारोशत चन्द्रिका परंत घोंट डाले हैं। अच्छा देखेंगे न कैसे अघीयाराम मेरे ऐसे ऊँचे बराभन के रहते गद्दी चलायेंगे इत्यादि।

'रामलाल' में एक लुहार किशोर का चित्र देखिए :

किशोर लुहार भी महुए पर के बाबा से नहीं डरते थे और हनुमान चालीसा जानने की वजह से बराबर अकड़ा करते थे। महुए की डाल खड़खड़ाई नहीं, कि आप अपने घेघ-विभूषित गले से घोंय-घोंय करते हुए कहने लगते थे :

"महावीर जब नाम सुनावै, भूत पिशाच निकट नहि आवै।" इत्यादि

एक और चित्र दारोग़ा जी का 'देहाती-दुनिया' से लीजिए :

दारोग़ा जी के किसी पुश्त में दया की खेती नहीं हुई थी। उनके पिता पटवारी थे। पटवारी भी कैसे? ग़रीबों की गरदन पर अपनी क़लम टेने वाले। उनके क़लम की मार ने कितनों की कमर तोड़ दी थी, कितने बिना नाथा पैना के हो गए थे, कितनों का देस छूट गया था, कितनों के मुँह के टुकड़े छिन गए थे। इत्यादि

ये व्यंग्य-चित्र और रेखा-चित्र वास्तव में अपूर्व हैं, परंतु फिर भी ये चरित्र-चित्रण नहीं हैं। शायद इन लेखकों में इतनी अधिक प्रतिभा ही न थी। ये उपन्यास सामाजिक और घरेलू जीवन के चित्र उपस्थित करने के उद्देश्य से लिखे गए थे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस प्रकार के रेखा-चित्र और व्यंग्य-चित्र खींचने से बढ़कर और कोई अच्छा रास्ता भी न था। दलितों के सुंदर और स्पष्ट रेखा-चित्र और अत्याचारियों तथा पाखंडियों के व्यंग्य चित्र इनमें खूब मिलते हैं। वे किसी एक प्रभावशाली और महान् चरित्र के द्वारा

सामाजिक और घरेलू जीवन के सभी चित्र उपस्थित न कर सके, फिर भी रेखा-चित्रों द्वारा ही सभी चित्र चित्रित कर दिए। उपन्यास कला की दृष्टि से इन उपन्यासों में संक्राति, संक्रमण बिन्दु और चरम संधि इत्यादि कुछ भी नहीं है, मनोरंजक और गंभीर प्रसंग बहुत कम हैं केवल साधारण वर्णन-मात्र हैं और थोड़े से रेखा-चित्र, परंतु प्रयोग की दृष्टि से ये सफल रचनाएँ हैं और पिछले उपन्यासकारों को इन रेखा चित्रों से बहुत सहायता मिली।

प्रयोगात्मक उपन्यासों के पश्चात् वास्तविक कलापूर्ण चरित्र प्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे। प्रेमचंद ने 'सेवासदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२१), 'रंगभूमि' (१९२२) और 'कायाकल्प' (१९२४) शीर्षक उपन्यास लिखे, ब्रजनंदन सहाय ने 'राधाकांत', यदुनंदन प्रसाद ने 'अपराधी', विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'माँ', अवधनारायण ने 'विमाता', जगदीश झा 'विमल' ने 'आशा पर पानी' और शिवनारायण द्विवेदी ने 'छाया' नामक उपन्यास लिखे। और भी कितने उपन्यास लिखे गए। इन सबका कथानक सामयिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन से संबंध रखता है और इन सबकी मुख्य विशेषता इनका चरित्र-चित्रण है।

यद्यपि ये चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं किन्तु इन उपन्यासों में किसी एक शक्तिशाली चरित्र की, जिसके चारों ओर उपन्यास का कथानक गढ़ा जा सके, कमी है। प्रेमचंद को छोड़ कर हिन्दी में कोई दूसरा उपन्यासकार एक ऐसे शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण नायक की कल्पना करने में समर्थ नहीं हुआ, जैसे 'रंगभूमि' में सूरदास और 'प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर हैं। जिस प्रकार शरीर में रीढ़ की हड्डी कमज़ोर होने से शरीर का पूरा कंकाल ढीला और कमज़ोर हो जाता है, उसी प्रकार नायक के अशक्तिशाली और साधारण होने से उपन्यास का सारा ढाँचा कमज़ोर पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों में चरित्रों का क्रमिक विकास बहुत कम पाया जाता है। चरित्रों के क्रमिक विकास में असफल होने के कारण कथानक-सौन्दर्य और वैचित्र्य का भी विकास न हो सका, हाँ, कथा की गति बनाए रखने के लिए कृत्रिम और बाह्य साधनों का सहारा लेना पड़ा, प्रयोग और दैव-घटनाओं का सहारा लेकर नई-नई कृत्रिम उलझनों की सृष्टि करनी पड़ी। कथा की गति के लिए जिन अस्वाभाविक और सस्ते उपायों का उपयोग किया गया उन्हें देख कर निराश होना पड़ता है। 'उपकारिणी' में बहुत दिनों का खोया हुआ बालक अचानक संयोग से उपन्यास के नायक के

रूप में उपस्थित हो जाता है। प्लेग और हैज़ा तो लेखकों के जेब में रखे रहते हैं, जब कभी कोई विषम परिस्थिति उपस्थित हुई, तुरत प्लेग और हैज़ा उसे सुलझा दिया करते थे।

अब तक कथा प्रधान उपन्यासों में चरित्र किसी परंपरागत अथवा कल्पित प्रकार-विशेष (Types) के प्रतिनिधि स्वरूप हुआ करते थे। सभी प्रेमी एक से जान पड़ते थे, सभी अय्यार एक से चतुर थे। उपन्यास कला के द्वितीय उत्थान में प्रकार-विशेष का व्यक्तीकरण (Individualisation) हुआ। 'कौशिक' रचित 'माँ' में घासीराम बनियों का प्रतिनिधि है जो रुपये के लिए सब कुछ करने को उद्यत रहते हैं और श्यामनाथ माँ के लाड़-प्यार से बिगड़े हुए धनी और व्यर्थ बालक का प्रतिनिधि है। परंतु लेखक ने अपने यथार्थ चित्रण के बल से उनके स्वभाव की विशेष प्रवृत्तियों के, उनके बातचीत, रहन-सहन, चाल-ढाल की व्यक्तिगत विशेषताओं के, और उनके चरित्र के अन्य मनुष्यों से भिन्न करने वाले विशेष लक्षणों के चित्रण द्वारा इन विशिष्ट चरित्रों का व्यक्तीकरण कर दिया है। इस प्रकार श्यामनाथ, घासीराम और विश्वनाथ अपने प्रकार-विशेष के प्रतिनिधि-स्वरूप केवल व्यक्तिवाचक संज्ञा मात्र नहीं रह गए हैं, परतु उनमें कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं जो उन्हें उनके प्रकार-विशेष से अलग कर देता है।

चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में यह विकास बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। परतु चरित्र-चित्रण का पूर्ण विकास पहले पहल प्रेमचद ने ही प्रकट किया। उन्होंने ही पहले-पहल अपने चरित्रों की शारीरिक और नैतिक विशेषताओं की ओर ध्यान दिया, उनकी व्यक्तिगत रुचि, आदर्श, भावना तथा उनकी कमज़ोरियों का चित्र पाठकों के सामने उपस्थित किया। उदाहरण के लिए उनके 'सेवासदन' से पद्मसिंह को ले लीजिए। वे बड़े ही भलेमानुस हैं, परन्तु उन्हें लोगों के कहने का इतना अधिक ध्यान है कि वे कितने ही अच्छे कार्य इच्छा रहते हुए भी नहीं कर पाते, अपने सिद्धांतों पर दृढ़तापूर्वक नहीं टिक सकते। फिर भी हृदय के वे बड़े ही उदार, सहृदय और सच्चे आदमी हैं। अपने नाम पर धब्बा लगने से बचाने के लिए उन्होंने अपनी इच्छा के प्रतिकूल सुमन को अपने घर से बाहर निकाल दिया, परन्तु जब इसके परिणाम-स्वरूप वह वेश्या बन गई तब उन्हें अपना वह कार्य सुई के समान चुभता रहा। अपनी गाड़ी बेच कर पैदल ही कचहरी जाकर तथा अन्य आवश्यक खर्चों में कमी करके वे सुमन को [illegible] रुपये महीने देने को तैयार हैं, परन्तु अपने घर पर आश्रय

पा० ४०

पार्क में भी उससे मिलना उन्हें रुचिकर नहीं। इसी प्रकार मदनसिंह, सुमन, गजाधरप्रसाद इत्यादि सभी चरित्रों की शक्ति और दुर्बलताएँ, उनके सामाजिक, नैतिक और शारीरिक स्वभाव और विशेषताएँ, उनके चरित्र का उत्थान और पतन, सभी कुछ बड़ी सुंदरता के साथ चित्रित किया गया है।

फिर प्रेमचंद ने ही पहले-पहल दिखाया कि मानव-चरित्र कोई स्थिर वस्तु नहीं है, और न वह केवल श्याम है न केवल श्वेत ही, वरन् उसमें श्वेत और श्याम का मिश्रण है, वह सर्वदा गतिशील है। प्रत्येक मनुष्य के चरित्र पर उन सभी मनुष्यों का प्रभाव पड़ता है जो उसके संपर्क में आते हैं, उन सभी वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है जिनसे वे घिरे हैं, उन सब परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है जिनसे उनका संबंध है। स्वयं लेखक एक स्थान पर लिखता है :

> मानव चरित्र न बिल्कुल श्याम होता है न बिल्कुल श्वेत। उसमें दोनों ही रंग का विचित्र सम्मिश्रण होता है। किन्तु स्थिति अनुकूल हुई तो वह ऋषि तुल्य हो जाता है। प्रतिकूल हुई तो नराधम।

'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर इसी प्रकार का एक चरित्र है। हृदय से वह बुरा आदमी नहीं है परंतु परिस्थितियों के षड्यंत्र से उसका इतना पतन होता है कि वह हत्या तक कर डालता है। 'सेवासदन' में सुमन के चरित्र में इसका एक बहुत ही सुंदर उदाहरण मिलता है कि जीवन के गंभीर और महत्त्वपूर्ण कार्य केवल उन लोगों के प्रभाव मात्र से संघटित नहीं होते जिनसे भाग्यवश मानव का संपर्क हो जाता है, वरन् घर, गली, नगर, व्यवसाय, बचपन के स्वभाव और विचार तथा माता-पिता से सीखी हुई बातों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। गजाधरप्रसाद से एक छोटी सी बात पर झगड़ा होने के कारण ही सुमन घर छोड़ कर नहीं निकल गई थी, वरन् उसके पति की थोड़ी आय का, जिस घर में वह रहती थी उस छोटे से घर का, उस पतली गली का जिसमें से शहर के शोहदे और आवारा लड़के उसके घर के दरवाजे को घूरते हुए और उर्दू की भद्दी कुरुचिपूर्ण गजलें गाते हुए निकल जाया करते थे, नगर के उस नैतिक आदर्श का जहाँ वेश्या भोलीबाई मंदिर में ठाकुर जी के सामने नाचती-गाती थी और वह साध्वी-सती उसमें घुस भी न पाती थी, उसके दारोगा पिता से मिले हुए अभिमान और बाह्याडंबर की प्रवृत्ति का भी इस कार्य में विशेष भाग था। उस प्रत्यक्ष कारण के पीछे ये अप्रत्यक्ष

कारण कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार प्रेमचंद ने जीवन का पूर्णरूप से चित्रण किया। उन्होंने सभी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभावों का—वातावरण, परिस्थिति, स्वभाव, शिक्षा तथा जीवन के विशेष मनोवैज्ञानिक क्षणों के प्रभावों का—दिग्दर्शन कराया।

इनके अतिरिक्त प्रेमचद में चरित्र-चित्रण की एक ऐसी विशेष प्रतिभा थी जो अन्य उपन्यासकारों में नहीं मिलती। अन्य लेखकों ने चरित्रों का जीवन से बिल्कुल ही मिलता-जुलता चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। भौतिक जगत् में जिस प्रकार के मनुष्य मिलते हैं उनकी ठीक प्रतिकृति उन्होंने उपन्यासों में चित्रित की। परतु जीवन का अनुकरण मात्र कला नहीं है, वरन् जीवन के दूषित और असुंदर स्थलों को आदर्शवाद की पवित्र गगा में धोकर एक सुंदर रूप में उपस्थित करना ही वास्तविक कला है। यह कला प्रेमचद के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों में बहुत ही कम थी। प्रेमचंद में वह सृजनात्मक कल्पना (Creative Imagination) थी जिसके द्वारा उनकी रचनाओं में अद्भुत सौन्दर्य आ गया है। चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने में प्रेमचद हिन्दी में अद्वितीय हैं।

(क) प्राकृतवादी उपन्यास

चरित्र-प्रधान उपन्यासों में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिन पर प्राकृतवाद (Naturalism) की छाप बहुत स्पष्ट है। एक समालोचक ने लिखा है कि प्राकृतवाद साहित्यिक सौन्दर्य और गुणों की उपेक्षा करता है और विज्ञान द्वारा उद्घाटित जीवन के यथार्थ सत्य की व्यंजना करने का प्रयत्न करता है।* इस प्रकार का उपन्यास पहले पहल फ्रेंच लेखक एमिल ज़ोला (Emile Zola) ने लिखा था और क्रमशः इसका प्रचार इंगलैंड में भी हुआ और अँगरेज़ी के ही प्रभाव से कुछ लेखकों ने हिन्दी में भी प्राकृतवाद का प्रचार किया। चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र', इलाचद्र जोशी और चंद्रशेखर पाठक इस प्रकार के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन प्राकृतवादियों ने न तो प्रकार विशेष (Types) ही दिए और न आदर्श चरित्रों की अवतारणा की, वरन् इनके विपरीत ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जो पुकार-पुकार कर कहते हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अंतर नहीं,

*Naturalism disdains literary graces and purports to tell the truth about life as it has been revealed by the Sciences

विशेषकर विषय-भोग की दृष्टि से वे पशुओं से भी निकृष्ट और नीच हैं। इनकी रचनाओं में ऐसे नरपशुओं का चित्रण हुआ है जो समाज के कीड़े हैं। पुरुष और स्त्रियों के बाह्य सौन्दर्य के उत्तेजक चित्रण पर ही इन लेखकों का ध्यान अधिक गया है और चरित्रों का विकास अधिकांश परिस्थितियों के झुकाव और प्रगति के आधार पर चित्रित किया गया है। उपन्यासों का कथानक इन लेखकों ने समाज के निकृष्टतम समुदाय और जीवन के अत्यत घृणित और दूषित पक्षों से लिया। अस्तु, चद्रशेखर पाठक ने 'वारागना-रहस्य' म वेश्याओं के जीवन का सुदर चित्रण किया और चतुरसेन शास्त्री तथा वेचन शर्मा उग्र' ने विधवाश्रम तथा ऐसे ही घृणित स्थानों से अपना कथानक लिया। विशुद्ध कला की दृष्टि स इन लेखकों की रचनाओं में वस्तु-विन्यास और चरित्र चित्रण दोनों ही बहुत ही उच्च कोटि के हैं और उपदेश की दृष्टि से भी इनका महत्त्व और मूल्य पर्याप्त है, परतु सामयिक जीवन के चित्रण में इन लेखकों ने सुरुचि का प्रदर्शन नहीं किया। निस्सदेह 'दिल्ली का दलाल' 'घृणामयी' इत्यादि प्राकृतवादी रचनाएँ कला की दृष्टि से लिखी गई थीं कुरुचि फैलाने की दृष्टि से नहीं, परतु ऐसे समय में जब कि हिन्दी साहित्य के विकास और प्रसार के लिए साधारण जनता की रुचि को और भी ऊपर उठाना आवश्यक था, यह अधिक अच्छा होता कि ये कलाकार सर्वसाधारण तथा साहित्य के हित के लिए अपनी इस कला-प्रवृत्ति का निरोध कर सकते।

(३) भाव-प्रधान उपन्यास

भाव-प्रधान उपन्यास हिन्दी में बहुत ही कम लिखे गए। जयशकर प्रसाद का 'ककाल', व्रजनंदन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' और चडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'मनोरमा' कुछ महत्त्वपूर्ण भाव प्रधान उपन्यास हैं। उपन्यास में कार्य और गतिशीलता की दृष्टि से भाव-प्रधान उपन्यासों का स्थान सबसे अत में आता है। इन उपन्यासों का कथानक बहुत ही सरल होता है, उसमें न कोई उलझन है न सक्रांति, न कोई विकास है न कोई गभीर परिस्थिति, केवल थोड़ी सी घटनाएँ घटती हैं। लेखक का पूरा ध्यान चरित्रों की भावनाओं तथा हृदयोद्रेकों की स्पष्ट और कवित्वपूर्ण व्यजना की ओर ही रहता है। एक सरल कथानक के रूप में लेखक एक ढाँचा और ककाल सा खड़ा कर लेता है फिर इन्हीं कवित्वपूर्ण भावों द्वारा उसमें जान फूँक देता है।

भाव-प्रधान उपन्यासों की शैली बहुत ही कवित्वपूर्ण होती है। भाषा

उनकी ललित और अलंकृत तो होती ही है चरित्र-चित्रण भी बहुत ही भावुकतामय होता है। उनमें समता और विषमता के लिए समानातर चरित्रों की योजना होती है। उदाहरण के लिए 'हृदयेश' की 'मनोरमा' ले लीजिए। एक ओर मनोरमा है जो सती-साध्वी तो अवश्य है परतु अपने पति के संशयात्मक स्वभाव और कठोर व्यवहार से कुछ खिंची-सी रहती है और एक उत्तेजक क्षण में जब कि प्रकृति प्रलोभन से पूर्ण थी वह विचलित हो जाती है और एक सुदर, समृद्ध और युवक प्रोफेसर के साथ, जो अपने प्रेम की व्यंजना अत्यत कवित्वपूर्ण ढग से और अतिशयोक्ति के साथ करता है, भाग जाती है। दूसरी ओर शांता है जो विधवा है, सुदरी है, चारों ओर से उसे प्रलोभन दिए जा रहे हैं परतु उन सबके बीच वह चट्टान सी अटल है। वातावरण, परिस्थिति किसी से वह विचलित नहीं होती। मनोरमा और शाता दोनों के चरित्र एक दूसरे की समता और विषमता से और भी अधिक सुंदर और शक्तिशाली बन गए हैं। परतु चरित्र-चित्रण तो इन उपन्यासों का सबसे कम महत्त्वपूर्ण पक्ष है, इनकी सफलता का मुख्य श्रेय तो उन असतोषपूर्ण विद्रोहात्मक उक्तियों में है जो करुणायुक्त होते हुए भी दृढ़ता से पूर्ण हैं। यथा, 'ककाल' में घंटी की एक उक्ति सुनिए :

हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए कुछ सोचना विचारना चाहिए। और जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश हो, वहाँ प्राकृतिक स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूँ। इत्यादि

उसी ग्रंथ में अन्यत्र अतिशय दुःख-भार-ग्रस्ता यमुना कहती है :

मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा कर लिया था और कुछ मंत्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा दिया था, पर किया था प्रेम। यदि उसका यही पुरस्कार है तो मैं उसे स्वीकार करती हूँ। इत्यादि

इन विद्रोहात्मक हृदयोद्रेकों में कितना बल है! ज्ञान पड़ता है इन्हीं गीति-तत्त्वपूर्ण सुंदर उक्तियों की व्यंजना के लिए ही उपन्यास का ढाँचा तैयार किया गया है, पर उक्तियाँ ही इनकी जान हैं। फिर कवित्वपूर्ण प्रकृति-चित्रण,

कवित्वपूर्ण शैली और कवित्वपूर्ण चरित्र चित्रण सबके सयोग से भाव-प्रधान उपन्यास एक प्रकार से उपन्यास के रूप में काव्य से जान पड़ते हैं।

दोष

हिन्दी उपन्यासों के कुछ थोड़े में दोष दिखाना आवश्यक जान पड़ता है। प्रारंभिक उपन्यासों में रसात्मकता और परपरागत प्रेम इत्यादि का वर्णन बहुत अधिक मिलता है। इनके अतिरिक्त लेखकों को समानुपात-बोध (Sense of proportion) बहुत ही कम था। उपन्यासों में अधिक महत्त्वपूर्ण प्रसगों का विस्तृत वर्णन होना चाहिए और साधारण प्रसगों का सक्षिप्त वर्णन ही पर्याप्त है और कहीं-कहीं तो केवल सकेत से ही काम चल सकता है। परतु देवकीनदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी तथा अन्य प्रारभिक उपन्यासकारों ने प्रायः साधारण और कम महत्त्वपूर्ण प्रसगों का तो बहुत विस्तार दिया है किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रसग संक्षेप में ही वर्णित किए हैं। इससे उपन्यासों में कलात्मक सौन्दर्य की महान् क्षति हुई। यथा, 'चंद्रकाता सतति' में लेखक ने जमनिया के तिलस्म का तो बहुत ही अधिक विस्तार किया है, परतु अतिम अध्यायों में भूतनाथ के मुक़दमे का विवरण बहुत सक्षिप्त कर दिया है। 'अँगूठी का नगीना' और 'कुसुम कुमारी' में गोस्वामी ने मान, परिहास और अभिसार का तो विस्तृत वर्णन किया है परतु उपन्यास का वस्तु-विन्यास बहुत सक्षेप में दिया है। लेखक ने कथानक से अधिक महत्त्व प्रेम-प्रसगों को दिया है जिसे पढ़कर पाठक ऊब जाते हैं।

इन उपन्यासों में लेखकों ने अपने पांडित्य-प्रदर्शन के लिए प्रायः कोई भी अवसर जाने नहीं दिया। कभी-कभी तो काल, पात्र और स्थान के प्रतिकूल भी कितने ही वादविवाद केवल पांडित्य प्रदर्शन के लिए रख दिए गए हैं। 'आरण्यबाला' में एक ऐडवोकेट साहब बिना किसी तुक और ताल के रोम के क़ानून (Roman Law), कचहरी तथा क़ानूनी किताबों पर एक लबा भाषण दे डालते हैं। फिर एक स्थान पर 'नाम-करण संस्कार' पर भी एक भाषण दे दिया गया है। इसी प्रकार पूरी पुस्तक में स्थान-स्थान पर लेखक ने समालोचना, समाचार-पत्र, प्रेम इत्यादि कितनी ही असंगत बातों पर अपने विचार प्रकट किए हैं जिनका उपन्यास के कथानक और चरित्रों से कोई सबंध नहीं है। किशोरीलाल गोस्वामी ने भारतीय आयुर्वेद और ज्योतिष की सत्यता प्रमाणित करने के लिए कितने ही असगत प्रसंगों की अवतारणा की।

इस प्रकार की चीजें वे स्वतंत्र निबंधों के रूप में भी लिख सकते थे. परंतु उन्होंने उपन्यासों में ही इन सब का उल्लेख करना अच्छा समझा।

कुछ लेखकों ने उपन्यास के रूप में एक विस्तृत रूपक की अवतारणा की। 'मायापुरी' नाम की एक जासूसी पुस्तक एक पूर्ण रूपक है। पुस्तक के अंत में जायसी की भाँति 'मायापुरी' के लेखक ने भी रूपक का रहस्य इस प्रकार खोला है :

पाठको! हमारा यह शरीर और यह संसार एक मायापुरी है। इसमें कामरूप सिंह (काम) अमर्षसिंह (क्रोध), अभिलाषसिंह (लोभ), मोहनचंद्र (मोह), गर्वसिंह (मद) और हसद अली (मत्सर) प्रभृति कितने ही दस्यु उपद्रव मचाया करते हैं; जिससे यह शरीर रूपी मायापुरी सदा अशांति, अविचार तथा अनाचार का आगार बनी रहती है।

× × ×

इनसे अपनी रक्षा कर आत्मानंद के दरबार में निरपराधी प्रमाणित होने के लिए संयम रूपी मित्र, बुद्धि रूपी पिस्तौल, कर्म पटुता रूपी चक्रोफार्म और त्याग क्षमा, संतोष प्रभृति सिपाहियों का सहारा लेना परमावश्यक है। इत्यादि

रूपक की दृष्टि से उपन्यास बहुत ही सुंदर है। लेखक की सूझ उन निर्गुण कवियों को भी मात करती है जो इस प्रकार के रूपक लिखा करते थे। यथा :

पूरा सोई बानिया जो तौले सत नाम। इत्यादि

परंतु उपन्यास में इन रूपकों का क्या महत्त्व है! उपन्यास मनोरंजन की वस्तु है अध्यात्म-शिक्षा का साधन नहीं। चाँदकरण शारदा-रचित, 'कॉलेज हॉस्टेल' भी रूपकात्मक उपन्यास है जिसमें रूपक के द्वारा कॉलेज जीवन के सुधार का प्रयत्न किया गया है।

कई उपन्यासों में कुछ अस्वाभाविक और अयथार्थ बातें भी मिलती हैं। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चपला' में फ्रेंडशिप का एक चित्र खींचा है। हरिनाथ कामिनी ने प्रथम मिलन में ही उनका हाथ पकड़ कर नाम पूछता है और नाम जानने पर कहता है :

ख़ैर, तो जब तक कोई बात पक्की न हो, तब तक तुम मुझको भी अपना भाई समझो।

और फिर तुरत यह अद्भुत भाई उसके गालों, शिर, हाथ, कंधों, बाहुओं इत्यादि के चुंबन का क्रम प्रारंभ करता है। लेखक ने उपसंहार किया है

बस कोर्टशिप हो गया। भारतवर्ष के नव्य समाज का कोर्टशिप ऐसा न होगा तो कैसे होगा।

यह चित्र कितना अस्वाभाविक और विकृत है। लेखक की कोर्टशिप की भावना कितनी बेतुकी है। कभी-कभी तो प्रेमचंद भी गलती कर जाते हैं। 'रंगभूमि' में जब सूरदास को दो महीने की सज़ा सुनाई जाती है तब वह खड़ा होकर उपस्थित जनता को एक भाषण दे डालता है और जनता से पूछता है कि क्या वह भी उसे अपराधी समझती है। पुलीस न तो उसे बोलने से रोक पाती है न भीड़ को ही भगा पाती है। आधुनिक कचहरियों का यह दृश्य गलत ही नहीं असंभव भी है। कहीं कहीं उपन्यासों में अस्वाभाविक और अतिप्राकृत प्रसंगों की भी अवतारणा हुई है। 'प्रेमाश्रम' में हम देखते हैं कि ज्यों ही कर्तारसिंह सुक्खू के दिए हुए एक हज़ार चमकते रुपयों को छूता है त्यों ही वे चाँदी के सिक्के ताँबे के पैसे बन जाते हैं। यह एक असंभव घटना है और उपन्यासों में इनकी अवतारणा नहीं होनी चाहिए।

अनुवादित उपन्यास

हिन्दी में अनुवादित उपन्यासों की संख्या मौलिक उपन्यासों से शायद ही कम हो। अनुवाद अधिकांश बँगला से हुए। बंकिमचंद्र चैटर्जी, प्रभात मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र चैटर्जी के सभी उपन्यास अनुवादित हुए। मराठी से हरिनारायण आपटे और रमणलाल देसाई आदि के उपन्यास रूपांतरित हुए तथा उर्दू, उड़िया और गुजराती से भी अनुवाद किए गए। अँगरेज़ी से रेनाल्डस तथा अन्य जासूसी और साहसिक उपन्यासकारों के ग्रंथ अनुवादित हुए तथा फ्रेंच से विक्टर ह्यूगो और ड्यूमाज़ के उपन्यास भी अनुवादित हुए। इन अनुवादित उपन्यासों ने हिन्दी में पाठक उत्पन्न किए। देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यास निम्न श्रेणी की जनता में ही अधिक प्रचलित थे, सभ्य और शिक्षित समाज भीतर ही भीतर आकर्षित होते हुए भी बाहर से उनसे घृणा करता रहा। ऐसे पाठकों को बँगला के सुरुचिपूर्ण साहित्यिक उपन्यास अनुवादित रूप में दिए गए। एक बार इन अनुवादित उपन्यासों को पढ़कर

छठा अध्याय

कहानी

कहानी का प्रारंभ

आधुनिक काल में हिन्दी कहानी का प्रारभ और विकास पूर्णतया मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों के कारण हुआ। सुदर्शन और विनोदशकर व्यास इत्यादि समालोचकों ने कहानियों का प्रारभ जातक कथाओं और बृहत्कथा से ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया है, परतु आधुनिक कहानिकों का लेश मात्र भी उनमें नहीं मिलता। हिन्दी कहानियों का वास्तविक प्रारभ प्रयाग के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'सरस्वती' से होता है जिसे १९०० ई० में इडियन प्रेस ने चलाया। इसमें शेक्सपियर के अनेक नाटकों के अनुवाद कहानी-रूप में प्रकाशित हुए। १९०० ई० की जनवरी में सीम्बलीन' (Cymbeline), फरवरी में 'ऐथेन्स का टाइमन' (Timon of Athens) और मार्च तथा अप्रैल में 'पेरीक्लीज (Pericles) प्रकाशित हुए। इसमें बहुत से सस्कृत नाटक भी कहानी-रूप में प्रकाशित हुए जिनमें 'रत्नावली' और 'मालविकाग्निमित्र' की कहानी बहुत ही सुदर थी। 'सरस्वती' प्रकाशित होने के पहले ही गदाधरसिंह ने बाण-रचित 'कादबरी' को एक बड़ी कहानी के रूप में अनुवादित किया। आधुनिक कहानियों का प्रारंभिक रूप इन अनुवादित रचनाओं में स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ।

जून १९०० में किशोरीलाल गोस्वामी-लिखित हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' की स्पष्ट छाप मिलती है, यहाँ तक कि यदि इसे भारतीय वातावरण

के अनुकूल उसका रूपांतर भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। इन्दुमती भी मीरान्डा की भाँति विन्ध्याचल के सघन वन में अपने पिता के साथ रहती है, जहाँ उसने अपने पिता के अतिरिक्त किसी भी मनुष्य को नहीं देखा था। एक दिन वह अचानक पेड़ के नीचे एक सुंदर नवयुवक -अजयगढ़ के राजकुमार चंद्रशेखर—को देखती है जो पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी को हत्या कर भागा हुआ था और जिसका पीछा लोदी का एक सेनापति कर रहा था। इसी दौड़-धूप में उसका घोड़ा मर गया और वह भूखा-प्यासा पेड़ के नीचे पड़ा था। इन्दुमती और चंद्रशेखर प्रथम दर्शन में ही एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। इन्दुमती का वृद्ध पिता, जो वास्तव में देवगढ़ का राजा था और इब्राहीम लोदी द्वारा राज्य छिन जाने पर अपनी एकमात्र कन्या के साथ जंगल में रहता था, 'टेम्पेस्ट' के प्रास्पेरो की भाँति युगल प्रेमी के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए चंद्रशेखर से कठिन परिश्रम कराता है और स्वयं पहाड़ी के पीछे खड़े होकर नवयुवक हृदयों का प्रेम संभाषण सुनता है। अंत में दोनों का विवाह हो जाता है, क्योंकि इन्दुमती के पिता ने प्रतिज्ञा की थी कि जो इब्राहीम लोदी को मारेगा उसी को वह अपनी कन्या ब्याहेगा। चंद्रशेखर ने अनजाने ही यह प्रतिज्ञा पूरी कर दी थी और इन्दुमती के प्रति उसका प्रेम भी सच्चा था इससे पिता ने दोनों का विवाह करा दिया। इस प्रकार शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' और इसी प्रकार की एक राजपूत कहानी के सम्मिश्रण से हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी की रचना हुई।

इसके पश्चात् अनेक और कहानियाँ, अनुवादित और रूपांतरित रूप में, 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। पार्वतीनंदन और बंगमहिला ने कितनी ही बँगला कहानियों का रूपांतर किया। इसी समय पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता के संघर्ष से एक नवीन सभ्यता नगरों में फैल रही थी और भारतवासियों का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक मिश्र (Complex) होता जा रहा था। क्रमशः सामाजिक जीवन में प्रतिदिन की साधारण घटनाओं का महत्त्व बढ़ता जा रहा था और प्रतिदिन के साधारण प्रसंगों के द्वारा भी जनता के गंभीर और अन्तर्निहित भावों और विचारों को प्रभावित कर सकने की संभावना बढ़ती जा रही थी। लेखकगण साधारण घटनाओं को स्थान-चित्रण (Local colour) और यथार्थवादी चित्रण से प्रभावशाली बनाने लग गए थे। बंग महिला की 'दुलाई वाली' (सरस्वती, मई १९०७) कहानी इसी प्रकार की सर्व-प्रथम रचना है। वंशीधर अपने हँसमुख मित्र नवलकिशोर और उसकी पत्नी

से मिलने की आशा में जल्दी-जल्दी अपनी पत्नी के साथ बनारस से इलाहाबाद को प्रस्थान करते हैं, परतु मुगलसराय में वे अपने मित्र को न पा सके। मिर्ज़ापुर स्टेशन पर उन्हें अपने डिब्बे में एक 'दुलाई वाला' और एक अन्य स्त्री मिली। स्त्री का पति स्टेशन पर ही छूट गया और वह विलाप करने लगा। इलाहाबाद स्टेशन पर जब वशीधर उस स्त्री के पति का पता लगाने जाते हैं तब नवलकिशोर जो दुलाई वाली के रूप में उसी डिब्बे में बैठे थे, रूप बदलकर प्रकट हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों मित्रों का मिलन होता है। इस कहानी में कथानक-वैचित्र्य के साथ ही साथ यथार्थ और स्थान-चलन सयुक्त संलाप और वार्तालाप भी हैं। यथा, गाड़ी में रोती हुई नवलकिशोर की पत्नी से गाँव वाली स्त्रियों की बातें सुनिए :

दूसरी—भला पयाग जी काहे न आनी थ, वे कहे के नाहीं, तोहरे पच के धरम से चार दाईं नहाए चुकी हई। ऐसा हा सोमवारी, अठर गहन, दका दका लाग रहा, तउन तोहरे काशी जी नहाय गइ रहे।

पहली—आवैं जाय के तो सब अठते जात घटले बाटन। फुन यह सायत तो येचारो विपत में न पड़ल बाटिन। हे हम पचा हइ, रामघाट टिकस कटऊली, मोगल के सरायें उतरलीह, हो दे पुन चढ़लीह। इत्यादि

[कुसुम सग्रह—पृ० ८२]

इस प्रकार आधुनिक कहानी का आविष्कार हुआ जो कुछ ही दिन में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई।

कहानियों का प्रारभ एक दूसरे उद्गम से भी हुआ। इसके आविष्कारक जयशकर प्रसाद थे जिनकी सर्वप्रथम 'ग्राम' शीर्षक कहानी 'इन्दु' पत्रिका में १६११ में निकली थी। उनकी कहानियों का कथानक प्रतिदिन के जीवन से नहीं वरन् लेखक की कल्पनाशक्ति से प्रसूत होता था। वे कहानियाँ प्राचीन आख्यानक गीतियों, प्रेमाख्यानक काव्यों और खडकाव्यों के गद्यात्मक वशज जान पड़ती हैं। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' का 'रसिया बालम' ले लीजिए जो 'इन्दु', अप्रैल १६१२ में प्रकाशित हुआ था। यह गद्य में एक खडकाव्य के समान है। प्रथम भाग में रसिया बालम राजप्रासाद की खिड़की के सामने एक झरने के तट पर एक पाषाण पर बैठा हुआ रात भर खिड़की की ओर एकटक देखता है और सुबह होते ही अतर्धान हो जाता है। लेखक इसका बड़ा ही कवित्वपूर्ण चित्र खींचता है :

संसार को शान्तिप्रिय करने के लिये रजनी देवी ने अभी अपना अधिकार पूर्णतः नहीं प्राप्त किया है। अंशुमाली अभी अपने आधे बिम्ब को प्रतीची में दिखा रहे हैं। केवल एक मनुष्य अर्बुद गिरि सुदृढ़ दुर्ग के नीचे एक झरने के तट पर बैठा हुआ उस अर्ध स्वर्ण-पिण्ड की ओर देखता है और कभी-कभी दुर्ग के ऊपर राजमहल की खिड़की की ओर भी देख लेता है फिर कुछ गुनगुनाने लगता है। इत्यादि

दूसरे भाग में एक मनुष्य रसिया बालम के पास आता है जो अब भी उसी पत्थर पर बैठा हुआ खिड़की की ओर देख रहा है, और उसे बतलाता है कि राजकुमारी उससे प्रेम नहीं करती और प्रमाण-स्वरूप इसी अर्थ का राजकुमारी का एक पत्र भी दिखाता है। तीसरे भाग में नवयुवक अच्छी तरह सोच-विचार कर एक कपड़े पर अपने ही रक्त से एक पत्र लिखकर उस आदमी को देता है कि मेरे मरने के पश्चात् यह पत्र राजकुमारी को दे दीजिएगा और स्वयं पहाड़ी से कूद कर आत्मघात करना चाहता है। वह मनुष्य जो कि वास्तव में राजकुमारी का पिता है उसे आत्मघात करने से रोकता है और उसे अपने साथ दरबार में लाता है। राजकुमारी और रानी को भी दरबार में बुलाकर राजा रानी से कहता है कि वह अपनी कन्या का विवाह रसिया बालम से करना चाहता है जो वास्तव में एक राजकुमार बलवतसिंह है। रानी को यह संबंध बिल्कुल पसंद नहीं, परंतु राजा की दृढ़ता देखकर वह कहती है :

अच्छा मैं भी प्रस्तुत हो जाऊँगी पर इस शर्त पर कि अब यह पुरुष अपने बाहु-बल से उस झरने के समीप से नीचे तक एक पहाड़ी रास्ता काट कर बना देवे। उसके लिये समय अभी से सुबह केवल तब तक के लिये देती हूँ जब तक कि कुक्कुट का स्वर न सुनाई पड़े।

नवयुवक इस शर्त को स्वीकार कर लेता है और अपने औज़ार तथा मसाले के लिए दिए लेकर कार्य प्रारम्भ कर देता है। चतुर्थ भाग में नवयुवक फ़रहाद के प्रेमी नायकों की भाँति अबाध गति से निरंतर अपना काम कर रहा है। यह प्रेम था जो पत्थर तक को तोड़े डालता था। राजमहल के प्रकाशयुक्त खिड़की से एक सुंदर मुख कभी-कभी झाँक कर किसी को देख रहा है। अचानक कुक्कुट का स्वर सुनाई पड़ता है जो कि वास्तव में रानी की बनाई हुई आवाज़ है जो बलवन्तसिंह के प्रयत्नों पर पानी फेरने के लिए प्रयत्न कर रही है। युवक काम बंद कर देता है और चारों ओर सन्नाटा छा जाता है। राजकुमारी

चौंक कर खिड़की से बाहर झाँकती है और युवक को विष पीते देख चीत्कार कर मूर्छित हो जाती है। अंतिम भाग में मृत बलवतसिंह के पास राजा विलाप कर रहा है जब कि अचानक राजकुमारी वहाँ आती है और अपने पिता को बिना पहचाने पूछती है कि युवक ने उसके लिए कोई निशानी दी है। राजा कपड़े पर रक्त से लिखा पत्र राजकुमारी को देता है और उसके निवेदन को स्वय पढ़ कर सुनाता है। राजकुमारी अपने पिता को पहचान जाती है और "पिता जी क्षमा करना' कह कर शेष विष का पान कर जाती है और "पिता जी क्षमा करना" रटते-रटते प्राण दे देती है।

यह कथानक फारसी के प्रसिद्ध प्रेमाख्यान शीरीं फरहाद की टक्कर का है और प्रेमाख्यान काव्यों के लिए एक बहुत ही उपयुक्त कथानक है। यह कहानी गद्य में एक सुदर प्रेम-काव्य है और प्राचीन प्रेमाख्यानक काव्यों की परपरा में आती है।

अस्तु, आधुनिक कहानियों का प्रारम दो उद्गमों से होता है—एक तो लेखकों के प्रतिदिन के साधारण जीवन के मनोरजक प्रसगों को स्थान-चलनयुक्त और यथार्थवादी चित्रण की भावना के क्रमिक विकास से और दूसरा प्राचीन आख्यानक गीतियों, प्रेमाख्यानक काव्यों और खडकाव्यों तथा नाटकों के अनुकरण पर गद्य में कहानी के रूप में रचनाओं से। प्रथम उद्गम से यथार्थवादी कहानियों का प्रारम हुआ और द्वितीय उद्गम से आदर्शवादी कहानियों का। प्रेमचद, सुदर्शन, विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा, चद्रधर शर्मा गुलेरी इत्यादि यथार्थवादी सप्रदाय के कहानी-लेखक हैं और जयशकर प्रसाद, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', राधिकारमण सिंह इत्यादि आदर्शवादी सप्रदाय के।

कहानी का विकास

प्रारंभिक कहानियों में कथानक का क्रमिक विकास दैव घटनाओं (Chance) और सयोगों (Coincidences) द्वारा हुआ करता था। अस्तु, ज्वालादत्त शर्मा की कहानी 'विधवा' में राधाचरण की असामयिक मृत्यु के पश्चात् विधवा पार्वती को उसके चचिया ससुर और सास अनेक प्रकार से दुख दिया करते थे। दैवयोग से अपने पति की पुस्तकों में उसे 'सेल्फ़-हेल्प' नाम की एक पुस्तिका मिल जाती है जिसे पढ़कर उसमें साहस और उत्साह आता है और वह कठिन परिश्रम करके प्रथम

श्रेणी में बी० ए० पास कर लेती है और २५० रुपये वेतन पर हिन्दू गर्ल्स स्कूल की प्रिन्सिपल हो जाती है। वह विधवाश्रम खोलती है और स्त्री-सुधार के लिए अन्य कितने ही काम करती है। स्कूल की चपरासगिरी के लिए सैकड़ों अर्ज़ियों में उसके चचिया ससुर रामप्रसाद की भी एक अर्ज़ी है। पहले तो वह इस आकस्मिक मिलन से बहुत घबड़ाती है, परतु फिर धैर्य धारण कर उनका आदर-सत्कार करके दो हज़ार रुपये देती है। इस पूरी कहानी में दैव-घटना और सयोग से ही सब काम होता है। संयोग से ही पार्वती कम अवस्था में ही विधवा होती है। संयोग से ही उसे 'सेल्फ़-हेल्प' पुस्तक मिलती है और सयोग से ही उसके ससुर की चपरासगिरी की अर्ज़ी उसके हाथ में पड़ती है। दैव-घटनाएँ और सयोग ही इन कहानियों के प्राण हैं। कभी-कभी दैव-घटना और सयोग के द्वारा भी सुंदर कहानियों का निर्माण हो जाया करता है। 'कौशिक' की कहानी 'रक्षा-बंधन' में संयोग और दैव-घटना से ही एक मनोरजक कहानी बन गई है। इन्हीं के द्वारा ज्वालादत्त शर्मा की 'तस्कर' कहानी में पाकेटमार मिट्ठू भला आदमी बन जाता है। वह दिन में विराजमोहन की जेब कतरता है और रात को जिस मकान में सेंध लगाता है सयोग से वह घर भी विराजमोहन का ही निकलता है जहा उसकी स्त्री और बच्चा दाने-दाने को मोहताज हैं। विराजमोहन के बच्चे को देख कर मिट्ठू को अपने बच्चे की याद आ जाती है और करुणा से पिघल कर वह दिन का चुराया हुआ माल भी उसी घर में छोड़ कर बाहर चला आता है और भविष्य में एक भलेमानुस का सा जीवन व्यतीत करता है।

हिन्दी कहानी का प्रथम विकास प्रेमचद की प्रथम कहानी 'पच-परमेश्वर' में मिलता है जो पहली बार 'सरस्वती' में जून १९१६ में प्रकाशित हुई। इस कहानी के कथानक का क्रमिक विकास दैव-घटनाओं और सयोगों द्वारा नहीं हुआ वरन् चरित्रों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के द्वारा हुआ। दैव-घटनाएँ और सयोग इसमें भी थे परंतु वे गौण रूप में थे, प्रधानता मनो-विज्ञान की ही थी। इस कहानी का मुख्य सौन्दर्य चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में था। इसी प्रकार प्रेमचंद की सर्वोत्तम कहानियों में से एक कहानी 'आत्माराम' में मनोवैज्ञानिक चित्रण वास्तव में अद्भुत है। जब महादेव सुनार को रात में मोहरों से भरा एक कलसा मिल जाता है तब वह सोचने लगता है कि वह इन मोहरों का उपयोग किस प्रकार करेगा। लेखक ने महादेव के मानसिक चित्रण में कमाल ही कर दिया है। देखिए:

महादेव के अन्ध नेत्रों के सामने एक दूसरा ही जगत था — चिन्ताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गई, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले और वहाँ से लौट कर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्म-भोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुँआ बन गया, एक उद्यान भी आरोपित हो गया और वहाँ वह नित्यप्रति कथा पुराण सुनने लगा। साधु सन्तों का सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया कहीं चोर आ जाएँ तो मैं भागूँगा क्यों कर। उसने परीक्षा करने के लिये कलसा उठाया और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिन्ता शान्त हो गई। इत्यादि

इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक चित्र ही इस कहानी के प्राण हैं। इस कहानी में भी दैव घटनाओं और सयोगों का प्रभाव मिलता है और पर्याप्त मात्रा में मिलता है, परतु कथानक का समस्त सौन्दर्य मनोवैज्ञानिक चित्रों और प्रसगों में निहित है, दैव घटनाओं और सयोगों में नहीं। कहानी में उपन्यास की भाँति किसी चरित्र का अनेक कार्यों और प्रसगों के बीच यथाविधि विस्तृत चित्रण सभव ही नहीं है, इसीलिए कहानी का केन्द्र बिन्दु चरित्र-चित्रण नहीं हो सकता। कहानी-लेखक का मुख्य उद्देश्य नाटकीय प्रसगों की सृष्टि करना है। नाटकीय प्रसंगों की सृष्टि के लिए दैव-घटनाओं और सयोगों का किसी न किसी रूप में सहारा लेना ही पड़ता है और लगभग सभी कहानियों मे सयोग और दैव घटनाएँ मिलती हैं, परतु जहाँ प्रारम्भिक कहानियों में ये दैव घटनाएँ और सयोग ही कथानक का प्राण हुआ करती थीं, वहाँ मनोवैज्ञानिक कहानियों में मनोवैज्ञानिक चित्र और प्रसग ही कथानक और कहानी के प्राण होते हैं।

कहानी के द्वितीय विकास में सचेतन कला की विजय होती है। इसमें कलाकार कहानी के रूप में किसी महान् सत्य की व्यजना करता है। उदाहरण स्वरूप सुदर्शन-लिखित 'कमल की बेटी' कहानी ले लीजिए। भगवान् कृष्ण ने कमल के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे एक सुदरी तरुणी के रूप में परिवर्तित कर दिया परतु अब प्रश्न उठा कि यह सौन्दर्य प्रतिमा रहेगी कहाँ। समुद्र अतल है, हिमालय सदा हिम से आच्छादित रहता है, वनों में सूनापन है,

पुष्प-वाटिकाओं में ग्रीष्म की जलती हुई 'लू' चलती है और सरोवर में सेवार है। इस आदर्श सौन्दर्य के लिए संसार में कोई आदर्श-स्थल नहीं। भगवान् चिन्ताग्रस्त हो गए। अंत में उन्होंने देखा कि इस आदर्श सौन्दर्य के लिए केवल कवि का हृदय ही उपयुक्त स्थान है। वहाँ हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों की अभ्रभेदी उत्तुंगता है, हिल्लोलमय महासागर की गभीरता है, अरण्य का सूनापन और गिरि-कंदराओं का अंधकार है। उन्होंने कमल की बेटी से कवि के हृदय में रहने को कहा परंतु यह सुनते ही वह काँप उठी। भगवान् ने उसको सांत्वना दी :

"तुम सुन्दरी हो, तुम्हारा आसन कवि का हृदय है। यदि वहाँ हिम है तो तुम सूरज बन कर उसे पिघला दो, यदि वहाँ समुद्र की गहराई है तो तुम मोती बन कर उसे चमका दो, यदि वहाँ एकान्त है तो तुम सुमधुर संगीत प्रारम्भ कर दो, सन्नाटा टूट जायगा. यदि वहाँ अँधेरा है, तो तुम दीपक बन जाओ, अँधेरा दूर हो जायेगा।"

कमल की बेटी इनकार न कर सकी। वह अब तक वहीं रहती है।

यह एक कलापूर्ण सृष्टि है जिसमें लेखक ने अपनी दिव्य दृष्टि से जीवन के एक चिरंतन सत्य को प्रत्यक्ष कर कहानी के रूप में प्रकट किया जो पुराण-कथा (Myth) अथवा रूपक-कथा (Parables) से किसी प्रकार कम नहीं। इस प्रकार की पुराण-कथा अथवा रूपक-कथा की सृष्टि के लिए प्रेरणा लेखकों को प्राचीन पौराणिक कथाओं और रूपक-कथाओं से मिली जिनमें पुराण-कथाओं के रूप में जीवन के चिरंतन सत्य प्रकट किए जाते थे। ईसामसीह और स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा लिखित रूपक-कथाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। आधुनिक युग पुराण-कथाओं का युग नहीं है, यह तो बुद्धिवाद और यथार्थवाद का युग है। फिर भी रूपक-कथाओं और पुराण-कथाओं की सृष्टि करना एक कला है जिसका यदि बुद्धिमानी से उपयोग किया जाय तो यह सभी कालों और युगों में मान्य और आदरणीय हो सकती है। यदि ऐसी पुराण-कथाओं की सृष्टि की जाय जिन पर जनता का अन्धविश्वास न हो फिर भी वे विद्वानों और शिक्षित मनुष्यों की मानसिक तुष्टि कर सकें और इनमें मानव-जीवन के चिरंतन सत्य की व्यंजना हो, तो वे अवश्य ही कलापूर्ण सृष्टि कहलाएंगी। 'कमल की बेटी' एक ऐसी प्रकार की सृष्टि है। सुदर्शन ने इस [illegible] [illegible]।

कहानियाँ भी लिखी जिनमें 'संसार की सबसे बड़ी कहानी' बहुत सुंदर है। परंतु हिन्दी में अन्य कहानी-लेखकों ने इस प्रकार की कलापूर्ण कहानियाँ नहीं लिखीं।

कहानियों का वर्गीकरण

कहानी में पात्र अथवा चरित्र, वातावरण और प्रसंग तथा विविध चरित्रों और प्रसंगों के बीच संबंध, ये तीन मुख्य पक्ष होते हैं। जिस कहानी में पात्र अथवा चरित्र शेष दोनों पक्षों की अपेक्षा अधिक प्रधान होते हैं, उसे चरित्र प्रधान कहानी कहते हैं जैसे 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी' इत्यादि। जिस कहानी में वातावरण और प्रसंग चरित्र तथा चरित्रों और प्रसंगों के बीच संबंध से अधिक प्रधान होते हैं, उसे वातावरण-प्रधान कहानी कहते हैं। ऐसी कहानियों में किसी एक ऐसी भावना पर ज़ोर दिया जाता है जिसकी व्यंजना के लिए कहानी के विविध प्रसंगों और चरित्रों की सृष्टि होती है। जिस कहानी में चरित्रों और प्रसंगों के बीच संबंध, चरित्रों तथा प्रसंगों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं उसे कथा प्रधान कहानी कहते हैं। इस प्रकार की कहानियों में कोई विशेष चरित्र अनेक प्रसंगों और वातावरणों से गुज़रता है। इनके अतिरिक्त एक प्रकार की कहानी और होती है जिसे कार्य-प्रधान कहानी कहते हैं और जिसमें कार्य की प्रधानता होती है। जासूसी, साहसिक, रहस्यपूर्ण (Mystery) तथा भ्रमण-कहानियाँ इसी वर्ग के अंतर्गत आती हैं।

(१) चरित्र-प्रधान कहानी

चरित्र-प्रधान कहानियों में लेखक का मुख्य उद्देश्य किसी चरित्र का सुंदर चित्रण होता है। उदाहरण के लिए चतुरसेन शास्त्री का 'खूनी' (प्रभा, जनवरी १९२४) ले लीजिए। इसमें खूनी का बहुत ही सुंदर चरित्र-चित्रण हुआ है। वह एक गुप्त संस्था का सदस्य है जिसका उद्देश्य है षड्यंत्र और हत्या। उस संस्था का एक और सदस्य है—एक युवक, भोली चितवन और उदार हृदय वाला। नायक ने खूनी को उस युवक से मित्रता करने का आदेश दिया और शीघ्र ही दोनों में इतनी घनिष्ठता हो गई कि एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकता था। एक दिन जब खूनी अपने

इसी मित्र के प्रेमपत्र पढ़ने में निमग्न था, नायक ने उसे वु युवक की हत्या का आदेश दिया। संस्था के नियमों के अनुसार वह इसका कारण भी नहीं पूछ सकता था और उसके लिए हत्या के अतिरिक्त और कोई चारा ही न था। खूनी ने अपने मित्र की हत्या कर डाली जो अंत समय तक इसे मजाक समझ रहा था। इस हत्या के उपहार स्वरूप खूनी को नायकों की तेरहवीं कुर्सी मिली और उसकी एक इच्छा पूरी करने का वचन नायक ने दिया। खूनी ने अपने मित्र की हत्या का कारण पूछा और उसे उत्तर मिला कि वह संस्था के हत्या के उद्देश्य का विरोधी था और उसके मुखबिर बन जाने की आशंका थी। खूनी ने तेरहवें नायक की हैसियत से संस्था से पृथक् होने की अनुमति माँगी क्योंकि वह स्वयं भी इस अमानुषिक हत्या का विरोधी था। वह संस्था से पृथक हो गया, परंतु अपने मित्र की भोली चितवन वह जन्म भर न भूल सका। इस कहानी में घटनाओं और प्रसंगों का कुछ भी महत्त्व नहीं और यदि है भी तो केवल इसीलिए कि इन प्रसंगों ने खूनी के चरित्र में परिवर्तन उपस्थित किया। खूनी ही इस कहानी का केन्द्र है, खूनी का चरित्र ही इस कहानी का प्राण है।

चरित्र-प्रधान कहानियों के सर्वश्रेष्ठ लेखक प्रेमचंद हैं। उनकी 'आत्मा-राम', 'बड़े घर की बेटी', 'बाँका गुमान', 'दफ्तरी', 'बूढ़ी काकी', 'सारधा', 'मुक्ति मार्ग' 'अग्नि समाधि' और इसी प्रकार की असंख्य कहानियों में लेखक का चरित्र-चित्रण के संबंध में अद्भुत प्रतिभा का परिचय मिलता है। 'बड़े घर की बेटी' में आनंदी अपने देवर श्रीकंठ से अपमानित होने पर क्रोध में आकर उसे घर से निकाल देने का प्रण कर बैठती है और जब उसके पति उसी को प्रसन्न करने के लिए सचमुच ही भाई को घर से निकाल देते हैं और श्रीकंठ उससे विदाई लेने के लिए आता है, तब वही बड़े घर की बेटी आनंदी उसे क्षमा करके पति से भी क्षमा दिला देती है और सब लोग आनंद-पूर्वक घर में ही रहते हैं। 'दफ्तरी' कहानी में लेखक ने दफ्तरी का बहुत ही सुंदर चरित्र चित्रित किया है जो गृहस्थ-जीवन की सभी कठिनाइयाँ, दुःख और बाधाएँ सम भाव से सहता है। वह योगी है, महावीर है। स्वयं लेखक ने स्वतः ही लिखा है:

गृह दाह में जलने वाले वीर रणक्षेत्र के वीरों से कम नहीं होते।

और महत्त्व में दफ्तरी साहब में किसी भी वीर से कम नहीं है।

कहानियों में स्थानाभाव के कारण चरित्रों के सभी अंगों और पक्षों का विशद चित्रण संभव नहीं है, इसलिए केवल एक विशेष पक्ष ही बड़ी सावधानी से चित्रित किया जाता है जिससे चरित्र का पूरा-पूरा चित्रण हो जाय और अन्य सभी पक्ष अछूते रह जाते हैं। जिस एक पक्ष का चित्रण कहानी में होता है वह चरित्र के मुख्यतम गुण विशेष का द्योतक होता है और लेखक संक्षेप में ही उसका सुंदरतम चित्र खींचता है। अस्तु, चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में लहनासिंह जमादार के अपूर्व स्वार्थत्याग और बलिदान का बड़ा ही सुंदर चित्रण है। लहना एक बालिका को ताँगे के नीचे आने से बचाता है, दोनों का परिचय होता है वे प्रायः मिल भी जाया करते हैं। बालिका बड़ी भोली भाली है और लहना उससे प्रेम करने लगता है। कुछ समय पश्चात् बालिका का विवाह हो जाता है और लहना उसे भूल-सा जाता है। कई वर्षों के पश्चात् लड़ाई पर जाने के पहिले लहना अपने सूबेदार के घर जाता है। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब उसे मालूम होता है कि सूबेदारनी और कोई नहीं उसकी वही भोली बालिका है जिसे वह प्यार करता था। सूबेदारनी लहना को अपने पुत्र और पति की रक्षा का भार देती है। इसी पवित्र उत्तरदायित्व को लहनासिंह अपने प्राण देकर पूरा करता है। सूबेदार हजारासिंह और रोगग्रस्त बोधासिंह के प्राणों की वह रक्षा करता है और स्वयं घायल होकर वजीरासिंह की गोद में प्राण दे देता है, परंतु उसे संतोष है कि उसने अपना वचन पूरा किया। कहानी की असाधारण सफलता का एकमात्र कारण लहनासिंह का अपूर्व आत्मत्याग और बलिदान है। इसी प्रकार प्रेमचंद्र की 'बूढ़ी काकी' कहानी में बूढ़ी काकी की लोभी और लालची प्रकृति का अपूर्व चित्रण है। बुधिराम को सारी संपत्ति बूढ़ी काकी से ही मिली थी, फिर भी अपने पुत्र के तिलक में बुधिराम और उसकी स्त्री सारे गाँव को अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खिलाती हैं परंतु बूढ़ी काकी को कोई पूछता ही नहीं। इतना ही नहीं उसके माँगने पर उसका कई बार अपमान भी हुआ और दंड-स्वरूप उसे एक कोठरी में बंद भी कर दिया गया। बूढ़ी काकी रात को अपनी भूख मिटाने और अपनी हविस पूरी करने के लिए जूठी पत्तलों पर ही टूट पड़ती है। बुधिराम की पत्नी रूपा इस दृश्य को देख कर चकित रह जाती है और बूढ़ी काकी को भरपेट पूरियाँ और मिठाइयाँ खिलाती है। कहानी का अंतिम चित्र तो अपूर्व है। देखिए :

भोले भाले बच्चों की भाँति जो मिठाइयाँ पाकर, मार और तिरस्कार सब भूल जाता है, बूढ़ी काकी बैठी हुई खाना खा रही थी। उनके एक एक रोएँ से सच्ची सदिच्छायें निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनन्द लूट रही थी।

इस लोभ की प्रतिमूर्ति बूढ़ी काकी का चित्र इस कहानी में अपूर्व सौन्दर्य-संयुक्त है।

इस प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियों के चरित्र प्रायः सभी प्रकार-विशेष के अंतर्गत आते हैं और आत्मत्याग, वीरता, प्रेम, लोभ, कायरता इत्यादि विशिष्ट गुणों अथवा अवगुणों के प्रतीक-स्वरूप होते हैं। 'टफनरी' कहानी में नायक कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है, वरन् गृह-दाह में जलने वाले वीरों का प्रतिनिधि और प्रतीक है; 'बूढ़ी काकी' में काकी बुढ़ापे में लालच की प्रतिमूर्ति और प्रतीक है। सच बात तो यह है कि कहानी के सीमित स्थान में व्यक्तिगत चरित्रों का चित्रण संभव ही नहीं है, क्योंकि किसी चरित्र का व्यक्तीकरण करने के लिए लेखक को उस चरित्र के उन विशेष गुणों को दिखाना चाहिए जिससे वह अपने समुदाय के व्यक्तियों से पृथक् किया जा सके और उन विशेष गुणों को दिखाने के लिए उस चरित्र को कुछ विशेष परिस्थितियों और प्रसंगों में चित्रित करना आवश्यक है जिसके लिए कहानी में पर्याप्त स्थान नहीं होता। इसलिए चरित्रों के व्यक्तीकरण के लिए अधिक से अधिक लेखक इतना ही कर सकता है कि कहीं-कहीं दो-चार अर्थगर्भित वाक्यों द्वारा चरित्र की कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन मात्र करा दे। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' रचित 'भिखारिन' ले लीजिए :

सहसा जैसे उजाला हो गया—एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गई "कुछ हम को दे दो रानी माँ।"

निर्मल ने देखा, एक चौदह बरस की भिखारिन भीख माँग रही है। इत्यादि

[आकाशदीप—पृ० ५६]

केवल दो लाइन का वर्णन है, परन्तु इन्हीं दो लाइनों ने 'प्रसाद' की भिखारिन को अन्य भिखारिनों से पृथक् कर दिया है। 'धवल दाँतों की श्रेणी' और 'भोलापन के बिखेरने' से ही हम इस व्यक्ति विशेष को पहचान लेते हैं। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि वह 'धवल दाँतों की श्रेणी' और

'भोलापन बिखरने' वाली भिखारिन भी भिखारिनों का प्रतीक-स्वरूप ही है, उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है।

चरित्र-प्रधान कहानियों में एक प्रकार की कहानियाँ ऐसी होती हैं जिनमें मुख्य चरित्र में अचानक परिवर्तन हो जाता है। अस्तु, 'कौशिक' की सर्वोत्तम कहानी 'ताई' में रामेश्वरी (ताई) के चरित्र में अचानक परिवर्तन होता है। वह अपने देवर के पुत्र मनोहर से घृणा करती है क्योंकि उसी के स्नेह के पीछे उसके पति पुत्र-प्राप्ति के लिए कोई यत्न—तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास इत्यादि कुछ भी नहीं करते। बच्चों से उसे स्वाभाविक प्रेम है परंतु मनोहर की सूरत से उसे घृणा है। एक दिन मनोहर पतंग पकड़ने के लिए मुँडेर पर दौड़ता है और अचानक पैर फिसल जाने के कारण गिरने लगता है। वह सहायता के लिए ताई को पुकारता है और ताई यदि चाहती तो उसे बचा भी सकती थी, परंतु उसने सहायता न की और चीखता हुआ बच्चा नीचे गिर पड़ा। मनोहर के नीचे गिरते ही ताई के हृदय को एक धक्का लगता है और वह बीमार हो जाती है। मनोहर जब अच्छा हो गया और रामेश्वरी के पास लाया गया तभी वह अच्छी हुई और उसके बाद से उसे बहुत प्यार करने लगी। चरित्र-प्रधान कहानियों में कहानी को प्रभावशाली बनाने के लिए इस प्रकार का अचानक परिवर्तन लेखकों का एक अत्यंत उपयोगी कौशल है। कहानी के सीमित स्थल में चरित्र-चित्रण के लिए अनेक प्रसंगों और परिस्थितियों की आयोजना नहीं हो सकता, वरन् कुछ विशेष प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण प्रसंग ही इसमें वर्णित हो सकते हैं और सबसे प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण प्रसंग वही हुआ करते हैं जिनसे नायक के चरित्र पर सबसे अधिक प्रभाव पड़े यहाँ तक कि चरित्र में परिवर्तन भी हो जाय।

प्रधान पात्र के अचानक चरित्र-परिवर्तन को लेकर हिन्दी में कुछ अत्यंत उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी गई। विशेषतया प्रेमचंद्र तो इस कला में अत्यंत प्रवीण थे। उनकी 'आत्माराम' कहानी में महादेव सुनार का तीन सौ मोहरें मिलने के पश्चात् अचानक परिवर्तन हो जाता है। वह एक ही रात में उदार-हृदय और दानी मनुष्य बन जाता है। 'दीक्षा' कहानी में वकील साहब अपनी प्रतिज्ञा भूल कर शराब पीना प्रारंभ कर देते हैं और इसके इतने आदी हो जाते हैं कि एक रात शराब न मिलने पर साहब के चपरासी को घूस देकर साहब की थोड़ी शराब चुरवा मँगाते हैं। परंतु सुबह जब साहब को चपरासी की चोरी और वकील साहब की घूस का पता चलता है तब वह वकील साहब

का बहुत अपमान करता है। इस अपमान से वकील साहब ने केवल शराब पीना ही नहीं छोड़ा वरन् शराबखोरी बंद करने के लिए वे एक सुधारक भी बन गए। चरित्र-परिवर्तन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'शंखनाद' नामक कहानी में मिलता है। गुमान कुश्ती लड़ने, कसरत करने, रामायण और भजन गाने तथा सिल्क का कुर्ता और साफा बाँधकर इधर-उधर घूमने ही में सारा समय बिताता है कोई उपयोगी कार्य नहीं करता। उसके पिता, भाई, स्त्री सभी उसे समझा बुझा कर, डरा-धमका कर हार गए लेकिन उसने किसी की न मानी। परतु एक घटना से उसमें एकदम परिवर्तन हो गया। एक दिन एक फेरीवाला बच्चों के लिए अच्छी अच्छी वस्तुएँ बेचने आया। गुमान की भाभियों ने अपने-अपने बच्चों के लिए अच्छी-अच्छी चीजें खरीद दीं, परन्तु गुमान के पुत्र के लिए कुछ खरीदने को उसकी स्त्री के पास पैसा ही न था। बच्चा निराश हो कर रोने लगा। उसका यह रोना गुमान के कानों में शंखनाद के समान जान पड़ा और वह उसी दिन से परिवर्तित हो गया और घर का काम-काज करने लगा।

(२) वातावरण-प्रधान कहानी

वातावरण-प्रधान कहानी केवल वातावरण से युक्त कहानी नहीं है। कुछ कहानियों में परिपार्श्व (Setting) पर बहुत ज़ोर दिया जाता है, परतु वातावरण-प्रधान कहानी के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसमें कहानी की परिस्थितियों में से किसी एक विशेष अंग अथवा पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, किसी एक मुख्य भावना का प्राधान्य रखा जाता है, वातावरण अथवा परिपार्श्व का नहीं। इसका अभिप्राय परिपार्श्व से वातावरण का संयोग कराकर कहानी का अनुरंजन करना नहीं है, वरन् किसी एक

खेलते हैं। पहले तो उन्हें बेगम साहब का क्रोध सहना पड़ता है फिर अवध की राजनीतिक दुरवस्था भी उनके इस खेल में बाधक होती है। इस कारण वे कुछ रात रहते ही दिन भर का खाना और शतरंज के मोहरे लेकर राजधानी से दूर गोमती नदी के किनारे किसी मसजिद के खँडहर में जा जमते और आधी रात तक किलाबन्दियाँ होतीं, चालें चली जातीं, शह दी जातीं और मात होती थीं। अवध के नवाब बंदी हो जाते हैं, अवध लूटा जाता है और राज्य का पतन भी हो जाता है, परन्तु मीर साहब और मिर्जा साहब को शह और मात से छुट्टी नहीं। परन्तु एक बार शतरंज की चालों में गड़बड़ी हुई मीर ने थोड़ी धाँधली कर दी, बस फिर क्या था, मीर और मिर्ज़ा, जिन्होंने नवाब साहब के लिए एक आँसू भी न गिराया था, शतरंज के वज़ीर के लिए खून बहाने को तैयार हो गए और अंत में दोनों एक दूसरे के द्वारा मारे गए। शतरंज के खेल की ऐसी ही लत होती है। यह एक आदर्श वातावरण-प्रधान कहानी है। मीर और मिर्ज़ा तो इसमें केवल निमित्त मात्र हैं, कहानी का प्रधान उद्देश्य तो शतरंज की लत का कलापूर्ण चित्रण है।

हिन्दी में वातावरण-प्रधान कहानियों का बाहुल्य है। जयशंकर प्रसाद तथा उनके वर्ग के कहानी लेखक प्रायः वातावरण-प्रधान कहानी लिखते थे। विश्वंभरनाथ जिज्जा की प्रथम कहानी 'परदेशी' वातावरण-प्रधान है। राधिकारमण सिंह, जिनकी पहली कहानी "कानों में कँगना" 'इन्दु' में १६१३ में निकली थी, अधिकांश वातावरण-प्रधान कहानी ही लिखते थे। उनकी 'बिजली' इस प्रकार की एक अत्यंत प्रभावशाली कहानी है जिसमें लेखक ने नायक का बिजली के प्रति अद्भुत प्रेम प्रदर्शित किया है। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने प्राय. सभी कहानियाँ इसी प्रकार की लिखीं। उनकी 'प्रेम-परिणाम', 'उन्माद', 'योगिनी' इत्यादि कहानियाँ प्रेम की भावना के किसी न किसी विशेष पक्ष से अनुप्राणित हैं।

परंतु वातावरण प्रधान कहानी के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं 'प्रसाद', सुदर्शन और गोविन्दवल्लभ पंत। 'प्रसाद' की 'आकाश दीप', 'प्रतिध्वनि', 'बिसाती' 'स्वर्ग के खँडहर में' 'हिमालय का पथिक' 'समुद्र संतरण' इत्यादि उच्च कोटि की वातावरण-प्रधान कहानियाँ हैं। 'आकाश दीप' में लेखक ने एक कवित्वपूर्ण वातावरण के भीतर प्रेम और मृत पिता की स्मृति का संघर्ष चित्रित किया है। बुद्धगुप्त—दक्षिणी समुद्रों का आतंक और अनेक द्वीपों का स्वामी

बुद्धगुप्त—घुटने के बल बैठकर चंपा से प्रणय की भीख माँगता है, परन्तु चंपा, जो बुद्धगुप्त को वास्तव में प्यार करती है और जिसने उसने पिता की मृत्यु के प्रतिशोधन का भी विचार त्याग दिया है, उसका प्रणय अस्वीकार करती है, क्योंकि यद्यपि प्रेम के कारण वह बुद्धगुप्त की हत्या नहीं करना चाहती फिर भी पिता के हत्यारे से वह विवाह भी नहीं कर सकती। प्रेमी निराश होकर भारत-तट की ओर चला जाता है और वह अपना आकाश दीप जलाने के लिए द्वीप में ही रह जाती है। इस कहानी में बुद्धगुप्त और चंपा का चरित्र नहीं, वरन् प्रेम और पिता की स्मृति का संघर्ष ही प्रधान विषय और भावना है। कवित्व-पूर्ण वातावरण में, प्राचीन इतिहास के स्वर्णिम परिपार्श्व में इस एक भावना से अनुप्राणित यह वातावरण-प्रधान कहानी वास्तव में हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। 'प्रसाद' के 'विसाती' में भी कवित्वपूर्ण वातावरण में विशुद्ध प्रेम का सुंदर चित्रण अपूर्व है।

गोविन्दवल्लभ पंत ने 'जूठा आम' में प्रेम का बहुत ही सुंदर और कवित्व-पूर्ण चित्रण किया है। नायक की प्रेमपात्री माया नायक के चौके में जूठे आम की गुठली गिरने से बचाने के प्रयत्न में स्वयं फिसल कर गिर पड़ती है और 'यह आम जूठा नहीं है', कहते हुए मर जाती है। प्रेमी गुठली अपने पास रख लेता है और अंत में उसे ज़मीन में गाड़ देता है जो एक वृक्ष के रूप में उगता है। नायक इस वृक्ष का अपनी प्रियतमा के समान आदर भाव करता है। प्रेमचंद ने 'प्रेम-तरु' में कुछ ऐसी भाव से मिलता-जुलता एक अत्यन्त सुंदर रचना लिखी थी। गोविन्दवल्लभ पंत के 'मिलन-मुहूर्त' में वासवदत्ता के प्रेम और उपगुप्त की नैतिक भावना का बड़ा ही सुंदर चित्रण मिलता है। इस कहानी में भी वातावरण बड़ा ही कवित्वपूर्ण और कथानक नाटकीय है।

परन्तु जहाँ 'प्रसाद', गोविन्दवल्लभ पंत, राधिकारमण सिंह और 'हृदयेश' ने कवित्वपूर्ण भावनाओं को कवित्वपूर्ण वातावरण में चित्रित किया, वहाँ सुदर्शन ने अपनी वातावरण-प्रधान कहानियों में यथार्थवादी भावनाओं को यथार्थ वातावरण में चित्रित किया। 'हार की जीत' में एक यथार्थवादी वातावरण में बाबा भारती की भावनाओं का कलापूर्ण चित्रण बहुत सुंदर है। बाबा भारती के पास एक बहुत ही अच्छा घोड़ा है जिसे खड्गसिंह डाकू लेना चाहता है। एक दिन वह एक अपाहिज बनकर घोड़े को ले भागता है। बाबा भारती डाकू से केवल एक प्रार्थना करता है कि यह बात वह किसी से कहे न। कारण पूछने पर उदार-हृदय बाबा ने कहा :

लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।

यह बात डाकू के हृदय में चुभ जाती है और दूसरे दिन वह चुपचाप घोड़ा बाबा भारती के पास छोड़ जाता है। बाबाजी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं, वे कह उठते हैं :

अब कोई गरीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

इस कहानी में बाबा भारती और खड्गसिंह डाकू के चरित्र-चित्रण का कोई महत्त्व नहीं। न तो उनका प्रकार-विशेष (Type) की भाँति ही महत्त्व है और न उनके व्यक्तित्व का। कहानी का समस्त महत्त्व, समस्त सौन्दर्य बाबा भारती के एक वाक्य में निहित है "लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे" और केवल इसी भावना की व्यंजना के लिए यह कहानी गढ़ी गई, बाबा भारती और डाकू गढ़ लिए गए। वास्तव में यह कहानी एक भावना की व्यंजना है जिसके लिए लेखक ने यथार्थवादी वातावरण, परिस्थिति और चरित्रों की अवतारणा की।

कला की दृष्टि से वातावरण-प्रधान कहानियों का महत्त्व सबसे अधिक है। इनमें लेखक को अपनी कला की काट छाँट और तराश दिखाने के लिए उपयुक्त अवसर मिलता है। वह वातावरण के चित्रण और परिपार्श्व की अवतारणा में मनमाना रंग भर सकता है, नाद-ध्वनि की व्यंजना कर सकता है, काट-छाट कर सकता है। वह चाहे तो 'प्रसाद' की भाँति कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि कर सकता है। यथा :

वन्य-कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकम्पित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढँकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प रचनापूर्ण सुंदर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देने वाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान-स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भाँति भाँति के सुस्वादु फल-फूल वाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम।

[स्वर्ग के खँडहर में—आकाश-दीप—पृ० ३१-३२]

अथवा प्रेमचद और सुदर्शन की भाँति लाक्षणिक सौन्दर्य से परिपूर्ण

यथार्थवादी वातावरण का चित्रण कर सकता है। कहानी को अनुप्राणित करने वाली भावना भी कवित्वपूर्ण हो सकती है और उसकी व्यंजना में कला की तराश अच्छी तरह दिखाई जा सकती है। इस प्रकार की कहानियों में सभी जगह कला का बोलबाला होता है, सभी जगह कलाकार की महत्ता दिखाई पड़ती है। कवित्वपूर्ण वातावरण, कवित्वपूर्ण भावना और नाटकीय तथा आदर्शवादी परिस्थितियों की सृष्टि करने में जयशंकर प्रसाद अद्वितीय हैं, उनकी कला कवित्वपूर्ण और स्वच्छंदवादी है। दूसरी ओर सुदर्शन की कला में यथार्थवाद का चित्रण मिलता है।

(३) कथानक-प्रधान कहानी

कथानक-प्रधान कहानी सबसे अधिक साधारण श्रेणी की कहानी है। इसमें चरित्र-चित्रण पर, अथवा वातावरण और परिपार्श्व पर प्रधान रूप से ज़ोर नहीं दिया जाता, वरन् उन उलझनों पर विशेष ज़ोर दिया जाता है जो विविध चरित्रों के विविध परिस्थितियों में पड़ने के कारण पैदा हो जाती हैं, और संक्षेप में, चरित्रों और परिस्थितियों के संबंध पर ज़ोर दिया जाता है। उदाहरण के लिए 'कौशिक' की कहानी 'पावन-पतित' को लीजिए। राजीव-लोचन को, जो वास्तव में एक वेश्या का पुत्र था और रास्ते में पड़ा मिला था, एक पुत्रहीन धनवान मनुष्य ने बड़े ही स्नेह और आदर से पुत्र की भाँति पाला था। मरते समय उस मनुष्य ने राजीवलोचन को बता दिया कि वह उसका पुत्र नहीं वरन् सड़क पर पड़ा मिला था। राजीवलोचन के हृदय को बड़ी ठेस लगती है और वह एक तावीज़ के सहारे अपनी माँ को खोजने निकल पड़ता है। अंत में संयोग से उसे अपनी माँ के दर्शन होते हैं जो एक वेश्या हैं। वह जीवन से निराश होकर अन्तर्धान हो जाता है—शायद आत्महत्या करने या सन्यास लेने के लिए। यहाँ लेखक ने एक चरित्र लेकर उसे विविध परिस्थितियों में डालकर एक मज़ेदार कहानी की सृष्टि की। 'कौशिक' की अधिकांश कहानियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। ज्वालादत्त शर्मा और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी भी कथानक प्रधान कहानी लिखने में सिद्धहस्त हैं। इस प्रकार की कहानियों में कथानक का विकास बहुत स्वाभाविक और यथार्थ रीति से होना चाहिए। अस्वाभाविक रीति से होने से कहानी का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसमें दैव घटना और संयोग का विशेष हाथ रहता है। 'कौशिक' इस प्रकार के कहानी-लेखकों में श्रेष्ठ हैं।

कला की दृष्टि से कथानक-प्रधान कहानी चरित्र-प्रधान और वातावरण-प्रधान कहानियों से बहुत ही निम्नतर श्रेणी की कहानी होती है। इससे पाठकों के हृदय में वर्त्तमान कथा कहानी सम्बन्धी कौतूहल की शान्ति अवश्य होती है, परंतु कला और चरित्र का सौन्दर्य उसमें कम होता है। कुछ कहानियों में चरित्र, वातावरण और कथानक—इन तीन तत्त्वों में किन्हीं दो तत्त्वों का प्राधान्य मिलता है। चरित्र-वातावरण प्रधान कहानियाँ हिन्दी में पर्याप्त संख्या में हैं और कुछ अति उच्चकोटि की कहानियां इसी श्रेणी के अंतर्गत आती हैं। उदाहरण के लिए गोविन्द वल्लभ पंत का 'मिलन मुहूर्त' लीजिए जिसमें एक ओर वातावरण का सौन्दर्य और वासवदत्ता के रूप, यौवन, विलास और उपगुप्त के बौद्धिक गुणों का संघर्ष है, दूसरी ओर उपगुप्त और वासवदत्ता का सुंदर चरित्र-चित्रण मिलता है। इसमें पहले तो वातावरण के चित्रण में रंग भरने और लय तथा संगीत सजाने में कला की काट छाँट और तराश है, दूसरे संघर्ष के विकास में नाटकीय सौन्दर्य है, और तीसरे शक्तिशाली चरित्रों की सृष्टि में साहित्यिक-सौन्दर्य मिलता है। जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद और सुदर्शन की अनेक उत्कृष्ट रचनाओं में वातावरण और चरित्र दोनों का सुंदर सामंजस्य और प्राधान्य है—कलात्मक सौन्दर्य और साहित्यिक सृष्टि का अद्भुत सम्मिलन है। 'प्रसाद' की कहानियों में वातावरण और चरित्र दोनों ही प्रायः कवित्व-पूर्ण, स्वच्छंद और आदर्शवादी हुआ करते हैं, परंतु प्रेमचंद और सुदर्शन की कहानियों में वातावरण और चरित्र दोनों ही यथार्थवादी होते हैं और उनमें सुंदर और शक्तिशाली लाक्षणिकता मिलती है।

(४) कार्य-प्रधान कहानी

कार्य प्रधान कहानियों में सबसे अधिक ज़ोर कार्य पर दिया जाता है। इनके अंतर्गत अनेक प्रकार की कहानियाँ आती हैं। गोपालराम गहमरी की जासूसी कहानियाँ, बनारस के 'उपन्यास बहार आफ़िस' से प्रकाशित साहसिक (Adventrous), रहस्यपूर्ण (Mystery) तथा अद्भुत (Fantastic) कहानियाँ और दुर्गाप्रसाद खत्री रचित वैज्ञानिक कहानियाँ इस श्रेणी की प्रतिनिधि हैं। गोपालराम ने 'जासूस' पत्रिका में कितनी ही जासूसी कहानियाँ लिखीं, परंतु वे जासूसी उपन्यासों के समान लोकप्रिय न हो सकीं। दुर्गाप्रसाद खत्री ने 'उपन्यास बहार आफिस', बनारस से कितनी ही कहानियों का संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित कराया जिनमें तीन कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। दुर्गाप्रसाद

खत्री की 'संसार-विजयी' कहानी अद्भुत (Fantastic) है। गांधार के राजा ध्रुवसेन की इच्छा संसार-विजय करने की है। वह अनेक युद्धों में विजय पाता है परंतु अंत में गगखून से युद्ध करने में उसे अपना सर्वस्व निछावर करना पड़ता है। वह विजयी तो अवश्य होता है परंतु उसकी सारी सेना नष्ट हो जाती है। उसके राज्य में महामारी का प्रकोप फैला है और सब लोग मृत्यु के मुख में जा रहे हैं। राजा राजमहल की चोटी पर खड़ा होकर अपने ध्वंसप्राय साम्राज्य को देखता है। इसी समय कुछ हिंस्र जंतु रानियों पर आक्रमण करते हैं। रानियों की चीख और करुण क्रंदन से आकाश गूँज उठता है परंतु उन्हें बचाने वाला कोई नहीं है। राजा पागल सा होकर नीचे गिर पड़ता है और उसकी भी मृत्यु हो जाती है। इस कहानी की कल्पना सुंदर होते हुए भी भयंकर है। दुर्गाप्रसाद खत्री की ही लिखी हुई कहानी 'रूप-ज्वाला' रहस्यों और षड्यंत्रों से परिपूर्ण है। कहानी का नायक एक विवाह-विज्ञापन पढ़कर उसके लिए प्रार्थना-पत्र भेजता है और उत्तर में उसे एक सुंदरी का फ़ोटो मिलता है। साथ ही साथ उसे अनेक अवसरों पर अनेक प्रकार से काफ़ी रुपये भी भेजने पड़ते हैं। संयोग से उसका मित्र गोपालप्रसाद भी इसी चक्कर में पड़कर बहुत सा धन खर्च कर रहा है। कोई ठग किसी काल्पनिक महिला गुलाब देवी का फ़ोटो भेजकर कई आदमियों को लूट रहा था। यह एक रहस्य-पूर्ण कहानी है। परंतु कार्य-प्रधान कहानियों में सबसे मज़ेदार कहानी मथुरा-प्रसाद खत्री का 'शिकार' है जिसमें एक जानवर—डिनासरस—की मज़ेदार भ्रमण-कहानी वर्णित है। प्रोफ़ेसर अविनाशचंद्र को अफ़्रीका के जंगलों में एक बहुत बड़ा सफ़ेद अंडा मिलता है जिसे वे एक मूल्यवान चीज़ समझकर जहाज़ पर लाद कर भारत की ओर चल देते हैं। एक सप्ताह के पश्चात् एक विचित्र जानवर उस अंडे में से निकलता है जिसकी लंबाई चार फ़ीट है, मुँह छछूँदर की भाँति और नाक पर एक छोटा सा सींग है। बम्बई के जंतुशाला (Zoo) ने उसे लेने से अस्वीकार किया इस कारण उन्हें अपने ही बड़े बाड़े में उसे इमली के पेड़ के नीचे बाँधकर रखना पड़ा। सिनेमा कंपनियाँ इसका चित्र लेने आती हैं। जानवर किसी प्रकार खुल जाता है और बाड़ा लाँघकर भ्रमण के लिए निकल पड़ता है। वह अनेक आदमियों को डराता, ज़मींदार दामोदरसिंह के खेत रौंदता, उनके सिपाहियों को डराकर भगाता और स्वयं नाक और दुम में दो गोलियों का घाव लिए दूसरे दिन प्रोफ़ेसर साहब के पास लौट आता है। डिनाड (डिनासरस का नाम) की

भ्रमण-कहानी लेखक ने बड़े मजेदार ढग से लिखा है जिसमें हास्य और कौतू-हल का प्राधान्य है।

(५) विविध-कहानियाँ

इन चार प्रकार की मुख्य कहानियों के अतिरिक्त हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, प्राकृतवादी और प्रतीकवादी कहानियों का उल्लेख अत्यत आवश्यक है।

हास्यपूर्ण कहानियाँ हिन्दी में केवल जी० पी० श्रीवास्तव ने लिखीं। उनकी प्रथम हास्यपूर्ण कहानी 'इन्दु', अप्रैल १९१२ में 'पिकनिक' नाम से प्रकाशित हुई। पीछे 'लम्बी दाढ़ी' नाम से उनकी हास्यमयी कहानियों का सग्रह प्रकाशित हुआ। परतु इन कहानियों मे हास्य उच्च कोटि का नहीं है और अधिकाश में अतिनाटकीय प्रसगों की अवतारणा मात्र मिलती है। प्रेमचद ने मोटेराम शास्त्री को नायक बनाकर कुछ मजेदार कहानियाँ लिखीं जिनमें उच्च कोटि का हास्य मिलता है। मोटेराम और उनके मित्र चिन्तामणि प्राचीन काल के विदूषिकों की भाँति बड़े ही पेटू और हँसमुख ब्राह्मण हैं। मोटेराम का 'सत्या-ग्रह' तो अपूर्व है और हास्यमयी कहानियों में उसका स्थान बहुत ही ऊँचा है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने १९१० के आस-पास कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ 'सरस्वती' में लिखीं, परतु बाद में उन्होंने उपन्यासों की ओर विशेष ध्यान दिया और कहानियाँ लिखना बद कर दिया। 'प्रसाद' ने भी कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं जिनमें 'ममता' कहानी अत्यत सुदर और सराहनीय रचना है। प्रेमचंद ने 'वज्रपात' और 'सारधा', चतुरसेन शास्त्री ने 'भिक्षुराज' जिसमें अशोक के महान् के पुत्र और पुत्री राजकुमार महेन्द्र और आर्या सघमित्रा का बोधि गया से वट वृक्ष लेकर लका-यात्रा और लका में बौद्ध धर्म के प्रचार का वर्णन है, और सुदर्शन ने 'न्याय-मत्री' जिसमें अशोक के न्याय-मत्री शिशुपाल के न्याय का वर्णन है, ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं। परतु सब कुछ लिखने के पश्चात् यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति ऐतिहासिक कहानियाँ भी हिन्दी में बहुत ही कम हैं।

बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री आदि कतिपय कहानी-लेखकों ने कुछ कहानियाँ प्राकृतवदी (Naturalisitc) ढग की लिखीं। इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य समाज का सुधार करना अवश्य था, परतु उनमें मानवता की लज्जाप्रद और घृणास्पद बातें कलात्मक सौन्दर्य के साथ विचित्र की गई हैं। उनके सुदर और सत्य होने में कोई सदेह नहीं—चरित्र-चित्रण और शैली की दृष्टि से

वे बड़ी ही शक्तिशाली और सुंदर रचनाएँ हैं, परंतु साथ ही वे अमंगलकारक और कुरुचिपूर्ण हैं। उनके कथानक साधारणतः वेश्याओं, खानगियों, विधवाश्रमों, सड़क पर भीख माँगने वालों और गुंडों के समाज से लिए गए हैं। उनका चरित्र-चित्रण यथार्थ और सजीव है, कला उनकी सर्वथा निर्दोष है, परंतु जनता की रुचि और मंगल-भावना के लिए यह अच्छा होता कि यदि ये समाज-सुधारक अपनी अपूर्व प्रतिभा का उपयोग किसी भिन्न रीति से करते।

प्रतीकवादी नाटकों और उपन्यासों की भाँति प्रतीकवादी कहानियाँ भी लिखी गईं, परंतु उनकी संख्या हिन्दी में बहुत कम है। राय कृष्णदास की कहानी 'कला और कृत्रिमता कला' जिसमें वास्तविक कला और कृत्रिम का अंतर बड़े ही कलापूर्ण ढंग से चित्रित है, इस प्रकार की एक सफल रचना है। 'प्रसाद' की कहानी 'कला' भी बड़ी सुंदर और कलापूर्ण रचना है। स्कूल में यों तो सभी कला से प्रेम करते हैं परंतु रूपनाथ (सौन्दर्य के प्रतीक) और रसदेव (रस के प्रतीक) कला की ओर सबसे अधिक आकर्षित हुए और कला भी उनसे कभी कभी बातें कर लेती है। रूपनाथ सुंदर परंतु बहुत ही कठोर हृदय वाला था। वह कला के बाह्य सौन्दर्य पर मुग्ध था और अपनी चित्रकला में उसी का चित्रण किया करता था। दूसरी ओर रसदेव को लोग पागल समझते थे। वह कला के अंतःसौन्दर्य का उपासक था और उसके गीतों में उस के अंतःसौन्दर्य की व्यंजना मिलती थी। रूपनाथ को अपनी चित्रकला से द्रव्य और यश दोनों की प्राप्ति होती है किन्तु बेचारे रसदेव को कुछ भी नहीं मिलता. मिलता है कला का आदर और सम्मान। लेखक ने अंतःसौन्दर्य और कवित्व का महत्त्व बड़े ही सुंदर और कलापूर्ण ढंग से व्यंजित किया है।

कहानियों की शैली

कहानी कहने की विविध शैलियाँ हैं जिनमें सबसे अधिक प्रचलित साधारण वर्णनात्मक शैली है जिसमें लेखक एक तीसरे मनुष्य की भाँति कहानी का यथातथ्य वर्णन करता है। वह सीधे कहानी का प्रारम्भ कर देता है। यथा:

भागवन्ती के दो बड़े पुत्र हुए, परंतु सब के सब बचपन ही में मर गए। अंतिम पुत्र निराश्रय उसके जीवन का अवलम्ब था। [illegible]

[illegible]

अथवा रोहतास दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गभीर प्रवाह को देख रही थी। ममता विधवा थी। इत्यादि

[आकाश-दीप—पृ० २१]

और इसी प्रकार लेखक पूरी कहानी बुना जाता है। कहीं-कहीं वह प्रकृति का वर्णन करता है, कहीं पात्रों के मानसिक अंतर्द्वंद्व की ओर भी संकेत करता है और कहीं-कहीं उनके सभाषण ज्यों का त्यों लिख देता है। इस शैली में लेखक को मनुष्य और प्रकृति के चित्रण के लिए पूर्ण स्वतंत्रता मिलती है। वह पात्र और पात्रियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सरलतम और प्रभावशाली रूप में कर सकता है। इसीलिए कहानी की यह सबसे अधिक प्रभावशाली और सरलतम शैली है। यह शैली वातावरण प्रधान कहानी के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है।

कहानी की दूसरी शैली सलाप-शैली (Conversational style) है जिसमें कहानी की कथा और चरित्र सलापों के द्वारा विकसित किए जाते हैं। इसमें लेखक को सलापों के बीच में उन्हें समझने के लिए कुछ ऐसे वर्णन देने पड़ते हैं जिनसे पाठक को पात्रों और परिस्थितियों का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाय। परंतु कथानक और चरित्र का विकास साधारणतः सलापों के द्वारा ही कराया जाता है। इस शैली की कहानियों का प्रारंभ प्रायः किसी भाषण से ही हुआ करता है। यथा कौशिक' रचित 'ताई', का प्रारंभ देखिए :

"ताऊ जी, हमें लेलगाड़ी ला दोगे" कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजी दास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाँहें फैलाकर कहा "हाँ, बेटा! ला देंगे।"

यहाँ लेखक ने बिना यह बताए ही कि बाबू रामजी दास कौन हैं और इस बालक का क्या नाम है इत्यादि, कहानी का प्रारंभ कर दिया। इसे उसने पीछे वर्णनात्मक ढंग से बतला दिया। इस प्रकार के प्रारंभ से एक प्रकार का नाटकीय सौन्दर्य तो अवश्य आ जाता है, परंतु वर्णनात्मक शैली की सरलता और सीधापन इसमें नहीं है। सलापों द्वारा कथानक और चरित्र का विकास इसी शैली की सबसे महान् सफलता है। इसमें चरित्र अपने ही भाषणों द्वारा अपने को प्रकट करते हैं जिससे चरि-चित्रण का महत्त्व बढ़ जाता है। सलापों द्वारा किस प्रकार कथानक और चरित्र का विकास होता है इसका

एक सुंदर उदाहरण विश्वभरनाथ 'कौशिक' की कहानी 'स्वाभिमानी नमक-हलाल' से लीजिए। मुनीम जी ने चुन्नूमल को अपने साथियों के साथ पिकनिक जाने से मना किया। शाम को मित्रों से मिलने पर उनकी बातचीत सुनिए :

चुन्नूमल—भाई, मैं तो इस समय आप लोगों के साथ नहीं चल सकता।

एक मित्र बोला—क्यों?

चुन्नू०—मुनीम जी कहते हैं इस समय काम अधिक है, मेरा जाना ठीक नहीं।

दूसरा—और तुम उस बुड्ढे खूसट की बातों में आ गए?

चुन्नू०—क्या करूँ, अधिक कुछ कहता हूँ तो वह अप्रसन्न होते हैं।

पहला—अप्रसन्न होते हैं तो होने दो। वह हैं कौन? नौकर चाहे कुछ हैं, फिर भी नौकर ही हैं।

चुन्नू०—यह ठीक है, परंतु—

तीसरा—यार तुम खुद दब्बू हो, नहीं तो एक नौकर की क्या मजाल है जो मालिक पर दबाव डाले।

दूसरा—बात सच्ची तो यह है कि कहने को तो तुम स्वतंत्र हो गये, पर अब भी उतने ही परतंत्र हो जितने बड़े सेठ के समय में थे। तुम कुछ बछुआ तो हो नहीं, जो अपना बनता बिगड़ता न समझो।

तीसरा—अरे यार, यह बुड्ढा बड़ा चलता हुआ है। वह चाहता है कि तुम उसकी मुट्ठी में रहो, जितना पानी पिलाए उतना ही पियो। इत्यादि

यहाँ मित्रों की बातों में आकर किस प्रकार चुन्नूमल का दिमाग बिगड़ा उसकी बड़ी सुंदर व्यंजना इस संलाप में है, और इसी से कथानक और चरित्र का विकास होता है। विश्वभरनाथ 'कौशिक' इस शैली के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक हैं। साधारणतः यह शैली कथानक-प्रधान कहानियों के लिए अधिक उपयुक्त है।

अथवा रोहतास दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गंभीर प्रवाह को देख रही थी। ममता विधवा थी। इत्यादि

[आकाश-दीप—पृ० २१]

और इसी प्रकार लेखक पूरी कहानी सुना जाता है। कहीं-कहीं वह प्रकृति का वर्णन करता है, कहीं पात्रों के मानसिक अंतर्द्वंद्व की ओर भी संकेत करता है और कहीं-कहीं उनके संभाषण ज्यों का त्यों लिख देता है। इस शैली में लेखक को मनुष्य और प्रकृति के चित्रण के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती है। वह पात्र और पात्रियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सरलतम और प्रभावशाली रूप में कर सकता है। इसीलिए कहानी की यह सबसे अधिक प्रभावशाली और सरलतम शैली है। यह शैली वातावरण प्रधान कहानी के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है।

कहानी की दूसरी शैली-संलाप-शैली (Conversational style) है जिसमें कहानी की कथा और चरित्र संलापों के द्वारा विकसित किए जाते हैं। इसमें लेखक को संलापों के बीच में उन्हें समझने के लिए कुछ ऐसे वर्णन देने पड़ते हैं जिनसे पाठक को पात्रों और परिस्थितियों का पूरा पूरा ज्ञान हो जाय। परंतु कथानक और चरित्र का विकास साधारणतः संलापों के द्वारा ही कराया जाता है। इस शैली की कहानियों का प्रारंभ प्रायः किसी भाषण से ही हुआ करता है। यथा कौशिक' रचित 'ताई', का प्रारंभ देखिए :

"ताऊ जी, हमें लेलगाड़ी ला दोगे" कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजी दास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाँहें फैलाकर कहा, "हाँ, बेटा! ला देंगे।"

यहाँ लेखक ने बिना यह बताए ही कि बाबू रामजी दास कौन हैं और इस बालक का क्या नाम है इत्यादि, कहानी का प्रारंभ कर दिया। इसे उसने पीछे वर्णनात्मक ढंग से बतला दिया। इस प्रकार के प्रारंभ से एक प्रकार का नाटकीय सौन्दर्य तो अवश्य आ जाता है, परंतु वर्णनात्मक शैली की सरलता और सीधापन इसमें नहीं है। संलापों द्वारा कथानक और चरित्र का विकास इसी शैली की सबसे महान् सफलता है। इसमें चरित्र अपने ही भाषणों द्वारा अपने को प्रकट करते हैं जिससे चरि-चित्रण का महत्व बढ़ जाता है। संलापों द्वारा किस प्रकार कथानक और चरित्र का विकास होता है इसका

एक सुंदर उदाहरण विश्वभरनाथ 'कौशिक' की कहानी 'स्वाभिमानी नमक-हलाल' से लीजिए। मुनीम जी ने चुन्नूमल को अपने साथियों के साथ पिकनिक जाने से मना किया। शाम को मित्रों से मिलने पर उनकी बातचीत सुनिए :

चुन्नूमल—भाई, मैं तो इस समय आप लोगों के साथ नहीं चल सकता।

एक मित्र बोला—क्यों ?

चुन्नू०—मुनीम जी कहते हैं, इस समय काम अधिक है, मेरा जाना ठीक नहीं।

दूसरा—और तुम उस बुड्ढे खूसट की बातों में आ गए ?

चुन्नू०—क्या करूँ, अधिक कुछ कहता हूँ तो वह अप्रसन्न होते हैं।

पहला—अप्रसन्न होते हैं तो होने दो। वह हैं कौन ? नौकर चाहे कुछ हो, फिर भी नौकर ही है।

चुन्नू०—यह ठीक है, परंतु—

तीसरा—यार तुम खुद बुद्धू हो, नहीं तो एक नौकर की क्या मजाल है जो मालिक पर दबाव डाले।

दूसरा—बात सच्ची तो यह है कि कहने को तो तुम स्वतंत्र हो गये, पर अब भी उतने ही परतंत्र हो जितने बड़े सेठ के समय में थे। तुम कुछ बबुआ तो हो नहीं, जो अपना बनता बिगड़ता न समझो।

तीसरा—अरे यार, यह बुड्ढा बड़ा चलता हुआ है। वह चाहता है कि तुम उसकी मुट्ठी में रहो, जितना पानी पिलाए उतना ही पियो। इत्यादि

यहाँ मित्रों की बातों में आकर किस प्रकार चुन्नूमल का दिमाग बिगड़ा उसकी बड़ी सुंदर व्यंजना इस संलाप में है, और इसी से कथानक और चरित्र का विकास होता है। विश्वभरनाथ 'कौशिक' इस शैली के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक हैं। साधारणतः यह शैली कथानक-प्रधान कहानियों के लिए अधिक उपयुक्त है।

और इसी प्रकार वह अपने विवाह, अपनी आँखों की चिकित्सा इत्यादि का विस्तृत वर्णन करके पूरी कहानी सुनाता है। इस प्रकार की शैली में अन्य शैलियों की अपेक्षा सत्य का आभास अधिक मिलता है। इस शैली में भी एक दोष है कि कहानी कहने वाले के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का चित्रण स्वाभाविक रीति से नहीं हो पाता। कहने वाला अपने भाव, विचार तथा अपने अंतस्तल की छोटी से छोटी बातों की व्यंजना कर सकता है, परंतु अन्य चरित्रों के संबंध में उसे यह सुविधा नहीं है। जिन कहानियों में एक ही प्रधान चरित्र होता है और अन्य सभी चरित्र गौण होते हैं, उन कहानियों के लिए यह शैली अत्यंत उपयुक्त है।

इस दोष के परिहार के लिए उपन्यासों की भाँति कहानियों में भी सभी चरित्र को अपनी-अपनी कहानी अपने अपने शब्दों में सुनानी पड़ती है। अस्तु, प्रेमचंद की कहानी 'प्रेम का स्वाग' में पहले स्त्री अपनी कहानी सुनाती है, उसके पश्चात् पति महाशय अपने मन की बातें कहते हैं। फिर स्त्री अपनी गाथा सुनाती है, फिर पति महाशय का नंबर आता है और अंत में स्त्री की बातों से कहानी का अंत होता है। यहाँ सभी बातें चरित्रों के ही स्पष्ट शब्दों द्वारा कही गई हैं और सभी पात्र-पात्रियों के अनुभव उन्हीं के मुख से कहलाए गए हैं। इस प्रकार इस कहानी में यथार्थता का पूर्ण आरोप है और चरित्र-चित्रण सुंदरतम रूप में हुआ है। यह शैली उसी कहानी में उपयुक्त हो सकती है जिसमें दो या तीन पात्र पात्रियाँ हों, अधिक नहीं। यहाँ दो ही पात्र हैं, इस कारण यह कहानी इस शैली में सफलतापूर्वक कही जा सकी, परंतु जहाँ अनेक चरित्र होते हैं वहाँ मुख्य चरित्र के द्वारा ही सारी कहानी कहलाना अधिक अच्छा होता है। आत्मचरित-शैली चरित्र-प्रधान कहानियों के लिए बहुत ही उपयुक्त है।

कहानी कहने की एक और शैली पत्र-शैली (Epistolatory) है जिसमें सारी कहानी पत्रों द्वारा कही जाती है। सुदर्शन रचित 'बलिदान' कहानी इसी शैली में है। इसमें कुल ग्यारह पत्र हैं, और इन पत्रों द्वारा कहानी का कथानक और अनेक चरित्रों का विकास होता है। 'प्रसाद' की 'देवदासी' और राधिकारमण सिंह की 'सुरबाला' भी इसी शैली में लिखी गई हैं। शैली की दृष्टि से पत्र-शैली बहुत कुछ आत्मचरित शैली के दूसरे रूप से मिलती है, जिसमें प्रत्येक चरित्र अपनी-अपनी कहानी लिखता है, क्योंकि इसमें भी पत्र लिखने वाला अपने हृदय को खोलकर रख देता है। परंतु इसमें कुछ दोष भी

है। एक तो पत्रों में बहुत सी अनावश्यक बातें भी पत्रों के शिष्टाचार (Formality) के लिए लिखनी पड़ती हैं, जिनका कहानी से कोई संबंध नहीं होता। दूसरे, कहानी का कथानक समझने के लिए बहुत अधिक दिमाग़ लगाना पड़ता है, क्योंकि किसी एक पत्र में लिखी हुई बातों का पूरा विवरण और विश्लेषण अन्य कई पत्रों के पढ़ने और समझने के पश्चात् हो पाता है। इसके अतिरिक्त कुछ अनावश्यक चरित्रों की भी आयोजना करनी पड़ती है। इस प्रकार यह शैली बहुत ही दोषपूर्ण है, और इसका प्रचार भी इसीलिए बहुत कम हुआ। केवल प्रयोग की दृष्टि से ही कुछ इनी-गिनी कहानियाँ इस शैली में लिखी गईं।

विशेष

जैसा कि प्रारंभ में बतलाया गया है, यद्यपि हिंदी में कहानी-रचना का प्रारंभ बहुत पहले हुआ किन्तु उसके साहित्यिक रूप का प्रारंभ बीसवीं शताब्दी में 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हुआ और कुछ ही वर्षों में इसमें असाधारण उन्नति हुई। यह विकास बहुत ही शीघ्रता से हुआ, और बहुत ही थोड़े समय में इस क्षेत्र में प्रेमचंद, 'प्रसाद' और सुदर्शन जैसे महान् कलाकारों का जन्म हुआ। प्रेमचंद और 'प्रसाद' को अपनी कहानियों में दूसरों से कहीं अधिक सफलता मिली। इनके अतिरिक्त 'कौशिक', चंद्रधर गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, राधिकारमण सिंह, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, राय कृष्णदास, जी० पी० श्रीवास्तव तथा अनेक अन्य कहानी-लेखकों ने सुंदर कहानी-साहित्य की सृष्टि की।

सातवाँ अध्याय

निबंध और समालोचना

निबंध

साहित्य रूप की दृष्टि से निबंध सबसे अधिक आधुनिक रूप है और इसका प्रारंभ और प्रचार मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों द्वारा हुआ। निबंधों का आधुनिक रूप पश्चिम की देन है, भारत में ऐसा कोई रूप न था। प्राचीन धार्मिक पुस्तकों, सूत्रों, भाष्य और टीकाओं में नीरस और उपयोगी बातें भरी पड़ी हैं, उनमें रस का प्रवाह और साहित्यिकता का पूर्ण अभाव है। यह तो आधुनिक काल में पश्चिमी साहित्य के प्रभाव के कारण लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताओं, भाषा की स्वच्छंद अबाध गति और शैली के सम्मिश्रण से निबंधों पर साहित्यिकता की छाप लगी और धीरे-धीरे इसका काफ़ी प्रचार हो गया।

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्वप्रथम निबंध-लेखक थे। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, जगमोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि निबंध के प्रथम उत्थान-काल के लेखक थे। इन लेखकों के विषय और उपादान बहुत ही सीमित थे, अधिकांश ये लोग साहित्यिक, सामाजिक तथा कुछ अन्य विशेष विषयों पर ही लिखते थे। ये उन्नीसवीं शताब्दी के गोष्ठी-साहित्य के प्रतिनिधि निबंध-लेखक थे। इनकी दृष्टि जीवन के सभी पक्षों पर नहीं जाती थी, वरन् ये किसी विशेष पक्ष पर ही दृष्टि डालते थे। अस्तु, बालकृष्ण भट्ट ने 'कवि और चितेरे की डाँड़ामेंड़ी', 'मुग्ध-माधुरी', 'संसार-महानाट्यशाला' 'चन्द्रोदय' और 'आँसू' इत्यादि पर निबंध लिखे। प्रतापनारायण मिश्र ने कुछ

सामान्य विषय—'बुढ़ापा', 'भौं', 'होली' इत्यादि पर भी लिखा, परंतु जीवन का सर्वांगीण पक्ष वे भी न देख सके।

निबंधों के विकास का प्रथम काल 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के प्रकाशन से प्रारंभ होता है जब हिन्दी साहित्य के क्षितिज-विस्तार के साथ ही साथ लेखकों ने जीवन के सभी अंगों पर दृष्टि डालना प्रारंभ किया। इस प्रकार माधव मिश्र ने होली, श्रीपंचमी, रामलीला और व्यास पूजा इत्यादि हिन्दू पर्वों और त्यौहारों पर तथा अयोध्या, द्वारका, मथुरा आदि तीर्थ-स्थानों पर निबंध लिखे; रामचंद्र शुक्ल ने क्रोध, श्रद्धा, ग्लानि, करुणा इत्यादि मनोवैज्ञानिक भावों के साथ ही साथ 'साहित्य क्या है ?', 'कविता' इत्यादि गंभीर साहित्यिक विषयों का गंभीर विवेचन किया; कृष्णबलदेव वर्मा ने 'बुंदेलखंड-पर्यटन', केशवप्रसाद सिंह ने 'आपत्तियों का पहाड़ - एक स्वप्न', चतुर्भुज औदीच्य ने 'कवित्व', यशोदानंदन अखौरी ने 'इत्यादि की आत्म कहानी', महेन्दुलाल गर्ग ने 'पेट की आत्म कहानी', चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'कछुआ-धर्म', 'मारेसि मोहि कुठाँव', और 'संगीत' इत्यादि; पूर्णसिंह ने 'सच्ची वीरता', पवित्रता', 'कन्यादान', 'मज़दूरी और प्रेम' इत्यादि और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'आकाश की निराधार स्थिति', 'एक योगी की सामाहिक समाधि', 'दिव्य-दृष्टि', 'अग्र-लिपि', 'अद्भुत इंद्रजाल' इत्यादि विविध और सामान्य विषयों पर निबंध लिखे। जो ही विषय सामने आ जाता उसी पर निबंध लिखा जाने लगा। धार्मिक और सामाजिक सुधार, कल्पनापूर्ण भावनाएँ और दूर की सूझ, साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य, ऐतिहासिक और राजनीतिक नीति नियम और सभी प्रकार के सामान्य और विशेष विषयों पर निबंध लिखे जाने लगे।

इस विषय विस्तार के साथ ही साथ निबंधों के साहित्यिक रूप और शैली में भी विकास हुआ। विकास का प्रथम चिह्न केशवप्रसाद सिंह के 'आपत्तियों का पहाड़' नामक निबंध में पाया जाता है जो अंगरेज़ी के एक निबंध के आधार पर लिखा गया था। लेखक [illegible] पर विचार करते हुए सो जाता है और उसे एक अद्भुत रोचक स्वप्न दिखाई पड़ता है। एक स्थान पर सभी लोग अपनी आपत्तियों का गट्ठर बाँधकर फेंक रहे हैं और इस प्रकार आपत्तियों का पहाड़ लग जाता है, फिर उस पहाड़ से सब लोग फेंकी हुई आपत्तियों के स्थान पर [illegible] इच्छानुसार आपत्ति चुन रहे हैं। नई आपत्तियों के अनुभव प्राप्त करते-करते लेखक का स्वप्न टूट

जाती है और 'आपत्तियों का पहाड़' तथा अन्य सभी लोगों की भाँग अवश्य हो जाती है। मानसिक वृत्ति और चिन्तन की दृष्टि से इस निबंध का लेखक बालकृष्ण भट्ट रामचंद्र शुक्ल और महावीरप्रसाद द्विवेदी से किसी प्रकार भिन्न नहीं, परंतु यह स्वप्न ऐसे सुन्दर साहित्यिक और व्यंजनापूर्ण रूप में उपस्थित किया गया है कि यह छोटा-सा निबंध उच्चकोटि की साहित्यिक रचना बन गई है। इसके पहले भी अनेक स्वप्न लिखे गए थे—राजा शिव प्रसाद ने 'राजा भोज का सपना' और भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' लिखा था, परंतु 'आपत्तियों का पहाड़' उत्कृष्ट निबंध है जब कि अन्य स्वप्न बहुत ही साधारण थे। इस निबंध के अनुकरण में वेंकटेशनारायण तिवारी ने 'एक अशरफी की आत्म-कहानी' (सरस्वती, अक्तूबर १९०६); लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'विद्यारण्य' सरस्वती, अप्रैल १९०७) और ललीप्रसाद पांडेय ने 'कविता का दरबार' (सरस्वती, फरवरी १९०९) लिखा, परन्तु कला और सौन्दर्य की दृष्टि से 'आपत्तियों का पहाड़' से उनकी तुलना ही नहीं हो सकती।

निबंधों का द्वितीय विकास चरित्राकरण के रूप में हुआ जैसे 'कवित्व' 'इत्यादि की आत्म कहानी', 'दीपक देव का आत्म चरित', 'राजकुमारी हिमा गिनी' इत्यादि। स्वप्नों में निबंध को वर्णनात्मक रूप मिला था, इन चरित्रा करण निबंधों में उसे मानवीकरण और प्रतीकवाद की सहायता से कहानी का रूप दिया गया जिसमें किसी कल्पना-प्रसूत भावना अथवा वस्तु का मानव रूप और नाम दिया जाता था। इस प्रकार का प्रथम निबंध चतुर्भुज औदीच्य का 'कवित्व' है जो पचानन तर्करत्न के इसी शीर्षक के बँगला निबंध के आधार पर लिखा गया था। साहित्यिक रूप और शैली दोनों ही दृष्टि से यह निबंध खंडकाव्य के बहुत निकट पहुँचता है। इसके चार भाग हैं जो काव्य के अध्यायों के अनुरूप हैं। प्रथम भाग में कवित्व को कवित्वपूर्ण भाषा में प्रशंसा की गई है। यथा :

कवित्व संसार में क्या ही सुंदर है—स्वर्ग की अप्सराएँ, नंदन वन के पारिजात पूर्णिमा के चन्द्र सुंदर कहे जाते हैं—किन्तु कवित्व के सामने इन सबकी सुंदरता अकिंचित्कर है। वसंत ऋतु का मलयानिल, प्रातःकाल का विधु मंडल, संध्या का अरुणित आकाश भी सुन्दर कहे जाते हैं, किन्तु क्या कवित्व की सुन्दरता की समता कर सकते हैं? इत्यादि

द्वितीय भाग में लेखक ने कवित्व के जन्म का बड़ा ही सुंदर और विशद वर्णन किया है। उसकी बाल्यावस्था और विपत्ति-काल का वर्णन करके भाषा और कवित्व के मिलन, प्रेम, और विरह का भी वर्णन किया गया है। तृतीय भाग में जब कि निषाद के क्रौंच बध के समय वाल्मीकि ऋषि के करुण हृदय से अनुष्टुप् छंद की एक धारा प्रकट हुई, कवित्व और भाषा का विवाह कराया गया है। चतुर्थ भाग में लेखक ने वर्णन किया है कि किस प्रकार कवित्व ने मिथ्या पर दया करके उसे अपनी अर्द्धांगिनी बनाया और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ा कर उसे कल्पना का रूप दिया और भाषा से भी उसका महत्व अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार लेखक ने एक बहुत ही कवित्वपूर्ण रूपकात्मक कहानी की सृष्टि की जिसमें कवित्व, भाषा, मिथ्या और कल्पना का मानवीकरण हुआ है। यह निबंध गद्य में एक खंडकाव्य-सा जान पड़ता है। इस निबंध का भी हिन्दी में बहुत अनुकरण हुआ और कितने ही निबंध इसी साँचे पर लिखे गए, परंतु पिछले खेवे के लेखकों ने यद्यपि चरित्राकरण-निबंधों का साहित्यिक रूप और आत्मा इसी प्रकार की रक्खी तथा मानवीकरण और प्रतीकवाद का भी सहारा लिया, परंतु उसके कवित्वपूर्ण अलंकृत वेश-भूषा का त्याग कर उसके स्थान पर गद्यात्मक हास्यपूर्ण तथा अगंभीर शैली का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए बदरीदत्त पांडेय लिखित 'महाराज सूरजसिंह और बादल सिंह की लड़ाई' [सरस्वती, अप्रैल १६०१] ले लीजिए.

इस साल पृथ्वी पर ठाकुर जाड़ासिंह का प्रचंड कोप देखकर मनुष्यों को भय हुआ। इसका कारण जानने की परम उत्कंठा हुई। किसी ज्योतिषी ने यह स्थिर किया कि महाराज सूरजसिंह इस साल रोगग्रस्त हैं। इनके हेम-कांचन-तुल्य शरीर में एक बहुत बड़ा घाव हो गया है। इत्यादि

इसी प्रकार 'राजकुमारी हिमांगिनी' में भी मानवीकरण, प्रतीकवाद और काव्य-रूप तो मिलता है, परन्तु निबंध की शैली पूर्णतया गद्यात्मक है। यथा :

महेन्द्र बहादुर सिंह जब हिमांगिनी के प्रेम के भिखारी हुए। उन्होंने उसके पास कई दूतियाँ भी भेजीं। उन्होंने उनकी विरह-कथा की कहानियाँ खूब ही नमक मिर्च लगाकर कहीं। इत्यादि

हुआ। शैली के विकास के साथ निबंधों में प्रौढ़ता और शक्ति का विकास हुआ और क्रमशः उनकी परिपक्वता इस सीमा तक पहुँच गई कि वह नाटक, उपदेश और व्याख्यानों की शक्ति और शैली की तुलना करने लगी। अस्तु, 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' में भुजगभूषण भट्टाचार्य लिखते हैं :

मुने ! इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों ? इस सर्व-सुग-वंचिता के विषय में इतना पक्षपात कार्पण्य ? क्या इसलिए कि इसका नाम इतना श्रुति-सुखद, इतना मंजुल, इतना मधुर है और तापस जनों का शरीर सदैव शीतातप सहने के कारण कठोर और कर्कश होता है—पर नहीं, आपका काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि आप कटुता-प्रेमी नहीं हैं। भवतुनाम ! हम इस उपेक्षा का एक मात्र कारण भगवती उर्मिला का भाग्य-दोष ही समझते हैं। इत्यादि

[१९०७-२७७—पृ० ८६]

इस निबंध में नाटकों के सभाषण का सा आनंद मिलता। 'श्रीपंचमी' निबंध में माधव मिश्र लिखते हैं :

वाचकवृन्द ! हमारे पूर्वजों ने जिस प्रकार दशहरे का त्योहार शस्त्र-पूजन के निमित्त नियत किया है, जिससे कि भारत के वीर पुरुषों के अतीत गौरव तथा युद्ध-लीला का स्मरण होता है, उसी प्रकार 'श्रीपंचमी' भी पूर्व गौरव का स्मारक है। भेद इतना ही है कि इस दिन के शस्त्र लेखिनी और मसीपात्र हैं, तथा वीर हैं व्यास आदि महर्षियों के स्मरणीय विद्या-वैभव। पिछली विद्या से वर्तमान विद्या का मिलान करने का यही दिन है। इसे दवात क़लम की जड़-पूजा समझ कर परित्याग न करना चाहिए। यह अलौकिक प्रतिभा की पूजा है जो गुदगुदे की वाले पर विलक्षण असर करती है। इत्यादि

[निबंध-रत्नावली प्रथम भाग—पृ० ७-८]

इसमें उपदेशकों की शैली के सभी गुण हैं। उपदेश-कार्य भी निबंधों से अच्छी तरह लिया जा सकता है। 'सच्ची वीरता' में पूर्णसिंह लिखते हैं :

वे सत्व गुण के क्षीर समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख़्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जाग कर गरजते हैं,

तब सदियों तक इनकी आवाज़ की गूँज सुनाई देती रहती है, और सब आवाजें चुप हो जाती हैं। इत्यादि

[सरस्वती, जनवरी १९०९]

यहाँ निबंध में वक्तृता के सभी गुण आ गए हैं।

निबंधों के विकास में सबसे महत्वपूर्ण है लेखों में निबंधकार के व्यक्तित्व का समावेश। पहले निबंधों में लेखक अपनी बात नहीं कहता था, वह किसी स्वप्न का वर्णन करता, अथवा कोई कहानी कहता, अथवा उपदेश देने का प्रयत्न करता, परंतु अब वह अपनी ही बात अधिक करता है, अपने भाव, अपनी रुचि, अपने आदर्श और अपने विचारों की ही व्यंजना करता है। अब निबंध लेखक के स्वगत-भाषण के समान जान पड़ते हैं, जिनमें लेखक कागज पर अपने भावों को उडेलता है, अपने आत्म-चिन्तन का प्रदर्शन करता है। उदाहरण के लिए पद्मसिंह शर्मा का 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' लेख का एक उद्धरण लीजिए :

मैं अपने दिल से बातें करता हुआ मकान पर आया। कैसा खुशकिस्मत आदमी है! कहता है, 'मेरा कोई दोस्त नहीं।' ऐ खुशनसीब आदमी! यहीं तो तू मुझसे बढ़ गया। पर क्या उसका यह कहना सच भी है? अर्थात् क्या वास्तव में इसका कोई दोस्त नहीं जो मेरे दोस्तों की तरह उसे दिन भर में पाँच मिनट की फुरसत न दे। मैं अपने मकान पर एक लेख लिखने जा रहा हूँ, पर खबर नहीं कि मुझे ज़रा सा भी वक्त ऐसा मिलेगा कि मैं एकांत में अपने विचारों को इकट्ठा कर सकूँ और निश्चिन्तता से उन्हें लिख सकूँ। क्या यह फ़क़ीर दिन दहाड़े अपना रुपया ले जा सकता है और उसका कोई दोस्त रास्ते में न मिलेगा और यह न कहेगा कि 'भाई जान! देखो, पुरानी दोस्ती का वास्ता देता हूँ, मुझे इस वक्त ज़रूरत है, पैसा दस रुपया क़र्ज़ दो'—क्या इसके मिलने वाले वक्त बे वक्त इसे दावतों में खींचकर नहीं ले जाते। इत्यादि

[पद्म-पराग—पृ० ४१]

लिखते हुए भी अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन करते हैं। उदाहरणार्थ एक उद्धरण लीजिए :

ओह ! सलीम बचा है, छोड़ो प्रताप उसे छोड़ो ! आह ! अब तुम बेतरह घिर गए। तुम अकेले, और ये मुगल सिपाही सैकड़ों ! तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु हो गया। अरे फेंक दो उसे ! लेकिन कितने मारोगे, एक, दो, तीन —और वे आते ही जाते हैं, अब भी फेंक दो, फेंको भी। देश और जाति को नहीं, संसार को तुम्हारी जान तुम्हारे सोने के तुच्छ मुकुट से ज्यादा प्यारी है। नहीं फेंकोगे ? अच्छा राजपूत वीरो आगे बढ़ो। देखो तुम्हारा अधिपति मुश्त में जा रहा। आगे बढ़ो, बचाओ बचाओ ! हाँ सदरी के झाला ! तुम, हाँ बढ़ो ! बस ठीक ! झाला के सिर पर मुकुट है। इत्यादि

ऐसे जान पड़ता है कि लेखक की आँखों के सामने ही हल्दीघाटी का युद्ध हो रहा है जिसमें राणा प्रताप सलीम पर आक्रमण कर रहे हैं। इस युद्ध पर लेखक अपने विचार प्रकट कर रहा है, बच्चे सलीम पर आक्रमण करने से वह अपने नायक को रोकता है, शत्रुओं की सेना के बीच बेतरह घिर जाने पर वह अधीर हो जाता है और मुकुट फेंक देने का आग्रह करता है, आग्रह करने पर भी जब उसका नायक नहीं मानता तो वह निराश होकर राजपूतों को नायक की रक्षा के लिए प्रोत्साहन देता है और जब झाला प्रताप का मुकुट छीन कर अपने सिर पर रख लेता है तो लेखक प्रसन्न हो जाता है। यह लेख राणा प्रताप की वीरता तो प्रकट करता ही है, उससे अधिक लेखक की रुचि, प्रवृत्ति, आदर्श, भाव और विचार अथवा एक शब्द में लेखक का व्यक्तित्व प्रकट करता है।

निबंध ने नाटक, उपदेश और वक्तृता की ही समता नहीं की वरन् उसने कविता की भी स्पर्द्धा की और सफलतापूर्वक की। चरित्राकरण-निबंध खंड-काव्यों की ही परंपरा में थे। 'कवित्व' निबंध में भाव, उपादान और शैली सभी कवित्वपूर्ण थे। लक्ष्मण गोविन्द आठले रचित 'वर्षा-विजय' भी एक छोटा खंडकाव्य-सा है जिसे लेखक ने गद्य में निबंध-रूप में लिखा। उदाहरण के लिए वर्षा और ग्रीष्म के महायुद्ध का एक दृश्य देखिए :

दोनों ओर से अस्त्र-शस्त्र की वर्षा होने लगी। वायु दोनों का पक्ष ले मैदान में निश्शंक घूमने लगा। बड़े-बड़े वृक्ष इस लड़ाई में उखड़ कर गिरने लगे। तोपों का आवाज़ होने लगी। अब तक दोनों ओर की लड़ाई बरा

ही रही पर अब वर्षा को भीषण क्रोध आया। काले काले केशों को बिखेर कर महिषासुर के वध में उद्यत काली कराली की तरह वह गरजने लगी और अपने विद्युत् रूपी भालों को वारंवार चमकाती हुई बुंद बाण बरसाने लगी। वारंवार कड़कड़ाती हुई वर्षा अपने सहस्रों हस्तों से धनुष तान तान शर-निक्षेप करने लगी। बाणों की झड़ी से जगत परिपूर्ण हो गया। इत्यादि

[सरस्वती, अगस्त १९०८, पृ० ३५०]

यही यदि छंद के आवरण में होता तो काव्य हो जाता। केवल खंडकाव्य ही नहीं, मुक्तकों के समान भी निबंध लिखे गए जिनमें मुक्तक काव्य के सभी गुण मिलते हैं। 'वर्षा विलास' में आठले लिखते हैं :

यह वर्षा नहीं है। प्रकृति देवी का आतप शान्त करने वाला प्रात स्नान है। प्रकृति का बिखरा हुआ सवन और बिखरा हुआ कृष्ण केश कलाप मेघ-मंडल है। बीच-बीच में चमकने वाले उसके आभूषण विद्युल्लताएं हैं। जब कुंभों के परस्पर घर्षण से जो नाद उत्पन्न होता है, वही मेघों की गर्जना है।

यह सूझ रीति-कवियों की सी है। इसी प्रकार 'वर्षा-[illegible]' में [illegible] विशारद लिखते हैं :

जलधर ने रत्न-गर्भा धरणी को वर्षा से गीला कर दिया जिससे उसे ठंड लगने लगी। हे ऋतुराज! ऐसे समय में उगे हुए नव तरुण तुझे ऐसे मालूम होते हैं मानो शीत के कारण शरीर पर उठे हुए रोमांच। इत्यादि

[[illegible] —१९१८]

वर्षा की रात्रि में जब प्रकृति अपने को सारे संसार से छिपाकर संभवतः अभिसार करती है, तब तुमने मृदंग के घोर में मेरी ही हृदय-गाथा सुना-सुना कर मुझे मोह लिया है।

[मोहन, साधना १०—१७]

एक और उदाहरण वियोगी हरि की 'तरंगिणी' से लीजिए :

ऐ मेरे प्रेम, मेरी एक बात सुन ले, और फिर चला जा। युग युग से इन निर्जन एवं नीरव वन में, इस अकेले ही वृक्ष के नीचे टक लगाए खड़ा हूँ।

दिन के तीनों पन चले गए, आँधी के प्रबल झोंकों से यह जीवन-तरु जर्जरित हो गया, किन्तु तेरी आशा से भूमि हरित पर्ण ही रही और यह मेरी अधीर उत्कंठा प्रवृत्ति के सामंजस्य में ओत-प्रोत हो गई।

आ, प्यारे! घड़ी भर इस जीवन-निकुंज-कुटीर में विश्राम ले ले। अपने अलौकिक मुख सौन्दर्य-सरोवर में विकसित-नयनाम्बुज-मरंद का पान, इस विरह-दग्ध श्याम भ्रमर जोगी को कर लेने दे।

[प्रणय-उत्कंठा, तरंगिणी, १०३]

गद्य-गीतों का प्रारंभ और विकास दो मुख्य कारणों से हुआ। पहला कारण काव्य में द्वितीय स्वच्छंदवाद आंदोलन में गीति-काव्यों का विकास और दूसरा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्व-विख्यात ग्रंथ 'गीतांजलि' का अनुकरण। रवि बाबू की 'गीतांजलि' के अँगरेजी गद्य अनुवाद पर नोबेल पुरस्कार मिला था, इसी कारण उसका अनुकरण भारत में लगभग सभी प्रांतों में होने लगा। मदनमोहन मिहिर ने १९१५ में इस का पूरा अनुवाद गद्य में किया जो 'मर्यादा' में प्रकाशित हुआ। इन अनुवादित गद्य-गीतों के प्रभाव से अनेक लेखक, जिनकी प्रकृति रहस्यवादिनी थी और प्रतिभा कवित्वमयी, गद्य-गीतों की रचना में तत्पर हो गए। वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, मदनमोहन मिहिर, राय कृष्णदास तथा अन्य लेखक इस प्रकार के निबंध लिखने में सफल हुए। हिन्दी में निबंधों का चरम विकास गद्य-गीतों में ही मिलता है। काव्य और कला के देश भारतवर्ष में अँगरेजी साहित्य के निबंधों की भाँति हास्य व्यंग्य तथा व्यक्तिगत विशेषताओं से पूर्ण निबंधों का विकास नहीं हुआ, वरन् काव्य के भाव, विचार, कला और आदर्श से युक्त गद्य-गीतों का विकास हुआ।

निबंधों का वर्गीकरण

हिन्दी में निबंध चार मुख्य रूपों में मिलते हैं। (१) पुस्तकों के रूप में, जैसे रामचंद्र शुक्ल का 'आदर्श जीवन', मिश्रबंधु की 'आत्म-शिक्षण', माधवराव सप्रे का 'जीवन-संग्राम में विजय पाने के उपाय' इत्यादि। ऐसी पुस्तकों में किसी एक विषय पर कुछ छोटे निबंधों का संग्रह होता है जिसमें ज्ञान के साथ ही साहित्यिकता भी मिलती है। (२) पुस्तकों की प्रस्तावना के रूप में, जैसे सुमित्रानन्दन पंत ने 'पल्लव' का प्रवेश लिखा, 'निराला' ने 'परिमल' की प्रस्तावना लिखी और सुधाकर द्विवेदी ने 'राम-कहानी' की भूमिका लिखी। इन भूमिकाओं और प्रस्तावनाओं में लेखक पुस्तक के विषय और शैली के संबंध में अपना मत निबंध-रूप में प्रकट करता है। (३) छोटे छोटे पैम्फ़लेट के रूप में, जिनका मुख्य उद्देश्य साधारणतः प्रचार हुआ करता है और आर्यसमाज जैसी सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित होता है। (४) मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों में लेखों के रूप में। ये लेख लगभग सभी विषयों पर होते हैं और लगभग सभी शैलियों में लिखे होते हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है।

हिन्दी में अनेक प्रकार के निबंध लिखे गए। साधारणतः इन्हें मुख्य तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : (१) कथात्मक अथवा आख्यानात्मक (Narrative) (२) वर्णनात्मक (Descriptive), और (३) चिन्तनात्मक (Reflective)। कथात्मक निबंधों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ निबंध स्वप्नों की कथा के रूप में हैं, जैसे केशवप्रसाद सिंह का 'आपत्तियों का पहाड़', लल्लीप्रसाद पांडेय का 'कविता का दरबार' इत्यादि। लेखकगण स्वप्नों की कथा से आगे बढ़कर अपने दिवा-स्वप्नों और स्वप्निल भावों का भी वर्णन करने लगे। परन्तु, कमलाप्रसाद अपने लेख 'क्या था ?' (लक्ष्मी, जून १६१६) में अपने दिवा-स्वप्न का चित्रण करते हैं।

आह, वह क्या था ! क्या पीतवर्ण की मेघ माला में छिपी हुई ! यदि छिपी हो तो वह ऐसे ही [illegible] के चंद्र का [illegible] था। मैं कह नहीं सकता, पर हाँ ! वह बिलकुल अलौकिक छवि [illegible] थी [illegible] की प्रतिमूर्ति थी। सौन्दर्य की आज तक कोई परिभाषा नहीं बनी। उसकी कोई सीमा नहीं [illegible] हुई, उसकी कोई तुलना नहीं, फिर कैसे कहूँ वह छवि सुंदर थी। [illegible] उसे सुंदर समझता था। [illegible]

एक बार पर्यटन कर पातीं, यदि संसार भर की छवियों को एक एक कर देखने का अवसर प्राप्त कर सकतीं, तो भी यही कहतीं कि सब से अधिक सुन्दर छवि वही है। इत्यादि

इस उद्धरण में यह कथात्मक निबंध नहीं रह गया है वरन् वर्णनात्मक निबंध की श्रेणी में पहुँच गया है क्योंकि इसमें लेखक अपनी भावनाओं का वर्णन कर रहा है। कथात्मक निबंध ज्यों-ज्यों वर्णनात्मक निबंधों के निकट पहुँचते हैं त्यों-त्यों उनकी भाषा अधिक कवित्वपूर्ण और व्यञ्जनायुक्त होती जाती है।

कथात्मक निबंधों की दूसरी श्रेणी आत्म चरितों की है जिनमें किसी भावना, वस्तु इत्यादि का मानवीकरण करके उसका चरित्र उसी के शब्दों में सुनाया जाता है। 'इत्यादि की आत्म-कहानी', 'दीपक देव का आत्म चरित' आदि इसी प्रकार के कथात्मक निबंध हैं। इनमें इत्यादि और दीपक ने स्वयं अपनी कहानी कही है। पार्वतीनन्दन के लेख 'तुम हमारे कौन हो?' (सरस्वती, अप्रैल १६०४) में जब लेखक सूर्य से पूछता है कि तुम हमारे कौन हो? और तुमसे हमारा क्या सम्बंध है? तब सूर्य महाराज अपनी कथा प्रारम्भ करते हैं :

मेरा नाम सूर्य है। मेरे और भी नाम हैं—दिनकर, दिवाकर, प्रभाकर, रवि, भानु, आदित्य, अंशुमाली वगैरह—पर सरकारी नाम मेरा सूरज है। इत्यादि

कथात्मक निबंधों की तीसरी श्रेणी कहानी शैली के निबंधों की है। इनमें लेखक रूपकों की सहायता से कोई कहानी सुनता है। 'राजकुमारी हिमांगिनी', 'महाराज सूरजसिंह और बादलसिंह की लड़ाई' इत्यादि इसी प्रकार के निबंध हैं। कवित्वपूर्ण भाषा और शैली में लिखने पर ये निबंध गद्य में खंडकाव्य के समान जान पड़ते हैं। लक्ष्मण गोविन्द आठले का 'वर्षा-विजय' इसी प्रकार का निबंध है।

वर्णनात्मक निबंधों में लेखक किसी प्राकृतिक वस्तु—जड़ अथवा चेतन, कोई स्थान, प्रांत अथवा और किसी मनोहर तथा आह्लादकारी दृश्य का वर्णन करता है। इस प्रकार के निबंध हिन्दी में बहुत ही कम हैं। जगमोहन सिंह ने 'श्यामा-स्वप्न' में प्रकृति के सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है। कृष्ण-

बलदेव वर्मा ने 'बुंदेलखंड पर्यटन' में बुंदेलखंड के प्राकृतिक सौन्दर्य और ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों की सुंदरता और उनके माहात्म्य का वर्णन किया। 'रूस-जापानी-युद्ध' में मिश्रबंधु ने जापानी वीरता का एक छोटा सा परंतु बहुत ही सुंदर और चित्रमय दृश्य उपस्थित किया है। उदाहरण के लिए एक उद्धरण लीजिए :

आज एडमिरल (जल-सेनाधिपति) टोगो इस विचार में पड़ा है कि इन विनाशक जहाज़ों से भी कुछ काम लेना चाहिए। अचानक रात अत्यंत भीषण रूप धारण कर लेती है और आकाश कज्जलाकार प्रलयकारी मेघों से आच्छन्न हो जाता है। हाथ पैर काष्ठवत् कर देने वाली अत्यंत शीतल वायु सवेग संचारित होकर समुद्र को थर्राने लगती है। अंधकार प्रगाढ़तर होता जाता है, और हिमोपल वृष्टि का भी प्रारम्भ हो चलता है। अवश्य ही ऐसे आपत्काल में किसी जलयान का समुद्र में लंगर उठा देने का विचार भी होना असंभव प्रतीत होता है। परंतु एडमिरल टोगो और अन्य जापानी शूर वीर यदि ऐसे समय में भी भयभीत होने वाले होते तो जापान अपने महाप्रबल शत्रु ज़ार से कदाचित् सामना करने का साहस ही न करता।

[सरस्वती, अक्टूबर १९०[illegible]]

इसी प्रकार 'चुंबन' लेख में जी० पी० श्रीवास्तव मेले का वर्णन कर रहे हैं :

हाँ, सावन एक तो यों ही सुहावन और फिर गुड़ियों का दिन। मौसिम की यह मनोहर छटा और मेले में परियों की प्यारी जमघट। कहीं छुनछुन, कहीं छमछम, कहीं तालियाँ, कहीं चुहल, कहीं चपचप, कहीं छेड़छाड़, कहीं मीठी झिड़की, कहीं नुकीली हँसी। कोई अंचल सँभाल रही है, कोई घूँघट निकाल रही है, कोई चुन्नी को खोंट रही है, कोई दामन को फटकार रही है, कोई खिलौने वाले से उलझ रही है, कोई गुड़िया फेंक रही है। इत्यादि

एक बार पर्यटन कर पावों, यदि संसार भर की छवियों को एक एक कर देखने का अवसर प्राप्त कर सकतीं, तो भी यही कहतीं कि सब से अधिक सुंदर छवि वही है। इत्यादि

इस उद्धरण में यह कथात्मक निबंध नहीं रह गया है वरन् वर्णनात्मक निबंध की श्रेणी में पहुँच गया है क्योंकि इसमें लेखक अपनी भावनाओं का वर्णन कर रहा है। कथात्मक निबंध ज्यों-ज्यों वर्णनात्मक निबंधों के निकट पहुँचते हैं त्यों-त्यों उनकी भाषा अधिक कवित्वपूर्ण और व्यञ्जनायुक्त होती जाती है।

कथात्मक निबंधों की दूसरी श्रेणी आत्म चरितों की है जिनमें किसी भावना, वस्तु इत्यादि का मानवीकरण कराके उसका चरित्र उसी के शब्दों में सुनाया जाता है। 'इत्यादि की आत्म-कहानी', 'दीपक देव का आत्म चरित' आदि इसी प्रकार के कथात्मक निबंध हैं। इनमें इत्यादि और दीपक ने स्वयं अपनी कहानी कही है। पार्वतीनन्दन के लेख 'तुम हमारे कौन हो?' (सरस्वती, अप्रैल १९०४) में जब लेखक सूर्य से पूछता है कि तुम हमारे कौन हो? और तुमसे हमारा क्या संबंध है? तब सूर्य महाराज अपनी कथा प्रारंभ करते हैं :

मेरा नाम सूर्य है! मेरे और भी नाम हैं—दिनकर, दिवाकर, प्रभाकर, रवि, भानु, आदित्य, अंशुमाली वगैरह—पर सरकारी नाम मेरा सूरज है। इत्यादि

कथात्मक निबंधों की तीसरी श्रेणी कहानी शैली के निबंधों की है। इनमें लेखक रूपकों की सहायता से कोई कहानी सुनता है। 'राजकुमारी हिमागिनी', 'महाराज सूरजसिंह और बादलसिंह की लड़ाई' इत्यादि इसी प्रकार के निबंध हैं। कवित्वपूर्ण भाषा और शैली में लिखने पर ये निबंध गद्य में खंडकाव्य के समान जान पड़ते हैं। लक्ष्मण गोविन्द आठले का 'वर्षा-विजय' इसी प्रकार का निबंध है।

वर्णनात्मक निबंधों में लेखक किसी प्राकृतिक वस्तु—जड़ अथवा चेतन, कोई स्थान, प्रात अथवा और किसी मनोहर तथा आह्लादकारी दृश्य का वर्णन करता है। इस प्रकार के निबंध हिन्दी में बहुत ही कम हैं। जगमोहन सिंह ने 'श्यामा-स्वप्न' में प्रकृति के सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है। कृष्ण-

भावात्मक निबंधों में लेखकगण भावावेश में आकर अपनी भावनाओं का एक तूफान सा खड़ा कर देते हैं। उनके हृदय से रस की एक धारा-सी उमड़ पड़ती है जो उनकी लेखनी से कागज पर ढल पड़ती है। यथा, पंडित गणपति शर्मा की मृत्यु पर पद्मसिंह शर्मा शोकावेग में लिखते हैं :

हा! पंडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गए। हाय! हाय! क्या हो गया? यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक कैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाशनि से हृदय छिन्न भिन्न हो गया, यह किसके वियोग बाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण-पखेरू के पंख जलाए डालती हैं? हा! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय मंदिर सूना कर दिया! इत्यादि

[पद्म-पराग, पृ० ३२]

भावात्मक निबंध कभी-कभी स्वगत-भाषण का भी रूप ले लेते हैं जबकि लेखक नाटकीय ढंग से किसी अदृश्य वस्तु या व्यक्ति को संबोधन करके अपनी भावनाओं का कवित्वपूर्ण और नाटकीय प्रदर्शन करते हैं। यथा 'आशा' लेख में मातादीन शुक्ल लिखते हैं :

आशा! आशा! कौन? कौन? क्या तुम हो? नहीं, नहीं तुम तो नहीं हो। मुझे ही भ्रम है अब पहचान पाया। तुम आशा हो। तुम्हारे स्वरूप की तुम्हारे रूप-लावण्य की, तुम्हारे आकर्षण-शक्ति की संसार प्रशंसा करता था— क्या ये सब गुण तुम्हीं में हैं? नहीं, नहीं, कदाचित् संसार भ्रम में हो। मुझे तो विश्वास नहीं आता। तुम्हारी मूर्ति तो मुझे बड़ी भयंकर जान पड़ती है!

भला सच कहना, तुमने उन्हें (विद्वानों का समाज) अपने चंगुल में किस तरह फँसा पाया। तुम चाहे बतलाओ चाहे न बतलाओ, मुझे यह मालूम है कि तुम्हारी इस मोहनी मूर्ति पर बाजारू स्त्रियों के आकर्षण में मुग्ध साधारण जनों की तरह विद्वान् भी तन्मय हो होंगे। परंतु शोक है, धिक्कार है तुम्हारे ऐसे जीवन को। इत्यादि

[दर्पण, जून १९१०]

इस उदाहरण में स्वगत-कथन का प्राधान्य है। निबंधों की इसी शैली को 'प्रलाप शैली' और इस प्रकार के निबंधों को 'प्रलाप-निबंध' कह सकते हैं। इन भावात्मक लेखों में बड़े सुंदर कवित्वपूर्ण अंश और रसों की व्यंजना होती है। जो

में भाव और विचार साधारणतः सभी लेखों में पाए जाते हैं, परन्तु कुछ में विचार भाव से कहीं अधिक प्रधान होते हैं वे विचारात्मक कहलाते हैं, कुछ में भाव विचार से कहीं अधिक प्रधान होते हैं, वे भावात्मक कहलाते हैं और कुछ में भाव और विचार लगभग समान मात्रा में मिलते हैं, वे उभयात्मक कहलाते हैं।

रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य अनेक निबंधकार विचारात्मक निबंध लिखते थे जिनमें वे अपने विचार सीधे-सादे और स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते थे। वे भावोद्रेक में अपने को भूल नहीं जाते थे वरन् विचारों पर ही अधिक ज़ोर देते थे। उदाहरण के लिए रामचंद्र शुक्ल का एक उद्धरण लीजिए :

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकता वश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार-बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा। इत्यादि

[हिन्दी निबंध माला, प्रथम भाग—पृ० १८०]

'आदर्श जीवन', 'आत्म शिक्षण' इत्यादि ग्रंथों में लगभग सभी विचारात्मक लेख हैं और गंभीर तथा उपयोगी विषयों पर लिखे गए हैं। माधवराव सप्रे और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी अनेक सुंदर विचारात्मक लेख लिखे। मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों में प्रायः सर्वदा विचारात्मक लेख उपयोगी विषयों पर निकलते रहते हैं। उदाहरण के लिए ज्वालाप्रसाद शर्मा के लेख 'स्वदेश-सेवा किस प्रकार करनी चाहिए' से एक उद्धरण लीजिए :

कल्पना कीजिए कि हम सब देश-भ्राता एक ऐसी नाव में बैठे हैं जो तूफ़ान में पड़ गई है, ऊपर से वर्षा भी पड़ने लगी। तो क्या निराशा के ऐसे समय में हमारा यह कर्तव्य नहीं कि यथाशक्ति नाव में से पानी बाहर फेंकें। संभव है ईश्वर की कृपा से नाव किनारे लग जाय। ठीक यही दशा भारतवर्ष रूपी नौका की हो गई है। आपस के झगड़ों ने देश रूपी नौका में अनेक छिद्र कर दिए हैं। इत्यादि

[मर्यादा, जनवरी, १९१७]

भावात्मक निबंधों में लेखकगण भावावेश में आकर अपनी भावनाओं का एक तूफान सा खड़ा कर देते हैं। उनके हृदय में रस की एक धारा-सी उमड़ पड़ती है जो उनकी लेखनी से कागज पर ढल पड़ती है। यथा, पंडित गणपति शर्मा की मृत्यु पर पद्मसिंह शर्मा शोकावेग में लिखते हैं :

हा ! पंडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गए। हाय ! हाय ! क्या हो गया ! यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक जैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाशनि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके वियोग बाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण-पखेरू के पंख जलाए डालती हैं ? हा ! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मंदिर सूना कर दिया ! इत्यादि

[पद्म-पराग, पृ० ३३]

भावात्मक निबंध कभी-कभी स्वगत-भाषण का भी रूप ले लेते हैं जबकि लेखक नाटकीय ढंग से किसी अदृश्य वस्तु या व्यक्ति को संबोधन करके अपनी भावनाओं का कवित्वपूर्ण और नाटकीय प्रदर्शन करते हैं। 'आशा' लेख में मातादीन शुक्ल लिखते हैं :

आशा ! आशा ! कौन ? कौन ? क्या तुम हो ? नहीं, नहीं तुम तो नहीं हो। मुझे ही भ्रम है अब पहचान पाया। तुम आशा हो। तुम्हारे स्वरूप की, तुम्हारे रूप-लावण्य की, तुम्हारे आकर्षण-शक्ति की संसार प्रशंसा करता था— क्या ये सब गुण तुम्हीं में हैं ? नहीं, नहीं, कदाचित् संसार भ्रम में हो। मुझे तो विश्वास नहीं आता। तुम्हारी मूर्ति तो मुझे बड़ी भयंकर जान पड़ती है !

भला सच कहना, तुमने उन्हें (विद्वानों का समाज) अपने चंगुल में किस तरह फँसा पाया। तुम चाहे बतलाओ चाहे न बतलाओ, मुझे यह मालूम है कि तुम्हारी इस मोहनी मूर्ति पर साधारण व्यक्तियों के आकर्षण में तुच्छ साधारण जनों की तरह विद्वान् भी सम्मत हो होंगे। परंतु शोक है, धिक्कार है तुम्हारे ऐसे जीवन को। इत्यादि

[इन्दु, जून १९१०]

इस उद्धरण में रसात्मकता का प्राधान्य है। निबंधों की इसी शैली को 'प्रलाप शैली' और इस प्रकार के निबंधों को 'प्रलाप-निबंध' कह सकते हैं। इन भावात्मक लेखों में एक सुंदर कवित्वपूर्ण भाषा और शब्दों की योजना होती है। यह

ये गद्य गीत के नाम से पुकारे जाते हैं। उदाहरण के लिए चतुरसेन शास्त्री का एक गद्य गीत 'कहाँ जाते हो?' पढ़िए :

और एक बार तुम आए थे, वही तुम्हारा धुप श्याम रूप था, वही तुम्हारा विनिन्द्रित अभ्यस्त हास्य था, अघुरण मस्ती थी। इसी तरह तुमने तब भी भारत के नर-नारी—सब लोगों का मोह लिया था, कृष्णा यमुना इसकी साक्षी है। इत्यादि

[प्रभा, अगस्त १९२२]

राय कृष्णदास, वियोगी हरि, मदनमोहन मिहिर इत्यादि ने सफलतापूर्वक गद्य-गीत लिखे।

उभयात्मक निबंध में भाव और विचार दोनों का सुंदर सामंजस्य मिलता है। यथा, रामलीला' में माधव मिश्र लिखते हैं :

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निस्संदेह उसकी शोचनीय दशा है, और उससे अंधकार-निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। परंतु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह प्रदीप वही प्रदीप है जो पहले समय में हमारे स्नेह, ममता और भक्ति-भाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्माण्ड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है जिसका प्रकाश सूर्य में विद्यमान है, एवं जिसका दूसरा नाम अग्नि है और उपनिषद् जिसके लिए पुकार रहे हैं—"तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति"। इत्यादि

[हिन्दी निबंध माला, प्रथम भाग—पृ० ५४]

पूर्णसिंह भी इस प्रकार के चिन्तनात्मक लेख लिखते थे जिनमें भाव और विचार का सुंदर सामंजस्य मिलता है। उनमें गंभीर विचारों को भावात्मक शैली में प्रकट कर देने की अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने केवल आधे दर्जन ही निबंध लिखे, परंतु विचारों की गंभीरता और शैली की मनोहरता और प्रभाव-शीलता के कारण हिन्दी के उच्च कोटि के निबंधकारों में उनकी गणना होती है।

कथात्मक, वर्णनात्मक और चिन्तनात्मक निबंधों के अतिरिक्त हिन्दी में तार्किक अथवा यौक्तिक (Argumentatives) और व्याख्यात्मक

(Expository) निबंध भी लिखे गए, परंतु उनकी संख्या बहुत ही कम है। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का निबंध 'हमारी शिक्षा किस भाषा में हो?' एक तार्किक निबंध है जिसमें लेखक ने युक्तियों द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि हमारी शिक्षा हिन्दी में होनी चाहिए। इसी प्रकार गुलाबराय का 'सर्वोत्तम काव्य' व्याख्यात्मक निबंध का एक सुंदर उदाहरण है जिसमें लेखक ने 'मित्र-मिलन' की व्याख्या करके उसे सर्वोत्तम काव्य बताया है। यथा, वे लिखते हैं :

इस कविता द्वारा जीवन के सारे रहस्य खुल जाते हैं। समस्त दार्शनिक तथा वैज्ञानिक कठिनाइयाँ स्वतः सिद्ध हो जाती हैं। तीनों लोकों की विभूतियाँ हस्तामलकवत् दिखाई पड़ती हैं। सर्व संशयों का मूलोच्छेद हो जाता है।

इसी प्रकार वे मित्र-मिलन में ही कविता के सब गुण दिखलाते हैं :

सुहृद सान्निध्य ही सबसे बड़ा गुण है। मित्र की प्रेम भरी चितवन ही पीयूष धारा टीका है। बारंबार हृदयालिंगन करना ही अंत्य एवं वृत्यानुप्रास है। प्रेम प्रतीक्षा अलंकार है और परमानंद ही उसका स्वच्छंद छंद है। इत्यादि

'हास्यरस' नामक निबंध में (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अगस्त 1915) लेखक ने हास्यरस की व्याख्या करके यह प्रमाणित किया है कि हास्यरस ही नवरसों में सर्वश्रेष्ठ रहा है। यथा :

चाहे मनुष्य मात्र के जीवन में होने वाली भाव जागृति के विचार से देखिए, अथवा इससे होने वाले आनंद और उसके उपयोग की दृष्टि से देखिए, हास्य, करुणा और वीर के तीनों रस शृंगार रस की अपेक्षा अधिक महत्त्व के प्रमाणित होंगे, क्योंकि प्रायः हास्य और शोक में ही मनुष्य मात्र का अनुभव बँधा हुआ है। इत्यादि

समालोचना

हिन्दी में समालोचना का प्रारंभ बहुत देर में हुआ। सबसे पहले बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्द-कादंबिनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता-स्वयंवर' और गदाधर सिंह द्वारा अनुवादित 'बंग विजेता' की समालोचना की। 'संयोगिता स्वयंवर' में उन्होंने नाटक के दोष दिखाए और 'बंग विजेता' में भाषा संबंधी दोष। उस समय तक आलोचना का उद्देश्य केवल दोषों का अन्वेषण होता था। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' में लाला सीताराम द्वारा अनुवादित कालिदास के ग्रंथों में भाषा-संबंधी दोषों का ही उल्लेख किया। इसके पश्चात् १६०० में श्यामबिहारी द्विवेदी जी ने दो और समालोचना-ग्रंथ—'विक्रमांक देव चरित-चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' लिखे जिनमें दो संस्कृत काव्यों का परिचयात्मक निरूपण दिया गया था। बीसवीं शताब्दी में समालोचना का क्षेत्र विस्तृत हो गया और मिश्रबंधु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, किशोरीलाल गोस्वामी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुंदर दास और रामचंद्र शुक्ल आदि अनेक लेखक समालोचना लिखने लगे और क्रमशः समालोचना का महत्व बढ़ने लगा और वह साहित्य का एक महत्वपूर्ण और विशेष अंग माना जाने लगा।

सुविधा के लिए समालोचना-साहित्य का चार वर्गों में वर्गीकरण किया जा सकता है। (१) साहित्य-समीक्षा (Literary Reviews), (२) खोज और अध्ययन, (३ समालोचना-सिद्धांत और (४) गंभीर समालोचना।

साहित्यिक-समीक्षा

पुस्तकों की समीक्षा का प्रारंभ मुद्रण यंत्र के प्रचार के कारण हुआ। इस यंत्र के द्वारा सैकड़ों-हजारों पुस्तकें बहुत कम दामों पर रोज प्रकाशित होने लगीं। समय और द्रव्य की कमी के कारण पाठक सभी पुस्तकों को पढ़ नहीं सकते और यदि सभी पुस्तकें पढ़ने के लिए सुविधाएँ भी हों, तब भी सभी पुस्तकें पढ़ने में किसी की तबीयत न लगेगी और न वह उनसे लाभ ही उठा पायेगा। इसलिए व्यर्थ और अनुपयोगी पुस्तकें न पढ़कर समय और शक्ति के बचाव के लिए यह अत्यंत आवश्यक हो गया कि पाठकों को कोई यह बता सके कि कौन सी पुस्तक पढ़ने योग्य है और कौन व्यर्थ है। इस प्रकार पुस्तकों के आलोचकों की आवश्यकता हुई। फिर विज्ञापन और प्रचार के इस युग

में स्वयं लेखकों को किसी ऐसे साधन की आवश्यकता ज्ञात पड़ी जिसके द्वारा वे अपने भावों और पुस्तकों का प्रचार और विज्ञापन सरलतापूर्वक कर सकें, और इसी सुविधा के लिए मासिक पत्र-पत्रिकाओं ने पुस्तक-आलोचना-सबंधी एक अलग स्तंभ (Column) चलाया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जयपुर से प्रकाशित होने वाला 'समालोचक', जिसका प्रारंभ १९०२ में हुआ था, पुस्तकों की आलोचना करने वाला विशेष पत्र था। 'सुदर्शन' भी, जिसका प्रारंभ १९०० में माधव मिश्र ने बनारस से किया था, पुस्तकों की आलोचनाएँ प्रकाशित करता था। 'सरस्वती' ने 'पुस्तक-परीक्षा' स्तंभ जुलाई १९०४ से प्रारंभ किया, जिसमें संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं प्राप्त पुस्तकों पर परिचयात्मक समालोचना लिखते थे। इन पत्र-पत्रिकाओं में समालोचनाएँ और परीक्षा सच्चाई और ईमानदारी के साथ की जाती थीं। उदाहरण के लिए किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों पर 'समालोचक' की परीक्षा सुनिए :

अब तक हम यही जानते थे कि पवित्र दंपति-प्रेम के उन चित्रों को जिनका पर्दा लज्जा के मारे, पवित्रता के ख्याल से कोई मनुष्य या लेखिनी नहीं उघाड़ सकती सरे बाज़ार रखने में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी Rev करते हैं, मज़े लूटते हैं किन्तु अब मालूम हुआ कि बलात्कार पाशविक दुराचार, इत्यादि, विदूषण प्रभृति के उद्वेगजनक चित्रों में भी वह अधिक रुचि से Wallow करते हैं। इत्यादि

[समालोचक, अगस्त १९०२ पृ० [illegible]]

इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी की भी एक परीक्षा देखिए :

विश्व-दर्शन। इसका दूसरा नाम 'शाक्तर्षि माया का परिचय' टाइटिल पेज पर नहीं है। इसके कर्ता बरेली निवासी मुरलीधर शास्त्री हैं। इसमें सूत्र हैं। जैसे संस्कृत के प्राचीन पुस्तकों में सूत्र हैं वैसे ही इसमें भी हैं। उनका भाष्य भी है। वह भी हिन्दी में है। नाम रहने वाले सूत्र, प्रेत इत्यादि सिद्ध करने का यत्न करने वाले तथा परलोकपंथी मत के अनुयायियों के प्रतिकूल बहुत सी बातें इसमें शास्त्री जी ने लिखी हैं।

[[illegible], [illegible] १९०[illegible]

[illegible]

जाती थी, परतु ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों सचाई कम होती गई और प्रचार तथा विज्ञापन की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। परालोचक दलबंदी के चक्कर में पड़कर अपने दल के लेखकों, अथवा अपने मित्रों और संबंधियों की रचनाओं की अतिशय प्रशंसा करने लग गए, चाहे उनमें कोई गुण हो या न हो, और अन्य दलों के लेखकों, तथा जिनसे अनबन हो उनकी रचनाओं का गुण होते हुए भी तीव्र और कठोर आलोचना करने लग गए। इस प्रकार साहित्य-समीक्षा का महत्व बहुत कम रह गया।

अध्ययन और खोज

अध्ययन और खोज का प्रारभ प्रधानत दो कारणों से हुआ। पहला कारण उन्नीसवीं शताब्दी में जागृति की प्रवृत्ति का उदय और प्राचीन शिक्षा और साहित्य का प्रचार है, जब कि शिक्षित समुदाय ने प्राचीन संस्कृत काव्य, नाटक तथा प्राचीन हिन्दी ग्रथों का अध्ययन प्रारभ कर दिया। प्राचीन पडितों की भाति आधुनिक विद्वान रचनाओं के केवल पाठमात्र से सतुष्ट नहीं हुए, वरन् वे यह भी जानने का प्रयत्न करने लगे कि अमुक कवि किस समय पैदा हुआ, उसके जीवन की मुख्य कौन कौन सी घटनाएं हैं, उसकी रचना का उसके जीवन से क्या सबध है, तथा उसकी रचना पर अन्य किन किन रचनाओं का प्रभाव मिलता है। इस प्रकार नए नए विषयों पर खोज और अध्ययन प्रारभ हुआ। सरयूप्रसाद मिश्र ने बँगला से 'भारतवर्षीय सस्कृत-कवियों का समय-निरूपण' नामक ग्रथ का अनुवाद किया, गगाप्रसाद अग्नि-होत्री ने मराठी से 'सस्कृत कवि पचक' का अनुवाद किया, जिसमें सस्कृत के पाँच महाकवियों का समय, जीवन-चरित्र तथा उनकी रचनाओं के गुण-दोष का विवेचन मिलता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'नैषध चरित चर्चा' में कवि श्रीहर्ष के समय-निरूपण और जीवन-चरित्र के साथ ही साथ 'नैषध-चरित' की परिचयात्मक आलोचना भी की। इसी प्रकार 'कालिदास' में भी द्विवेदी जी ने कालिदास के समय-निरूपण इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया। सस्कृत काव्य और नाटकों की मूलकथाओं तथा कवियों पर एक दूसरे के प्रभाव का भी अध्ययन होता रहा। अस्तु, किशोरीलाल गोस्वामी ने 'अभिज्ञान शाकुतल और पद्म-पुराण' लेख में [नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९००] यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि कालिदास ने 'शकुतला' का कथानक महाभारत से नहीं वरन् पद्मपुराण से लिया। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशी की मूल-कथा' नामक

लेख में चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने यह प्रमाणित किया है कि 'विक्रमोर्वशी नाटक' की मूल कथा वेदों से ले गई थी। संस्कृत कवियों तथा काव्यों के अतिरिक्त हिन्दी कवि और काव्यों का भी अध्ययन चलता रहा। गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी और रचनाओं पर भी अनेक विद्वानों ने श्रम किया।

खोज और अध्ययन के लिए दूसरी प्रेरणा-शक्ति बनारस में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना से मिली। सभा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' निकाली, जिसमें खोज तथा अध्ययन से पूर्ण सुंदर और शक्तिशाली लेख निकला करते थे। श्यामसुंदर दास और सभा के प्रयत्नों से हिन्दी पुस्तकों की खोज के लिए सरकारी सहायता भी मिलने लगी। श्यामसुंदर दास ने, जो नागरी प्रचारिणी सभा के मंत्री थे, १९०० ई० में संयुक्तप्रांत की सरकार की अभिभाविकता में खोज का कार्य प्रारंभ किया। नौ वर्षों तक वे इस काम में लगे रहे, और उन्होंने छः वर्षों की वार्षिक रिपोर्टें तथा अंतिम तीन वर्षों की त्रिवार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित कीं। श्यामसुंदर दास के पश्चात् खोज का उत्तरदायित्व श्यामबिहारी मिश्र ने लिया। वे १९०८ से १९२० तक लगभग ग्यारह बारह वर्ष तक बड़े परिश्रम और उत्साह से कार्य करते रहे, और उन्होंने दो त्रिवार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित कराईं। उनके पश्चात् शुकदेवबिहारी मिश्र ने लगभग डेढ़ वर्ष तक यह काम सँभाला। इस खोज कार्य से कई हज़ार ऐसी हिन्दी पुस्तकों का पता चला जिन्हें जनता एक दम भूल गई थी। कितनी ही प्रसिद्ध पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ प्रकाशित हुईं और उनका अध्ययन हुआ। इस प्रकार इस खोज कार्य से हिन्दी साहित्य की विशेष उन्नति हुई।

खोज के अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में गंभीर और विद्वत्तापूर्ण लेख भी निकलते रहे। राधाकृष्ण दास ने नागरीदास का जीवन-चरित्र लिखा, और 'मुसलमानी दफ्तरों में हिन्दी' नाम का एक खोजपूर्ण तथा गंभीर लेख लिखा। पत्रिका के तीसरे भाग (१८९९) में एडविन ग्रीव्स का 'गोस्वामी तुलसीदास का चरित्र' निकला और चतुर्थ भाग (१९००) में राधाकृष्ण दास ने सूरदास के जीवन पर प्रकाश डाला। १९०० में श्यामसुंदर दास ने खोज में प्राप्त 'बीसलदेव रासो' का विस्तृत विवरण तथा पुरोहित हरिनारायण(?) ने 'पृथ्वीराज रासो' का संपादन प्रकाशित कराया। इसी भाग में श्यामसुंदर दास ने 'हिन्दी का आदि कवि' नामक एक छोटा सुंदर लेख भी लिखा। इन्होंने नई नई खोजों और समस्याओं पर 'पत्रिका' में विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे। 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के संबंध में गौरीशंकर हीराचंद

ओझा, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या तथा श्यामसुंदर दास ने विचारपूर्ण और गंभीर लेख निकाले और तुलसीदास के जीवन-चरित्र के संबंध में मिश्रबंधु, इंद्रदेव नारायण तथा अन्य विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए। शुकदेवबिहारी मिश्र का 'हिन्दी का महत्त्व', रामावतार शर्मा का 'मुद्गरानंद-चरितावली', जगन्मोहन वर्मा का 'हिन्दी पर प्राकृत भाषाओं का प्रभाव', 'अशोक के अभिलेख' और 'विवाह का इतिहास'; चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'पुरानी हिन्दी', गणपति जानकीराम दुबे का 'गुजराती साहित्य का विकास' और पूर्णचंद्र नाहर का 'प्राचीन जैन हिन्दी साहित्य' जैसे कुछ बहुत ही गंभीर और विद्वत्तापूर्ण लेख 'पत्रिका' में छपे।

विविध हिन्दी पुस्तकों की खोज और अध्ययन तथा सर्च-कमेटियों की रिपोर्टों के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में बहुत सहायता मिली। इस दिशा में मिश्रबंधु —गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव-बिहारी मिश्र ने बहुत ही सराहनीय कार्य किया, और १६१३ में 'मिश्रबंधु-विनोद' तीन भागों में प्रकाशित कराया। मिश्रबंधुओं के पहले भी तासी, शिवसिंह सेंगर और सर जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के इतिहास-संबंधी ग्रंथ लिखे थे किन्तु वे बहुत संक्षिप्त और साधारण थे। मिश्रबंधुओं ने लगभग १६०० पृष्ठों में ३७५७ कवि और लेखकों का विवरण दिया। इतना ही नहीं उन्होंने हिन्दी साहित्य की रचनाओं को चार विशिष्ट कालों में विभाजित करके प्रत्येक काल का सामान्य परिचय दिया तथा प्रसिद्ध कवियों की समालोचनाएँ भी लिखीं। १६२५ में जब इसका द्वितीय संस्करण हुआ तब यह चार भागों में प्रकाशित हुआ और लगभग ४५०० लेखकों के विवरण इसमें दिए गए। 'मिश्रबंधु-विनोद' ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन की नींव डाली।

समालोचना-सिद्धांत

हिन्दी में समालोचना-सिद्धांतों की मुख्य तीन शाखाएँ हैं। प्रथम शाखा संस्कृत-समालोचना-सिद्धांतों की है। संस्कृत का अलंकार-शास्त्र बड़ा ही आकर्षक है। संस्कृत के आचार्यों ने समालोचना के विविध सिद्धांतों का वैज्ञानिक विश्लेषण बड़े परिश्रम से विस्तारपूर्वक किया। संस्कृत में समालोचना की पाँच विशिष्ट शाखाएँ थीं। भरत ने रसवाद का प्रतिपादन किया जिसे विश्वनाथ कविराज ने भी माना। आनंदवर्धनाचार्य और मम्मटाचार्य ने ध्वनिवाद का प्रतिपादन करके काव्य को ध्वनि-प्रधान माना। दंडी और भामह ने अलंकारों

की प्रधानता मानी, वामन ने रीति-शाखा का प्रतिपादन किया और कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण बताया। हिन्दी के रीतिकाल में कवि आचार्यों ने रस और अलकार की श्रेष्ठता स्वीकार की और अनेक कवियों ने रस और अलकारों के लक्षण और उदाहरण उपस्थित किए। आधुनिक काल में भी रस और अलकार की प्रधानता स्वीकार की गई यद्यपि कुछ लोग ध्वनि के भी पक्षपाती थे। रसों पर बाबूराम वित्थरिया का 'नवरस' निकला। अलंकारों पर कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलकार-प्रकाश', अर्जुनदास केडिया का 'भारती-भूषण', लाला भगवानदीन का 'अलंकार-मंजूषा' प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। कन्हैया लाल पोद्दार के 'काव्य-कल्पद्रुम' में ध्वनि, रस, अलकार, गुण, दोष इत्यादि सभी का सुदर और स्पष्ट विश्लेषण किया गया है। छंदों पर जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'छद-प्रभाकर' नाम की पुस्तक लिखी। शालिग्राम शास्त्री ने विश्वनाथ कविराज के 'साहित्य-दर्पण' का अनुवाद किया। केशव की 'कवि प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की टीकाएँ भी प्रकाशित हुईं। नाट्य-शास्त्र पर श्यामसुंदर दास ने 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' नाम का एक सुदर लेख लिखा।

समालोचना-सिद्धातों की द्वितीय शाखा पाश्चात्य समालोचना के सिद्धांतों की है। हिन्दी में इस शाखा का प्रारभ जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' द्वारा १८९७ में हुआ जब कि उन्होंने अँगरेज़ी कवि 'पोप' के 'एसेज़ आन क्रिटिसिज़्म' (Essays on Criticism) का अनुवाद 'समालोचनादर्श' के नाम से किया। इसके पश्चात् छोटे-छोटे स्वतंत्र निबंधों के रूप में पाश्चात्य समालोचना के सिद्धातों का प्रतिपादन मासिक-पत्रों में समय-समय पर होता रहा परतु कोई पुस्तक इस सबंध में नहीं निकली। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व-साहित्य' में कहीं कहीं पाश्चात्य सिद्धातों का अच्छा प्रतिपादन किया है।

था। द्विजेन्द्रलाल राय का 'कालिदास और भवभूति' इस प्रकार की एक अपूर्व रचना है।

गंभीर समालोचना

साहित्यिक कृतियों की समालोचना मिश्रबंधु और महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रारंभ हुई। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' में संस्कृत काव्यों का अध्ययन और समालोचना की, परंतु मिश्रबंधु ने हिन्दी काव्य और हिन्दी कवियों को आलोचना का विषय बनाया। मिश्रबंधुओं की पहली समालोचना 'हम्मीर-हठ' काव्य पर 'सरस्वती' में सितंबर १९०० में प्रकाशित हुई और इसके पश्चात् नवंबर १९०० में श्रीधर पाठक की समालोचना निकली। परंतु उनकी पहली विशिष्ट समालोचना १९०४ में 'समालोचक' में महाकवि भूषण पर निकली। उनकी समालोचना का आधार प्राचीन संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विविध सिद्धांत और नियम थे और वे प्रत्येक कवि और काव्य में यह दिखलाने का प्रयत्न करते कि उसमें रसों का निरूपण, अलंकारों का प्रयोग, गुणों की व्यंजना और दोषों का परिहार किस सीमा तक हो सका है और इसी के आधार पर वे उसकी सफलता अथवा विफलता का अनुमान लगाते थे। उदाहरण के लिए 'हम्मीर-हठ की समालोचना' लीजिए। उसमें समालोचना का क्रम इस प्रकार है: (१) रस-निरूपण (२) गुण-वर्णन और (३) दोष वर्णन। समालोचना का यह ढंग बहुत प्राचीन है। इसी ढंग से मम्मटाचार्य ने श्रीहर्ष की और श्रीपति ने केशवदास की समालोचना की थी। मिश्रबंधुओं ने उसी प्राचीन रीति का पुनरुत्थान किया यद्यपि समय की गति और रुचि के अनुसार कुछ परिवर्तन भी कर दिए।

मिश्रबंधुओं की सबसे महान् कृति उनका 'हिन्दी नवरत्न' था जो १९१०-११ में प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दी के नौ सर्वोत्तम कवियों पर विस्तार पूर्वक समालोचना की गई थी। १९२५ में द्वितीय संस्करण में कबीर को भी नवरत्नों में स्थान मिला और भूषण तथा मतिराम दोनों भाई त्रिपाठी बंधु के नाम से एक कर दिए गए। इस पुस्तक ने हिन्दी समालोचना-साहित्य में क्रांति मचा दी। वास्तव में यह अपने ढंग की पहली पुस्तक थी। सुयोग्य समालोचकों ने कवियों के अंतरंग और बहिरंग दोनों पक्षों की विशद समालोचना उपस्थित की। एक ओर तो वे देव कवि के बहिरंग के संबंध में लिखते हैं:

देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रची हैं। उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। इनकी कविता में पृष्ठ के पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्रायः कोई बुरा छंद न पाइयेगा।

दूसरी ओर वे सूरदास के संबंध में लिखते समय कवि के अंतरंग तक पहुँच जाते हैं। यथा :

सूरदास की कविता में सर्वप्रधान गुण यह है कि उसके पद से कवि की अटल भक्ति झलकती है—प्रत्येक मनुष्य का काव्य तभी उत्कृष्ट होता है, जब वह सच्चा होता है। सच्ची कविता तभी होती है, जब कवि जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगें उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्र में भरे हों, वहीं का वर्णन करे। इत्यादि

इसमें अँगरेजी समालोचक मैथ्यू आरनॉल्ड के उदात्त गंभीरता High-seriousness) की प्रतिध्वनि मिलती है। लाला भगवानदीन भी समालोचना की प्राचीन पद्धति के पक्षपाती थे परंतु वे काव्य में अलंकार की ही प्रधानता स्वीकार करते थे और दंडी तथा केशवदास की शाखा के आचार्य-समालोचक थे।

प्राचीन पद्धति के पश्चात् प्रभाववादी (Impressionistic) अथवा स्वच्छंदवादी (Romantic) समालोचना का काल आता है। प्राचीन आचार्यों के सिद्धांतों और नियमों के स्थान में इस पद्धति ने व्यक्तिगत भावनाओं और रुचि को प्रधानता दी और प्राचीन आचार्यों के स्थान पर व्यक्तिगत सम्मति का सम्मान बढ़ चला। प्रभाववादी समालोचक इस मनुष्य का

अब चाहे इसे छायापहरण समझिए, या अर्थापहरण कहिए, या अनुवाद नाम रखिए, जो कुछ भी हो है अद्भुत लीला! इससे अच्छा हो ही नहीं सकता। इस पर पदावली कितनी अतिमधुर है, अनुप्रास का रूप कितना मनोहर है कि सुनते ही बनता है इत्यादि

और 'सतसई-सहार' में वे ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका से निराश होकर कहते हैं:

हा ब्रजभाषे! क्या तू अपनी ऐसी ही दुर्दशा देखने को अब तक बची हुई थी? तेरे वह सुदिन कहो गए, जब सूरदास, बिहारी लाल, हरिश्चंद्र और व्यास जैसे सुकवि अपनी अपनी सुन्दर और नवीन रचनाओं से तुझे अलंकृत करते थे। इत्यादि

इस समालोचना-पद्धति में सबसे बड़ी कमी यह है कि यदि समालोचक की व्यक्तिगत भावना और रुचि व्यापक हुई और वह अपनी समालोचना कवित्वपूर्ण सुदरतम प्रभावशाली शैली में प्रस्तुत कर सका तो समालोचना सुदर और प्रभावशाली प्रतीत होता है, परतु यदि व्यक्तिगत भावना और रुचि सकुचित हुई और शैली प्रभावशाली और कवित्वपूर्ण न हुई तो समालोचना बहुत भद्दी और बुरी जान पड़ती है। कविता में गीति-काव्य का जो महत्व है वही समालोचना में प्रभाववादी समालोचमा का। एक अँगरेजी समालोचक ने प्रभावादी समालोचक के लिए लिखा है:

Eloquently exhibiting his own sensibilities in animated prose.

अर्थात्—अपनी ही भावनाओं की ओजपूर्ण गद्य में विशद व्यजना। कवित्वपूर्ण और प्रभावशाली शैली में लिखे जाने पर प्रभाववादी समालोचना साहित्यिक दृष्टि से महान् रचनाएँ कहलाती हैं, परतु समालोचना की दृष्टि से उनका महत्व बहुत ही कम होता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शकुतला' और 'कुमार-सभव' पर प्रभाववादी समालोचनाएँ साहित्य की दृष्टि से उच्चतम कोटि की रचनाएँ हैं, परतु समालोचना की दृष्टि से उनका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। इसी प्रकार पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी की सतसई' विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से एक सराहनीय और अद्भुत कृति है, परतु समालोचना की दृष्टि से वह एकागी और प्रभावहीन है।

समालोचना के विकास की अंतिम सीढ़ी रामचंद्र शुक्ल की वैज्ञानिक पद्धति है। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार समालोचक का प्रथम और मुख्य कर्तव्य कवि वा लेखक को भली भाँति समझना है। किसी कवि अथवा लेखक को समझने और उस पर अपनी सम्मति देने के लिए कवि के जीवन-चरित्र की विविध बातें, उनका समय, वह किस वातावरण में पला और बढ़ा इत्यादि का जानना बहुत आवश्यक है। उदाहरण के लिए जायसी को ले लीजिए। जायसी की कविता समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह उस युग में पैदा हुआ था जब दो भिन्न धर्मों और सस्कृतियों के सपर्क मे एक नए धर्म और सस्कृति की सृष्टि हो रही थी, जब उदारचेता मुसलमान हिन्दू जनता के सपर्क में आ रहे थे और अपने धर्म की अच्छाइयाँ और सूफी धर्म का तत्व हिन्दुओं को समझा रहे थे। बिना इतनी भूमिका के, और बिना जायसी के जीवन-चरित्र के ज्ञान के जायसी की कविता के भावों का ठीक ठीक समझना अत्यत कठिन है। इस प्रकार किसी कवि अथवा लेखक के अध्ययन के लिए उन सभी बातों का जानना आवश्यक है जिनसे उसके भाव, विचार तथा दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता हो। रामचद्र शुक्ल ने किसी कवि पर समालोचना लिखने के पहले उसके काव्य के साथ ही साथ उसका जीवन-चरित्र, वह समाज जिसमें वह रहता था, साहित्यिक परपरा जिसे वह मानता था, वह समय और वातावरण जिसमें वह पैदा हुआ तथा उनके प्रभाव इत्यादि बातों का भी अध्ययन किया। सक्षेप में वे कवि और जनता के बीच एक माध्यम (Interpreter) के समान थे। उन्होंने तीन समालोचनाएँ लिखीं—प्रथम 'जायसी-ग्रंथावली' (१६२२) की भूमिका में जायसी की, द्वितीय 'तुलसी-ग्रथावली' तृतीय भाग (१६२३) की भूमिका में तुलसीदास की और तीसरी 'भ्रमर-गीत-सार' (१६२५) की भूमिका में सूरदास की। इन तीनों समालोचनाओं में उनका वही वैज्ञानिक ढंग है। वे कवियों के समय और वातावरण तथा उनके जीवन-चरित्र से प्रारंभ करके कवि की प्रतिभा तथा काव्य की आलोचना करते हैं।

हिन्दी में समालोचना-साहित्य के विकास के ये तीन [illegible] हैं। एक सफल समालोचक के लिए इन तीनों पद्धतियों का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि इन तीनों पद्धतियों में कुछ न कुछ [illegible] अवश्य है और तीनों के पूर्ण ज्ञान से ही वास्तविक समालोचना संभव है। रामचद्र शुक्ल वैज्ञानिक पद्धति के साथ रस प्राचीन पद्धति के भी पूर्ण ज्ञाता थे और उनमें इन तीनों पद्धतियों

का सुंदर सामंजस्य मिलता है। श्यामसुंदर दास की समालोचनाओं में भी इन दोनों पद्धतियों का सामंजस्य है। उनकी समालोचना पक्षपातविहीन, समुचित और सुसंगत होती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने समालोचना लिखना १९०१ से ही प्रारंभ कर दिया था, परंतु भाषा की व्यवस्था में व्यस्त रहने के कारण उन्हें समालोचना के लिए अधिक समय नहीं मिला और वे केवल 'कालिदास की निरंकुशता' तथा कालिदास पर कुछ साधारण समालोचनात्मक निबंध और पुस्तक-परीक्षा मात्र लिख सके, परंतु उनमें समालोचना के लिए उपयुक्त प्रतिभा थी। उनकी प्रभाववादी अथवा स्वच्छंदवादी समालोचना 'नैषध चरित चर्चा' में मिलती है जहाँ उन्होंने कविताओं पर 'यह भाव !' 'यह पद्य बहुत ही सरस है' इत्यादि आलोचनाएँ की हैं। कालिदास की आलोचना में उन्होंने अपने प्राचीन-पद्धति के ज्ञान का भी प्रकाशन किया। उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति पर समालोचनाएँ नहीं लिखीं।

उपरोक्त समालोचकों के अतिरिक्त पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्णबिहारी मिश्र, अक्षयवट मिश्र, राजबहादुर लमगोड़ा, गिरधर शर्मा इत्यादि अनेक लेखकों ने समालोचनात्मक लेख और निबंध लिखे। इन लोगों की समालोचनाएँ अधिकांश प्राचीन पद्धति की अथवा प्रभाववादी हैं और कहीं कहीं इन दोनों का सुंदर सामंजस्य भी मिलता है, परंतु वैज्ञानिक समालोचना इनमें से किसी ने भी नहीं की।

विशेष

हिन्दी समालोचना की एक विशेषता तुलनात्मक समालोचना है। इसका प्रारंभ पद्मसिंह शर्मा ने किया जब कि उन्होंने 'सरस्वती', जुलाई १९०७ में बिहारी और फारसी कवि सादी की तुलनात्मक समालोचना प्रकाशित की। 'सरस्वती' की उसी संख्या में पद्मसिंह का एक और लेख 'भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य' निकला जो कई संख्याओं में निकलता रहा और १९११ में समाप्त हुआ। फिर उन्होंने 'सरस्वती', जुलाई १९०८ में 'संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' नामक लेख लिखा जो कई संख्याओं में निकलने के पश्चात् १९१२ में समाप्त हुआ। 'सरस्वती', अगस्त, १९०९ में उन्होंने 'भिन्न भाषाओं की कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' लेख निकाला। परंतु हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक समालोचना का वास्तविक प्रारंभ मिश्रबंधुओं के 'हिन्दी नवरत्न' से हुआ जिसमें इन्होंने हिन्दी के नौ

सर्वोत्तम कवियों की तुलनात्मक समालोचनाएँ लिखीं। इसी ग्रंथ में उन्होंने यह भी लिखा था कि देव, तुलसी और सूर समान श्रेणी के कवि हैं (द्वितीय संस्करण में उन्होंने इसे बदल कर तुलसी को प्रथम, सूर को द्वितीय और देव को तृतीय स्थान दिया) और वे बिहारी, भूषण, मतिराम इत्यादि कवियों से श्रेष्ठ हैं। इस बात पर बहुत से विद्वान् नाराज़ हुए। पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' प्रथम भाग में बिहारी की कविता की तुलना संस्कृत 'आर्या सप्तशती', 'अमरुक शतक' तथा 'गाथा सप्तशती' से और हिन्दी, उर्दू तथा फारसी के शृंगारी कविता की कविता से भी की और इस परिणाम पर पहुँचे कि बिहारी शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। इस समालोचना का उत्तर कृष्णबिहारी मिश्र ने अपने 'देव और बिहारी' ग्रंथ में बड़ी विद्वत्ता के साथ दिया और यह प्रमाणित किया कि देव बिहारी से श्रेष्ठ कवि हैं। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नामक ग्रंथ लिखा और इसी प्रकार यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि बिहारी देव से श्रेष्ठ हैं। क्रमशः देव बिहारी के झगड़े में दलबंदी होने लगी और लोगों में मनोमालिन्य बढ़ने लगा। भाग्यवश भगवानदीन के पश्चात् यह भद्दा झगड़ा लगभग समाप्त हो गया। परन्तु तुलनात्मक समालोचना की पद्धति हिन्दी में बराबर चलती रही और समय समय पर पत्रिकाओं में इस प्रकार के लेख निकलते रहे। कृष्णबिहारी मिश्र का 'बिहारी और दास' नामक लेख जो 'मर्यादा' (१९२१) में प्रकाशित हुआ था बिहारी और दास की तुलनात्मक समालोचना से सम्बन्ध रखता था।

हिन्दी समालोचना की दूसरी विशेषता हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि तुलसीदास का साहित्य था। सर जार्ज ग्रियर्सन, एटकिन्स, ग्राउस इत्यादि अँगरेज़ी विद्वानों ने तुलसीदास की मुक्तकंठ से प्रशंसा की, और इस प्रकार हिन्दी के विद्वान् भी तुलसीदास की कविता का और विशेषतया 'रामचरित-मानस' का अध्ययन करने लगे। अँगरेज़ी में शेक्सपियर पर एक अलग साहित्य बन चुका है। हिन्दी के शिक्षित विद्वान् तुलसीदास पर भी इसी प्रकार का साहित्य देखना चाहते थे। इसके मिश्रबन्धुओं ने 'नवरत्न' में तुलसीदास की तुलना शेक्सपियर से करके उन्हें अँगरेज़ी नाटककार से बड़ा [illegible] प्रमाणित किया। फिर क्या था, उत्साही नवयुवकों ने तुलसीदास पर अनेक दृष्टिकोणों से समालोचना लिखनी प्रारम्भ कर दी। किसी ने उनकी उपमाओं पर लिखा, किसी ने अलंकारों पर, किसी ने उनके '[illegible]-दर्शन' पर लिखा, किसी ने उनके '[illegible]-दर्शन' पर,

किसी ने उनकी भक्ति पर लिखा, किसी ने उनके दार्शनिक विचारों पर। १९२३ में तुलसीदास की मृत्यु की त्रिशत जयंती के अवसर पर नागरी प्रचारिणी सभा ने तीन भागों में 'तुलसी-ग्रंथावली' प्रकाशित कराई। इसके तीसरे भाग में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि पर विविध समालोचनाएँ और श्रद्धांजलियाँ एकत्रित की गई।

परंतु सब कुछ कहने के पश्चात् यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी में समालोचना साहित्य का समुचित विकास न हो सका। पच्चीस वर्षों में कठिनता से एक दर्जन अच्छी पुस्तकें इस शाखा में प्रकाशित हुईं। यह सत्य है कि विकास के इस युग में जब कि कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि सभी क्षेत्रों में मौलिक रचनाओं का क्रम चल रहा था, समालोचना की ओर लोगों ने पूरा ध्यान भी नहीं दिया, फिर भी समालोचना साहित्य का एक विशेष अंग है और इस क्षेत्र का भी विकसित होना आवश्यक था।

उपसंहार

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य के विकास की मुख्य विशेषता यह है कि यह एक वृक्ष की भाँति हुआ जिसमें अनेक शाखाएँ थीं और प्रत्येक शाखा का संबंध एक दूसरे से था और प्रत्येक शाखा को रस और प्रेरणा-शक्ति एक ही उद्गम स्थान से मिलती रही।

रीतिकाल में साहित्य का विकास पर्वत की भाँति हुआ जहाँ पत्थर की एक तह के ऊपर दूसरी तह, उसके ऊपर तीसरी तह और इस प्रकार ढेर लगता रहा। रीतिकालीन स्थिर विकास (Static development) के विपरीत आधुनिक काल के गत्यात्मक विकास (Dynamic development) मिलता है। इस साहित्य-वृक्ष में सभी दिशाओं में शाखाएँ फूटीं और प्रत्येक शाखा की स्वतन्त्र उन्नति और पूर्ण विकास हुआ, फिर भी सभी शाखाओं में विधान की एकता (Unity of design) पाई जाती है। इस प्रकार के विकास के लिए यह समय अत्यंत उपयुक्त था। [illegible] की उन्नति, शिक्षा के प्रचार और प्राचीन ज्ञान और साहित्य के प्रकाश से भूमि अच्छी तरह तैयार हो गई थी। पश्चिमी भावों, विचारों और आदर्शों ने खाद का काम किया। ऐसे शुभ अवसर पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का बीज बोया और इसके बढ़ने पर [illegible] और [illegible] ने इसे [illegible] और [illegible] से सुरक्षित रखा, और [illegible] में महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास और मिश्रबन्धु जैसे [illegible] और [illegible] साहित्य-सेवियों ने [illegible] पर इसे सींचा और वे इसकी [illegible]

किसी ने उनकी भक्ति पर लिखा, किसी ने उनके दार्शनिक विचारों पर। १६२३ में तुलसीदास की मृत्यु की त्रिशत जयंती के अवसर पर नागरी प्रचारिणी सभा ने तीन भागों में 'तुलसी ग्रन्थावली' प्रकाशित कराई। इसके तीसरे भाग में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि पर विविध समालोचनाएं और श्रद्धांजलियाँ एकत्रित की गईं।

परन्तु सब कुछ कहने के पश्चात् यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी में समालोचना साहित्य का समुचित विकास न हो सका। पच्चीस वर्षों में कठिनता से एक दर्जन अच्छी पुस्तकें इस शाखा में प्रकाशित हुईं। यह सत्य है कि विकास के इस युग में जब कि कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि सभी क्षेत्रों में मौलिक रचनाओं का क्रम चल रहा था, समालोचना की ओर लोगों ने पूरा ध्यान भी नहीं दिया, फिर भी समालोचना साहित्य का एक विशेष अंग है और इस क्षेत्र का भी विकसित होना आवश्यक था।

उपसंहार

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य के विकास की मुख्य विशेषता यह है कि यह एक वृक्ष की भाँति हुआ जिसमें अनेक शाखाएँ थीं और प्रत्येक शाखा का संबंध एक दूसरे से था और प्रत्येक शाखा को रस और प्रेरणा-शक्ति एक ही उद्गम स्थान से मिलती रही।

रीतिकाल में साहित्य का विकास पर्वत की भाँति हुआ जहाँ पत्थर की एक तह के ऊपर दूसरी तह, उसके ऊपर तीसरी तह और इस प्रकार ढेर लगता रहा। रीतिकालीन स्थिर विकास (Static development) के विपरीत आधुनिक काल के गत्यात्मक विकास (Dynamic development) मिलता है। इस साहित्य-वृक्ष में सभी दिशाओं में शाखाएँ फूटीं और प्रत्येक शाखा की स्वतंत्र उन्नति और पूर्ण विकास हुआ, फिर भी सभी शाखाओं में विधान की एकता (Unity of design) पाई जाती है। इस प्रकार के विकास के लिए यह समय अत्यन्त उपयुक्त था। जनता की जागृति, शिक्षा के प्रसार और प्राचीन ज्ञान और साहित्य के प्रचार से भूमि अच्छी तरह तैयार हो गई थी। पश्चिमी भावों, विचारों और आदर्शों ने खाद का काम किया। ऐसे शुभ अवसर पर भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का बीज बोया और इसके पनपने पर उत्साही व्यक्तियों और संस्थाओं ने इसे बहुत विरोधों और बाधाओं से सुरक्षित रक्खा, और अन्त में महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदर दास और मिश्रबन्धु जैसे उत्साही और त्यागी साहित्य-सेवियों ने समय-समय पर इसे सींचा और वे इसकी अनुचित काट-छाँट भी करते

रहे । फल यह हुआ कि केवल पच्चीस वर्षों में ही हिन्दी साहित्य रूपी वृक्ष पूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त हुआ ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य तीन शाखाएँ हैं: (१) उपयोगी साहित्य, (२) पत्र पत्रिकाएँ और (३) गंभीर साहित्य ।

उपयोगी साहित्य

कहा जाता है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में उपयोगी साहित्य था ही नहीं, परन्तु यह बात ठीक नहीं क्योंकि संस्कृत में कितनी ही पुस्तकें उपयोगी विषयों पर लिखी गई थीं। कामसूत्र, गृह्यसूत्र, चरक और सुश्रुत के आयुर्वेद, मनु, पराशर इत्यादि की स्मृतियाँ, अर्थ-शास्त्र, अठारह पुराण, षट्दर्शन, भाष्य तथा गणित, ज्योतिष और शिल्प कला आदि पर अनेक पुस्तकें मिलती हैं। परंतु हिन्दी अथवा अन्य आधुनिक साहित्यों में उपयोगी साहित्य की रचना बहुत कम हुई। इसका कारण यह था कि आयुर्वेद, ज्योतिष, दर्शन, पुराण इत्यादि उपयोगी साहित्य ब्राह्मणों के पेशे में शामिल हो गया था और वे इसी के आधार पर अपनी रोटी कमाया करते थे। इसलिए उन्होंने इस ज्ञान भंडार को जनता से पृथक् रखने के लिए इसे हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में रूपांतरित नहीं होने दिया। जनता केवल खेती-बाड़ी और व्यापार के अतिरिक्त कुछ न जानती थी और न जानने की इच्छा ही करती थी। हाँ, धर्म सर्वसाधारण की संपत्ति था इसी कारण धार्मिक पुस्तकें हिन्दी में भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना हुई जिससे देश की आर्थिक, राजनीतिक और व्यापारिक अवस्था में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। अभी तक हम ईश्वर, स्वर्ग और मोक्ष को ही सब कुछ समझते थे परंतु अब रुपया ही सब कुछ हो गया। रेल, तार, डाक, मोटर बिजली इत्यादि के अद्भुत युग में प्रत्येक मनुष्य को विज्ञान, यंत्र-संचालन विद्या, आधुनिक समाज-शास्त्र इत्यादि का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो गया। रेल के द्वारा दूरी कम हो गई और हम थोड़े ही समय में बहुत दूर आ जा सकते थे। राष्ट्रीयता की भावना ने हममें अपने अतीत गौरव का इतिहास जानने की प्रेरणा उत्पन्न की और इस प्रकार हम इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विज्ञान और व्यापार इत्यादि का अध्ययन प्रारंभ किया। प्राचीन काल में उपयोगी साहित्य के अभाव की विषमता

और आधुनिक काल में इसका प्राधान्य देखकर हम कह सकते हैं कि आधुनिक युग उपयोगी साहित्य का युग है।

परंतु यद्यपि यह युग उपयोगी साहित्य के लिए विशेष उपयुक्त है, फिर भी हिन्दी में उपयोगी साहित्य की अवस्था बहुत ही हीन है। यह सच है कि पत्र-पत्रिकाओं में उपयोगी विषयों पर प्रायः लेख निकलते ही रहते हैं और कुछ छोटी-मोटी पुस्तकें भी प्रकाशित हो गई हैं, परन्तु वे लेख और ग्रंथ किसी काम के नहीं और जो लोग अँगरेज़ी पढ़ सकते हैं वे उन्हें देखना भी पसंद नहीं करते। सरकार की शिक्षा-नीति और स्कूल, तथा कॉलेजों में शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी होने के कारण विद्वान् और अच्छे लेखक सर्वदा अँगरेज़ी में ही लिखना पसंद करते हैं, क्योंकि एक तो वे पारिभाषिक शब्दों (Technical terms) के अनुवाद की कठिनाई से बच जाते हैं और दूसरे पुस्तकों की बिक्री से रुपया भी अँगरेज़ी पुस्तकों से ही अधिक आता है। हिन्दी में अँगरेज़ी न जानने वालों के लिए साधारण और प्रारंभिक पुस्तकें कुछ अवश्य हैं परंतु उच्च श्रेणी की पुस्तकों का नितांत अभाव है।

उपयोगी साहित्य मुख्य तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) उपयोगी साहित्य की वे शाखाएँ जो भारत में प्राचीन काल में भी थीं, जैसे दर्शन, तर्क, धर्म और आयुर्वेद।

(२) उपयोगी साहित्य की वे शाखाएँ जो भारत के लिए नवीन थीं, अथवा यदि बिलकुल नई न थीं तो इतना अवश्य था कि पश्चिम ने उन विषयों पर अत्यधिक उन्नति कर ली थी, जैसे विज्ञान—भौतिक, रसायन, वनस्पति शास्त्र, यंत्र-विद्या इत्यादि तथा समाज-शास्त्र—अर्थ-शास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान और शरीर-शास्त्र इत्यादि।

(३) उपयोगी साहित्य की वे शाखाएँ जो न तो प्राचीन भारत में ही थीं, न पश्चिम से ही आईं, वरन् आधुनिक युग की नवीन भावना और वातावरण के कारण उनका संपादन आवश्यक हो गया, जैसे इतिहास और भूगोल, भाषाशास्त्र और प्राचीन लिपि-माला, जीवन-चरित और न्याय तथा कानून (Law) और शासन-प्रणाली इत्यादि।

प्रथम वर्ग के अंतर्गत उपयोगी साहित्य में धर्म के अतिरिक्त और सब शाखाओं में कुछ भी उन्नति और विकास नहीं दिखता। आधुनिक दवाखानों और अस्पतालों के कारण प्राचीन आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली का विकास न हो सका। इसके ने आधुनिक डाक्टरों तथा हकीमों का अनुचित

ज्रपात करके प्राचीन प्रणाली का गला घोंट दिया। दर्शन और तर्क साधारण मनुष्य के प्रतिदिन के कार्य में लेशमात्र भी उपयोगी नहीं है, इस लिए सौ पीछे निन्यानवे आदमी इन्हें पढ़ना पसंद नहीं करते। एक प्रतिशत मनुष्य, जो इन्हें केवल ज्ञानवर्द्धन के लिए पढ़ना चाहते हैं, संस्कृत में भाष्यों और टीकाओं से पढ़ते हैं अथवा पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों द्वारा अनुवादित अँगरेज़ी में। बालगंगाधर तिलक रचित 'कर्मयोग' के अनुवाद के अतिरिक्त हिन्दी में दर्शन पर एक भी सुदृढ़ पुस्तक नहीं लिखी गई। आयुर्वेद पर दो चार पुस्तकें अवश्य लिखी गईं परन्तु वे संख्या में बहुत ही कम हैं। धर्म पर अवश्य काफी पुस्तकें लिखी गईं। आर्य समाज, सनातन धर्म, वर्णाश्रम संघ इत्यादि अनेक संस्थाओं ने अपने अपने मत और समाज की प्रशंसा में अनेक पुस्तकें प्रकाशित कराईं। ये पुस्तकें अधिकांश समाज संबंधी वाद-विवाद तथा खंडन-मंडन से संबंध रखती हैं। आर्य-समाज ने बहुत से पैम्फलेट और पुस्तकें अपने प्रचार के लिए छपवाईं।

द्वितीय वर्ग के अंतर्गत उपयोगी साहित्य का विकास साधारणतः संतोषजनक रहा। इस दिशा में सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दों (Technical Terms) की थी। इस कठिनाई को हल करने के लिए बनारस की नागरी प्रचारिणी सभा ने १८९८ में ही एक वैज्ञानिक कोष प्रकाशित कराने का कार्य प्रारंभ किया। १९०८ में दस वर्षों के कठिन परिश्रम के पश्चात् यह कार्य समाप्त हुआ और इसमें भूगोल, ज्योतिष, गणित, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन और दर्शन के लगभग सभी शब्दों के हिन्दी रूपांतर लिखे गए। परन्तु इस प्रारंभिक कठिनाई के मिट जाने पर भी सबसे कठिन समस्या—लेखकों और पाठकों की समस्या—बनी ही रही। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है अधिकांश अच्छे लेखक अँगरेज़ी में ही लिखते थे और अँगरेज़ी जानने वाले पाठक भी अँगरेज़ी पुस्तकें पढ़ना पसंद करते थे, इस प्रकार हिन्दी के हिस्से में केवल बहुत ही साधारण लेखक और अँगरेज़ी न जानने वाले ग़रीब पाठक ही रह जाते थे और इस कारण हिन्दी में साधारण प्रारंभिक पुस्तकें ही निकलती थीं। इलाहाबाद की विज्ञान परिषद् ने १९१५ ई० के आसपास हिन्दी में विज्ञान की अनेक प्रारंभिक पुस्तकें प्रकाशित कराईं। शालिग्राम भार्गव और रामदास गौड़ ने कुछ साइंस-प्राइमरें हिन्दी में लिखीं। महेन्दुलाल गर्ग और त्रिलोकीनाथ ने शरीर शास्त्र और चिकित्सा पर कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। समाज-शास्त्र

में अर्थ-शास्त्र पर प्राणनाथ विद्यालंकार और मिश्रबंधु ने कुछ पुस्तकें लिखीं। 'इंडियन पीनल कोड' का हिन्दी में एक अनुवाद हुआ था जिसकी भाषा बिलकुल उर्दू जैसी थी, परन्तु इसके अतिरिक्त कानून पर कोई भी महत्वपूर्ण रचना — मौलिक या अनुवादित - नहीं प्रकाशित हुई।

तृतीय वर्ग के अंतर्गत उपयोगी साहित्य की उन्नति सन्तोषजनक हुई। सबसे पहले शिक्षित मनुष्यों की दृष्टि भूगोल की ओर गई और जिलों तथा नगरों का वर्णन लिखा जाने लगा। अस्तु, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के छठे भाग (१९०२) में नारायणप्रसाद पांडे का एक लेख नेपाल पर प्रकाशित हुआ जिसमें नेपाल का भौगोलिक वर्णन था; आठवें भाग (१९०४) में रुक्मिणीनंदन शर्मा ने 'लखनऊ ज़िला का भूगोल' लेख लिखा जिसकी शुद्धता और सुंदरता पर मुग्ध होकर देवीप्रसाद ने लेखक को एक मोहर पुरस्कार में दी थी, और नरेश प्रसाद मिश्र ने 'गोरखपुर ज़िला का संक्षिप्त वृत्तांत' लिखा जिसमें गोरखपुर का ऐतिहासिक और भौगोलिक वृत्तांत संक्षेप में मिलता है। भूगोल के पश्चात् विद्वान् लोग इतिहास की ओर आकर्षित हुए। भारतवर्ष में प्राचीन और मध्यकाल में दंतकथाएँ इतिहास में इस प्रकार घुल मिल गई थीं कि उन दोनों को पृथक् करना असंभव-सा हो गया। पुराणों में भी इतिहास के साथ दंत-कथाओं का सम्मिश्रण है इसी कारण पुराण इतिहास नहीं माने जाते। इतिहास, जैसा आजकल लोग समझते हैं, भारत में कभी था ही नहीं। वीर-पूजा की भावना के कारण प्रत्येक महापुरुष की जीवनी के साथ कुछ अतिप्राकृत और अतिमानुषिक प्रसंग अवश्य गढ़ लिए जाते थे। 'आल्हखंड' इसका एक उदाहरण है। आधुनिक युग में वीर-पूजा की भावना के लोप तथा पश्चिम के संसर्ग से हमें सत्य और वास्तविक तथ्य, दंतकथाओं से रहित सत्य, जानने की इच्छा हुई। पुरातत्व विभाग की खुदाई और खोजों से हमारी उत्कंठा और आकांक्षा अपने प्राचीन इतिहास जानने की ओर और भी जागरित हुई। कर्नल जेम्स टॉड का 'राजस्थान' आधुनिक इतिहास का प्रथम प्रयास था और इससे हमारे विद्वानों को इतिहास लिखने की प्रेरणा मिली। अधिकांश विद्वानों ने अँगरेज़ी में पुस्तकें लिखीं परन्तु कुछ पुस्तकें हिन्दी में भी लिखी गईं। पहले टॉड के 'राजस्थान' का अनुवाद हुआ और फिर मौलिक रचनाओं का क्रम चला। मिश्रबंधुओं ने दो भाग में 'भारतवर्ष का इतिहास' लिखा और साथ ही साथ जापान का इतिहास और रूस का इतिहास भी लिखा। [illegible] ने '[illegible] राज का इतिहास' दो भागों में लिखा। गौरीशंकर हीराचंद

ओझा ने 'सोलकियों का इतिहास' और 'उदयपुर का इतिहास' तीन भागों में, विश्वेश्वर नाथ रेउ ने 'भारत के प्राचीन राज-वंश', चद्रराज भडारी ने 'भारत के हिन्दू सम्राट्', सुखसम्पत्ति राय भडारी ने 'जगद्‌गुरु भारतवर्ष' और संपूर्णा नद ने 'सम्राट् हर्षवर्धन' लिखा। गौरीशकर हीराचद ओझा ने 'प्राचीन-लिपि-माला' नाम का एक बृहत् ग्रथ लिपियों के सबध में लिखा। भाषा शास्त्र के सबध में भी दो तीन प्रारंभिक पुस्तकें निकलीं जिनमें श्याम-सुदर दास का 'भाषा-विज्ञान' और मगलदेव का 'तुलनात्मक भाषा शास्त्र' प्रसिद्ध हैं।

यात्राओं का वर्णन अधिकाश मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में ही निकलता रहा। कुछ पुस्तकें भी यात्राओं पर लिखी गईं जिनमें गदाधर सिंह का 'चीन में तेरह मास' और शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' अधिक प्रसिद्ध हैं। इतिहास की भाँति जीवन-चरित्र भी हिन्दी में नई चीज़ थी प्राचीन। काल में भारत में जीवन-चरित्र बहुत ही कम लिखे जाते थे। वीरों और महापुरुषों के जीवन-चरित्र पुराणों, महाकाव्यों, खडकाव्यों तथा नाटकों में वर्णित होते थे जिनमें उनके गुणों का अतिरजन होता और प्रायः अतिप्राकृत प्रसगों की भी अवतारणा होती थी। मध्यकाल में 'भक्तमाल', वार्ताओं तथा इसी प्रकार की अन्य रचनाओं में, जिनमें धार्मिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र वर्णित होते, ये ही दोष पाए जाते हैं। पश्चिम के ससर्ग से हमने सत्य और वैज्ञानिक जीवन-चरित्र का महत्त्व समझा और आधुनिक काल में सत्य तथा वैज्ञानिक जीवन-चरित्र लिखे जाने लगे। इस काल में रामनारायण मिश्र का 'महादेव गोविन्द रानडे', माधव मिश्र का 'विशुद्धानद चरितावली', तथा शिवनदन सहाय का 'बाबू हरिश्चद्र का जीवन चरित' 'गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित' और 'चैतन्य महाप्रभु का जीवन-चरित' इत्यादि हिन्दी के कुछ बहुत प्रसिद्ध जीवन चरित हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

भारत में पत्र पत्रिकाएँ आधुनिक युग में मुद्रण-यत्र के साथ प्रचलित हुईं। हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदत मार्तंड' था जिसे युगलकिशोर शुक्ल ने कलकत्ते से १८२४ ई० में निकाला था। इसके पश्चात् 'बगदूत' (१८२६) 'प्रजामित्र' (१८३४) 'बनारस अखबार' १८४४) इसे राजा शिवप्रसाद ने बनारस से निकाला) 'साम्य-दड-मार्तंड' (१८५०-५१) और 'समाचार-सुधा वर्षण'

(१८५४) जिसे श्यामसुंदर सेन ने निकाला था, हिन्दी के प्रारंभिक पत्र थे। धीरे-धीरे अनेक साप्ताहिक, मासिक और दैनिक पत्र निकाले गए परंतु समाचार-पाठकों की कमी के कारण ये बंद हो गए। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक केवल दो तीन साप्ताहिक और दो तीन मासिक पत्र-पत्रिकाएँ उल्लेखनीय थीं। बीसवीं शताब्दी में पत्रों की संख्या में वृद्धि हुई। बहुत सी नई पत्रिकाएँ प्रारंभ की गईं जिनमें कुछ थोड़े ही वर्षों के पश्चात् बंद हो गईं; कुछ कई बार बंद हुईं और फिर फिर प्रारंभ हुईं, और कुछ निरंतर चलती रहीं।

हिन्दी साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं ने बहुत सहायता पहुँचाई। रीतिकाल में हिन्दी साहित्य राजसभाओं तक ही सीमित था, जहाँ कविगण अपनी कविता का पाठ किया करते थे। अँगरेज़ी शासन के आगमन से जब हिन्दी प्रदेश के मुख्य राज-दरबार समाप्त हो गए तब हिन्दी राजसभाओं से उठकर कवि-सम्मेलनों, कवि-दरबारों और साहित्य मंडलियों तथा क्लबों में आ गया। इसी कारण उन्नीसवीं शताब्दी का साहित्य 'गोष्ठी-साहित्य' मात्र रह गया। उस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता थी साहित्य को शिक्षित जनता की वस्तु बना देना, और यह काम पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ। साहित्य शिक्षित जनता की वस्तु हो गई जिससे उसका सर्वतोमुखी तथा सर्वांगीण विकास हुआ।

इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा साहित्य की कितनी ही समस्याएँ बड़ी शीघ्रता से हल हो गईं। उदाहरण के लिए भाषा की अस्थिरता का प्रश्न ले लीजिए। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पहले-पहल इस प्रश्न को उठाया। बालमुकुंद गुप्त ने 'भारत मित्र' में, गोविन्दनारायण मिश्र ने 'बंगवासी' में तथा अंबिकाप्रसाद वाजपेयी आदि विद्वानों ने अन्य पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भाषा की अस्थिरता के सभी पक्ष देख डाले और फल यह हुआ कि दस वर्ष के अन्दर ही भाषा स्थिर होने लगी। विभक्ति-विचार की समस्या भी इसी प्रकार चलती रही। बीसवीं शताब्दी में गद्य शैली के विकास में भी पत्र-पत्रिकाओं का विशेष स्थान है। तात्पर्य यह कि पत्र-पत्रिकाओं की सहायता से हिन्दी साहित्य ने थोड़े ही वर्षों में इतनी अपूर्व उन्नति कर डाली।

परंतु पत्र-पत्रिकाओं का सबसे महत्वपूर्ण कार्य दैनिक साहित्य अथवा सामयिक साहित्य की सृष्टि है। प्राचीन काल में प्रायः स्थायी साहित्य की ही रचना विशेष होती थी। मुद्रणयंत्र के अभाव के कारण समसामयिक साहित्य कार्य असंभव थे, अतः कवि तथा लेखक अपने जीवन में स्थायी साहित्य की ही रचना करते थे। परंतु आधुनिक युग में इस प्रकार का साहित्य अपने

लगा—प्रथम अमर साहित्य जो भविष्य में भी उसी आनंद के साथ पढ़ा जायगा जैसे आज पढ़ा जाता है, और दूसरा सामयिक साहित्य जो लिखने के समय तो बहुत आनंद से पढ़ा जाता है परंतु भविष्य में उसका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा सामयिक साहित्य की सृष्टि और वृद्धि हुई।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में आधुनिक हिन्दी साहित्य का बाल्यकाल था। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था किन्तु उसमें अमर साहित्य की सृष्टि करने की शक्ति न थी। गद्य और पद्य में टूटी फूटी भाषा में साधारण काव्य और लेख निकलते थे जो सामयिक साहित्य के अंतर्गत आते हैं। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में केवल सामयिक साहित्य का सृजन हुआ और पत्र पत्रिकाओं के द्वारा ही उसका प्रचार होता रहा और इनके ही द्वारा नए नए लेखकों और पाठकों की भी सृष्टि होती रही। परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भाषा शक्तिशालिनी और समृद्ध होने लगी और उसमें अमर साहित्य भी लिखा जाने लगा। उस समय पत्र-पत्रिकाओं की विशेषता केवल सामयिक साहित्य प्रस्तुत करने में रह गई।

पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा अच्छी अच्छी पुस्तकों का प्रचार और विज्ञापन भी भली प्रकार हो सका। परंतु जहाँ पत्र-पत्रिकाओं से इतना लाभ हुआ वहाँ इनसे एक हानि भी हुई। इन्होंने सामयिक साहित्य का इतना अधिक प्रचार कर दिया कि अमर साहित्य की सृष्टि बहुत कम हो गई। आधुनिक युग में जहाँ साधारणतया साहित्य की अभूतपूर्व और अद्भुत वृद्धि हुई वहाँ अमर साहित्य के नाम पर बहुत थोड़ी ही रचनाएँ मिलती हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई और उनका विकास बहुत ही असंतोषजनक रहा। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो जनता में शिक्षा की बहुत कमी थी। हिन्दी प्रदेश में दो या तीन प्रतिशत जनता ही कुछ लिख-पढ़ सकती थी और इनमें भी काफी लोग अँगरेजी पढ़े-लिखे भी होते थे जो अँगरेजी की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना अधिक पसंद करते थे। फिर शिक्षा का माध्यम अँगरेजी था, जिससे विद्यार्थी वर्ग सरकारी नौकरी वाले तथा इसी प्रकार के अन्य शिक्षित वर्ग अपनी अँगरेजी अच्छी बनाने के ख्याल से अँगरेजी की पत्र पत्रिकाएँ पढ़ा करते थे। इस प्रकार हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को समुचित संख्या में पाठक भी न मिल पाते थे। फिर आर्थिक कठिनाई सबसे ज़बरदस्त थी। कितने पत्र थोड़े

ही दिन चल कर आर्थिक कठिनाइयों के कारण बंद हो गए। हिन्दी दैनिक समाचार-पत्रों के पास इतना रुपया न था जो सीधे रायटर और असोसिएटेड प्रेस से समाचार ले सकते। फलतः वे अँगरेज़ी पत्रों से ख़बरें अनुवादित करके एक दिन बाद देते थे। इस कारण भी 'अर्जुन', 'वर्तमान', 'आज' आदि प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक पत्र बहुत कम पढ़े जाते थे। साप्ताहिक पत्र भी संख्या में बहुत कम थे। कानपुर से प्रकाशित होने वाला गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' ही एक मात्र अच्छा साप्ताहिक पत्र था। परंतु मासिक पत्र हिन्दी में कई थे जो हिन्दी भाषा और साहित्य की समुचित सेवा कर रहे थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में 'सरस्वती' ही सब से अच्छी मासिक पत्रिका थी जिसने हिन्दी भाषा और साहित्य की अपूर्व और अनुपम सेवा की। 'मर्यादा', 'प्रभा', 'इन्दु' और 'माधुरी' इत्यादि पत्रिकाओं ने भी अच्छी सेवाएँ कीं और उनका भी जनता में काफ़ी प्रचार हुआ।

गंभीर साहित्य

इन पच्चीस वर्षों में गंभीर साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। पिछले अध्यायों में साहित्य के सभी रूपों का क्रमिक विकास विस्तारपूर्वक दिखलाया जा चुका है।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य की तीनों प्रधान शाखाओं का विकास हुआ। सरकार की शिक्षा-नीति के कारण स्कूल और कॉलेजों का शिक्षा-माध्यम अँगरेज़ी रहा और जनता में शिक्षा का प्रसार भी प्रतिशत दो अथवा तीन मनुष्यों तक ही रहा, जिससे उपयोगी साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं का संतोषजनक विकास न हो सका, परंतु गंभीर शाखा के साहित्य का विकास बहुत ही संतोषजनक रहा। यद्यपि इसके विकास के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं, परन्तु फिर भी यह अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में पल्लवित और पुष्पित हुआ।

लगा—प्रथम अमर साहित्य जो भविष्य में भी उसी आनंद के साथ पढ़ा जायगा जैसे आज पढ़ा जाता है, और दूसरा सामयिक साहित्य जो लिखने के समय तो बहुत आनद से पढ़ा जाता है परतु भविष्य मे उसका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा सामयिक साहित्य की सृष्टि और वृद्धि हुई।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में आधुनिक हिन्दी साहित्य का बाल्यकाल था। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था किन्तु उसमे अमर साहित्य की सृष्टि करने की शक्ति न थी। गद्य और पद्य मे टूटी फूटी भाषा में साधारण काव्य और लेख निकलते थे जो सामयिक साहित्य के अतर्गत आते हैं। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारभिक वर्षों में केवल सामयिक साहित्य का सृजन हुआ और पत्र पत्रिकाओं के द्वारा ही उसका प्रचार होता रहा और इनके ही द्वारा नए नए लेखकों और पाठकों की भी सृष्टि होती रही। परतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भाषा शक्तिशालिनी और समृद्ध होने लगी और उसमें अमर साहित्य भी लिखा जाने लगा। उस समय पत्र-पत्रिकाओं की विशेषता केवल सामयिक साहित्य प्रस्तुत करने में रह गई।

पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा अच्छी अच्छी पुस्तकों का प्रचार और विज्ञापन भी भली प्रकार हो सका। परतु जहाँ पत्र-पत्रिकाओं से इतना लाभ हुआ वहाँ इनसे एक हानि भी हुई। इन्होंने सामयिक साहित्य का इतना अधिक प्रचार कर दिया कि अमर साहित्य की सृष्टि बहुत कम हो गई। आधुनिक युग में जहाँ साधारणतया साहित्य की अभूतपूर्व और अद्भुत वृद्धि हुई वहाँ अमर साहित्य के नाम पर बहुत थोड़ी ही रचनाएँ मिलती हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई और उनका विकास बहुत ही असतोषजनक रहा। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो जनता में शिक्षा की बहुत कमी थी। हिन्दी प्रदेश में दो या तीन प्रतिशत जनता ही कुछ लिख-पढ़ सकती थी और इनमें भी काफी लोग अँगरेजी पढे-लिखे भी होते थे जो अँगरेजी की पत्र-पत्रिकाएँ पढना अधिक पसद करते थे। फिर शिक्षा का माध्यम अँगरेजी था, जिससे विद्यार्थी वर्ग सरकारी नौकरी वाले तथा इसी प्रकार के अन्य शिक्षित वर्ग अपनी अँगरेजी अच्छी बनाने के ख्याल से अँगरेजी की पत्र पत्रिकाएँ पढ़ा करते थे। इस प्रकार हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को समुचित सख्या में पाठक भी न मिल पाते थे। फिर आर्थिक कठिनाई सबसे ज़बरदस्त थी। कितने पत्र थोड़े

ही दिन चल कर आर्थिक कठिनाइयों के कारण बंद हो गए। हिन्दी दैनिक समाचार-पत्रों के पास इतना रुपया न था जो सीधे रायटर और असोसिएटेड प्रेस से समाचार ले सकते। फलतः वे अँगरेज़ी पत्रों से खबरें अनुवादित करके एक दिन बाद देते थे। इस कारण भी 'अर्जुन', 'वर्तमान', 'आज' आदि प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक पत्र बहुत कम पढ़े जाते थे। साप्ताहिक पत्र भी संख्या में बहुत कम थे। कानपुर से प्रकाशित होने वाला गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' ही एक मात्र अच्छा साप्ताहिक पत्र था। परन्तु मासिक पत्र हिन्दी में कई थे जो हिन्दी भाषा और साहित्य की समुचित सेवा कर रहे थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में 'सरस्वती' ही सब से अच्छी मासिक पत्रिका थी जिसने हिन्दी भाषा और साहित्य की अपूर्व और अनुपम सेवा की। 'मर्यादा', 'प्रभा', 'इन्दु' और 'माधुरी' इत्यादि पत्रिकाओं ने भी अच्छी सेवाएँ कीं और उनका भी जनता में काफ़ी प्रचार हुआ।

गंभीर साहित्य

इन पच्चीस वर्षों में गंभीर साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। पिछले अध्यायों में साहित्य के सभी रूपों का क्रमिक विकास विस्तारपूर्वक दिखलाया जा चुका है।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य की तीनों प्रधान शाखाओं का विकास हुआ। सरकार की शिक्षा-नीति के कारण स्कूल और कॉलेजों का शिक्षा-माध्यम अँगरेज़ी रहा और जनता में शिक्षा का प्रचार भी प्रतिशत दो अथवा तीन मनुष्यों तक ही रहा, जिससे उपयोगी साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं का संतोषजनक विकास न हो सका, परंतु हिन्दी भाषा के साहित्य का विकास बहुत ही संतोषजनक रहा। यद्यपि इसके विकास के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं परन्तु फिर भी यह अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में पल्लवित और पुष्पित हुआ।

लगा—प्रथम अमर साहित्य जो भविष्य में भी उसी आनंद के साथ पढ़ा जायगा जैसे आज पढ़ा जाता है, और दूसरा सामयिक साहित्य जो लिखने के समय तो बहुत आनंद से पढ़ा जाता है परंतु भविष्य में उसका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा सामयिक साहित्य की सृष्टि और वृद्धि हुई।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में आधुनिक हिन्दी साहित्य का बाल्यकाल था। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था किन्तु उसमें अमर साहित्य की सृष्टि करने की शक्ति न थी। गद्य और पद्य में टूटी फूटी भाषा में साधारण काव्य और लेख निकलते थे जो सामयिक साहित्य के अंतर्गत आते हैं। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में केवल सामयिक साहित्य का सृजन हुआ और पत्र पत्रिकाओं के द्वारा ही उसका प्रचार होता रहा और इनके ही द्वारा नए नए लेखकों और पाठकों की भी सृष्टि होती रही। परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भाषा शक्तिशालिनी और समृद्ध होने लगी और उसमें अमर साहित्य भी लिखा जाने लगा। उस समय पत्र-पत्रिकाओं की विशेषता केवल सामयिक साहित्य प्रस्तुत करने में रह गई।

पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा अच्छी अच्छी पुस्तकों का प्रचार और विज्ञापन भी भली प्रकार हो सका। परंतु जहाँ पत्र-पत्रिकाओं से इतना लाभ हुआ वहाँ इनसे एक हानि भी हुई। इन्होंने सामयिक साहित्य का इतना अधिक प्रचार कर दिया कि अमर साहित्य की सृष्टि बहुत कम हो गई। आधुनिक युग में जहाँ साधारणतया साहित्य की अभूतपूर्व और अद्भुत वृद्धि हुई वहाँ अमर साहित्य के नाम पर बहुत थोड़ी ही रचनाएँ मिलती हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई और उनका विकास बहुत ही असंतोषजनक रहा। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो जनता में शिक्षा की बहुत कमी थी। हिन्दी प्रदेश में दो या तीन प्रतिशत जनता ही कुछ लिख-पढ़ सकती थी और इनमें भी काफी लोग अँगरेजी पढ़े-लिखे भी होते थे जो अँगरेजी की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना अधिक पसंद करते थे। फिर शिक्षा का माध्यम अँगरेजी था, जिससे विद्यार्थी वर्ग सरकारी नौकरी वाले तथा इसी प्रकार के अन्य शिक्षित वर्ग अपनी अँगरेजी अच्छी बनाने के ख्याल से अँगरेजी की पत्र पत्रिकाएँ पढ़ा करते थे। इस प्रकार हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को समुचित संख्या में पाठक भी न मिल पाते थे। फिर आर्थिक कठिनाई सबसे ज़बरदस्त थी। कितने पत्र थोड़े

ही दिन चल कर आर्थिक कठिनाइयों के कारण बंद हो गए। हिन्दी दैनिक समाचार-पत्रों के पास इतना रुपया न था जो सीधे रायटर और असोसिएटेड प्रेस से समाचार ले सकते। फलतः वे अँगरेज़ी पत्रों से खबरें अनुवादित करके एक दिन बाद देते थे। इस कारण भी 'अर्जुन', 'वर्तमान', 'आज' आदि प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक पत्र बहुत कम पढ़े जाते थे। साप्ताहिक पत्र भी संख्या में बहुत कम थे। कानपुर से प्रकाशित होने वाला गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' ही एक मात्र अच्छा साप्ताहिक पत्र था। परंतु मासिक पत्र हिन्दी में कई थे जो हिन्दी भाषा और साहित्य की समुचित सेवा कर रहे थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में 'सरस्वती' ही सब से अच्छी मासिक पत्रिका थी जिसने हिन्दी भाषा और साहित्य की अपूर्व और अनुपम सेवा की। 'मर्यादा', 'प्रभा', 'इन्दु' और 'माधुरी' इत्यादि पत्रिकाओं ने भी अच्छी सेवाएं की और उनका भी जनता में काफ़ी प्रचार हुआ।

गंभीर साहित्य

इन पच्चीस वर्षों में गंभीर साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। पिछले अध्यायों में साहित्य के सभी रूपों का क्रमिक विकास विस्तारपूर्वक दिखलाया जा चुका है।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य की तीनों प्रधान शाखाओं का विकास हुआ। सरकार की शिक्षा-नीति के कारण स्कूल और कॉलेजों का शिक्षा-माध्यम अँगरेज़ी रहा और जनता में शिक्षा का प्रचार भी प्रतिशत दो अथवा तीन मनुष्यों तक ही रहा, जिससे उपयोगी साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं का संतोषजनक विकास न हो सका, परंतु हिन्दी भाषा के साहित्य का विकास बहुत ही मनोरंजक रहा। यद्यपि इसके विकास के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं, परन्तु फिर भी यह अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में पल्लवित और पुष्पित हुआ।

लगा—प्रथम अमर साहित्य जो भविष्य में भी उसी आनद के साथ पढ़ा जायगा जैसे आज पढ़ा जाता है, और दूसरा सामयिक साहित्य जो लिखने के समय तो बहुत आनद से पढ़ा जाता है परंतु भविष्य में उसका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। पत्र पत्रिकाओं के द्वारा सामयिक साहित्य की सृष्टि और वृद्धि हुई।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम में आधुनिक हिन्दी साहित्य का बाल्यकाल था। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था किन्तु उसमें अमर साहित्य की सृष्टि करने की शक्ति न थी। गद्य और पद्य मे टूटी फूटी भाषा में साधारण काव्य और लेख निकलते थे जो सामयिक साहित्य के अतर्गत आते हैं। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारभिक वर्षों में केवल सामयिक साहित्य का सृजन हुआ और पत्र पत्रिकाओं के द्वारा ही उसका प्रचार होता रहा और इनके ही द्वारा नए नए लेखकों और पाठकों की भी सृष्टि होती रही। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भाषा शक्तिशालिनी और समृद्ध होने लगी और उसमें अमर साहित्य भी लिखा जाने लगा। उस समय पत्र-पत्रिकाओं की विशेषता केवल सामयिक साहित्य प्रस्तुत करने में रह गई।

पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा अच्छी अच्छी पुस्तकों का प्रचार और विज्ञापन भी भली प्रकार हो सका। परतु जहाँ पत्र-पत्रिकाओं से इतना लाभ हुआ वहाँ इनसे एक हानि भी हुई। इन्होंने सामयिक साहित्य का इतना अधिक प्रचार कर दिया कि अमर साहित्य की सृष्टि बहुत कम हो गई। आधुनिक युग में जहाँ साधारणतया साहित्य की अभूतपूर्व और अद्भुत वृद्धि हुई वहाँ अमर साहित्य के नाम पर बहुत थोड़ी ही रचनाएँ मिलती हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई और उनका विकास बहुत ही असतोषजनक रहा। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो जनता में शिक्षा की बहुत कमी थी। हिन्दी प्रदेश में दो या तीन प्रतिशत जनता ही कुछ लिख-पढ़ सकती थी और इनमें भी काफी लोग अँगरेजी पढे-लिखे भी होते थे जो अँगरेजी की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना अधिक पसद करते थे। फिर शिक्षा का माध्यम अँगरेजी था, जिससे विद्यार्थी वर्ग सरकारी नौकरी वाले तथा इसी प्रकार के अन्य शिक्षित वर्ग अपनी अँगरेजी अच्छी बनाने के ख्याल से अँगरेजी की पत्र पत्रिकाएँ पढ़ा करते थे। इस प्रकार हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को समुचित सख्या में पाठक भी न मिल पाते थे। फिर आर्थिक कठिनाई सबसे ज़बरदस्त थी। कितने पत्र थोड़े

ही दिन चल कर आर्थिक कठिनाइयों के कारण बंद हो गए। हिन्दी दैनिक समाचार-पत्रों के पास इतना रुपया न था जो सीधे रायटर और असोसिएटेड प्रेस से समाचार ले सकते। फलतः वे अँगरेज़ी पत्रों से खबरें अनुवादित करके एक दिन बाद देते थे। इस कारण भी 'अर्जुन', 'वर्तमान', 'आज' आदि प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक पत्र बहुत कम पढ़े जाते थे। साप्ताहिक पत्र भी संख्या में बहुत कम थे। कानपुर से प्रकाशित होने वाला गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' ही एक मात्र अच्छा साप्ताहिक पत्र था। परंतु मासिक पत्र हिन्दी में कई थे जो हिन्दी भाषा और साहित्य की समुचित सेवा कर रहे थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों में 'सरस्वती' ही सब से अच्छी मासिक पत्रिका थी जिसने हिन्दी भाषा और साहित्य की अपूर्व और अनुपम सेवा की। 'मर्यादा', 'प्रभा', 'इन्दु' और 'माधुरी' इत्यादि पत्रिकाओं ने भी अच्छी सेवाएँ कीं और उनका भी जनता में काफ़ी प्रचार हुआ।

गंभीर साहित्य

इन पच्चीस वर्षों में गंभीर साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। पिछले अध्यायों में साहित्य के सभी रूपों का क्रमिक विकास विस्तारपूर्वक दिखलाया जा चुका है।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य की तीनों प्रधान शाखाओं का विकास हुआ। सरकार की शिक्षा-नीति के कारण स्कूल और कॉलेजों का शिक्षा-माध्यम अँगरेज़ी रहा और जनता में शिक्षा का प्रसार भी प्रतिशत दो अथवा तीन मनुष्यों तक ही रहा, जिससे उपयोगी साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं का संतोषजनक विकास न हो सका, परंतु हिन्दी भाषा के साहित्य का विकास बहुत ही संतोषजनक रहा। यद्यपि इसके विकास के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं, परंतु फिर भी यह अनेक शाखाओं

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द-कोष

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द-कोष

(क) अँगरेजी से हिन्दी

Action-reaction	क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघात
Action-story	कार्य-प्रधान कहानी
Adventure	भ्रमण-कहानी
Adventurers	साहसिक वीर
Adventurous story	साहसिक कहानी
Agnostic	अज्ञेयवादी
Allegory	अन्योक्ति
Allegorical lyrics	रूपक-गीति
Argumentative essays	तार्किक निबंध
Art for Art's sake	कला कला के लिए
Assimilation	मनोनिवेश
Aside	पृथक-भाषण
Atmosphere-story	वातावरण-प्रधान कहानी
Autobiographical style	आत्मचरित-शैली
Background	पृष्ठभूमि
Ballads	आख्यानक गीति
Biography	जीवन-चरित
Caricature	व्यंग्य चित्र
Chance	दैव-घटना
Character-painting	चरित्र-चित्रण
Character-story	चरित्र-प्रधान कहानी
Climax	चरम संधि
Coincidence	संयोग
Column	स्तंभ
Comparative criticism	तुलनात्मक समालोचना
Complex	[illegible]
Conflict	संघर्ष
Conversational style	संलाप-शैली
Creative imagination	सृजनात्मक कल्पना
Crisis	[illegible]

Dailies	दैनिक पत्र
Deification	दैवीकरण
Descriptive essay	वर्णनात्मक निबंध
Detective	जासूसी
Dialect	बोली
Dialogue	वार्तालाप, संलाप, सम्भाषण
Diction	भाषा-शैली, शैली
Didacticism	उपदेशवाद
Didactic literature	उपदेश-साहित्य
Didactic novel	उपदेश-उपन्यास
Didactic poetry	उपदेश-काव्य
Direction	निर्देशन
Dramatic effect	नाटकीय प्रभाव
Dramatic element	नाटक-तत्त्व
Dramatic Irony	नाटकीय व्यंग्य
Dramatic poetry	नाटक काव्य
Dramatic unity	नाटकीय ऐक्य
Dramaturgy	नाटकीय विधान
Drawing-room-literature	गोष्ठी-साहित्य
Drawing-room-theatre	गोष्ठी-रंगमंच
Elegy	शोक-गीति
Emphasis	प्रभावशालिता
Epic	महाकाव्य
Epic-element	महाकाव्य-तत्त्व
Epic-grandeur	महाकाव्य का गांभीर्य
Epistle	पत्र-गीति
Epistolatory style	पत्र-शैली
Experiment	प्रयोग
Expository essay	व्याख्यात्मक निबंध
Fact	सत्य, तथ्य

Fantastic story	अद्भुत कहानी
Fixed category	निश्चित वर्ग
Flow	गति-प्रवाह
Form	रूप
Formalism	नियमबद्धता
Hero	वीर, महावीर
High moment	महत् क्षण
High seriousness	उदात्त गम्भीरता
Idea	भाव
Idealism	आदर्शवाद
Impressionism	प्रभाववाद
Improvisation	पुनरावृत्ति
Individualisation	व्यक्तीकरण
Individualism	व्यक्तिवाद
Intellectualism	बुद्धिवाद
Journalism	पत्रकार-कला
Light-effect	प्रकाश
Lingua-Franca	सामान्य भाषा
Literary review	साहित्य समीक्षा
Local-colour	स्थान-चलन
Lyric	गीति
Lyric-element	गीति तत्त्व
Melodrama	अतिनाटकीय तत्त्व
Melodramatic situation	अतिनाटकीय प्रसंग
Metrical romance	प्रेमाख्यानक काव्य
Monotony	एकस्वरता
Monthlies	मासिक पत्र
Mood	वृत्ति
Mystery story	रहस्यपूर्ण कहानी
Mysticism	रहस्यवाद
Myth	पुराण-कथा

Narrative essay	कथात्मक अथवा आख्यानात्मक निबंध
Narrative poem	प्रबंध-काव्य
Narrative style	वर्णनात्मक शैली
National poetry	राष्ट्रीय कविता
National style	जातीय शैली
National theatre	राष्ट्रीय रंगमंच
Naturalism	प्राकृतवाद
Naturalistic novel	प्राकृतवादी उपन्यास
Naturalistic story	प्राकृतवादी कहानी
Nature	प्रकृति
Negative attribute	नकारात्मक उपाधि
Novel of character	चरित्र-प्रधान उपन्यास
Novel of incident	कथा-प्रधान उपन्यास
Novel of passion	भाव-प्रधान उपन्यास
Odes	संबोध-गीति
Onomatopoeia	ध्वन्यर्थ-व्यंजना
Opera	गीति-नाट्य
Painful melancholy	वेदनामय खिन्नता
Pantheistic poetry	सर्वचेतनवादी कविता
Parable	रूपक कथा
Personification	मानवीकरण
Philosophy of life	जीवन तत्त्व
Picaresque novel	साहसिक उपन्यास
Picture-painting	चित्र-चित्रण
Playwright	नाटककार
Plot	कथानक, कथा-वस्तु
Plot-story	कथानक-प्रधान कहानी
Poetic justice	काव्य-न्याय
Positive attribute	निश्चयात्मक उपाधि
Principles of literary criticism	समालोचना-सिद्धांत

Prosaic	गद्यात्मक
Public speaking or oratory.	वक्तृता
Realism	यथार्थवाद
Reflective essay	चिन्तनात्मक निबंध
Research	खोज
Revival	प्रतिवर्तन
Revivalism	प्रतिवर्तनवाद
Revivalist	प्रतिवर्तनवादी
Rhetoric style	अलंकृत शैली
Rhyme	अन्त्यानुप्रास, तुक
Rhyming scheme	अन्त्यानुप्रास-क्रम
Rhythm	लय
Romance	प्रेमाख्यान
Romanticism	स्वच्छंदवाद
Romantic criticism	स्वच्छंदवादी समालोचना
Romantic drama	आदर्शवादी नाटक
Romantic love	स्वच्छंद प्रेम
Romantic novel	कथा-प्रधान उपन्यास
Satire	व्यंग्य काव्य, व्यंग्य गीति
Scene-scenery	दृश्य-दृश्यान्तर
Search	खोज
Sensational drama	रोमांचकारी नाटक
Sense of proportion	समानुपात-बोध
Setting	पृष्ठभूमि
Significance	[illegible]
Sketch	रेखा-चित्र
Sociology	समाज-शास्त्र
Soliloquy	स्वगत-कथन
Song	गीत
Sound-suggestion	नाद-व्यंजना, नादानुसार

Speaking	भाषण-कला
Stage	रंगमंच
Stanza-poetry	पद्यबद्ध कविता
Story-interest	कथा-वैचित्र्य
Study	अध्ययन
Style	शैली
Subjective poetry	आभ्यंतरिक काव्य
Subjective prose	आभ्यंतरिक गद्य
Suggestiveness	व्यंजना
Superhuman	अतिमानुषिक
Supernatural	अतिप्राकृत
Symbolism	प्रतीकवाद
Technical term	पारिभाषिक शब्द
Theoretical romanticism.	सैद्धान्तिक स्वच्छंदवाद
Transferred epithet	विशेषण-विपर्यय
Transition period	परिवर्तन-काल
Travel	यात्रा
Turning point	संक्रमण विन्दु
Type	प्रकार-विशेष
Unity of design	विधान की एकता
Useful literature	उपयोगी साहित्य
Villain	खल नायक
Vocabulary	शब्द-भंडार
Weeklies	साप्ताहिक पत्र

(ख) हिन्दी से अँगरेज़ी

अज्ञेयवादी	Agnostic
अतिनाटकीय तत्त्व	Melodrama
अतिनाटकीय प्रसंग	Melodramatic situation
अतिप्राकृत	Supernatural
अतिमानुषिक	Superhuman
अद्भुत कहानी	Fantastic story
अध्ययन	Study
आध्यांतरिक काव्य	Subjective poetry
आध्यांतरिक गद्य	Subjective prose
अन्योक्ति	Allegory
अर्थत्व	Significance
अलंकृत शैली	Rhetoric style
अंत्यानुप्रास	Rhyme
अंत्यानुप्रास-क्रम	Rhyming scheme
आख्यानक गीति	Ballads
आख्यानात्मक निबंध	Narrative essay
आत्मचरित-शैली	Autobiographical style
आदर्शवाद	Idealism
आदर्शवादी नाटक	Romantic drama
उदात्त गंभीरता	High seriousness
उपयोगी साहित्य	Useful literature
उपदेश-उपन्यास	Didactic novel
उपदेश-काव्य	Didactic poetry
उपदेशवाद	Didacticism
उपदेश-साहित्य	Didactic literature
एकस्वरता	Monotony
कथानक, कथा-वस्तु	Plot
कथा प्रधान उपन्यास	Romantic novel, Novel of incident
कथानक प्रधान कहानी	Plot-story

कथात्मक निबंध	Narrative essay
कथा-वैचित्र्य	Story-interest
कला कला के लिए	Art for Art's sake
काव्य-न्याय	Poetic justice
कार्य-प्रधान कहानी	Action story
क्रिया-प्रतिक्रिया	Action-reaction
खल नायक	Villain
खोज	Search, Research
गति	Flow
गद्यात्मक	Prosaic
गीत	Song
गीति	Lyric
गीति-नाट्य	Opera
गीति-तत्त्व	Lyric-element
गोष्ठी रंगमंच	Drawing-room-theatre
गोष्ठी साहित्य	Drawing-room-literature.
घात-प्रतिघात	Action-reaction
चरम संधि	Climax
चरित्र-शैली	Biographical style
चरित्र-चित्रण	Character-painting
चरित्र-प्रधान उपन्यास	Novel of character
चरित्र-प्रधान कहानी	Character-story
चित्र-चित्रण	Picture-Painting
चिन्तनात्मक निबंध	Reflective essay
जातीय शैली	National style
जासूसी	Detective
जीवन-चरित्र	Biography
जीवन-तत्त्व	Philosophy of life
तुक	Rhyme
तुलनात्मक समालोचना	Comparative criticism

तार्किक निबंध	Argumentative essay
दृश्य दृश्यांतर	Scene-Scenery
दैवीकरण	Deification
दैनिक पत्र	Dailies
दैव-घटना	Chance
ध्वन्यर्थ-व्यंजना	Onomatopoeia
नकारात्मक उपाधि	Negative attribute
नाटककार	Playwright, dramatist
नाटक काव्य	Dramatic poetry
नाटकीय ऐक्य	Dramatic Unity
नाटकीय तत्त्व	Dramatic element
नाटकीय प्रभाव	Dramatic effect
नाटकीय विधान	Dramaturgy
नाटकीय व्यंग्य	Dramatic Irony
नाद-व्यंजना	Sound-suggestion
नियमबद्धता	Formalism
निर्देशन	Direction
निश्चयात्मक उपाधि	Positive attribute
निश्चित वर्ग	Fixed category
पत्रकार-कला	Journalism
पत्र गीति	Epistle
पत्र-शैली	Epistolatory style
पदबद्ध कविता	Stanza-poetry
परिपार्श्व	Setting
परिवर्तन काल	Transition period
पारिभाषिक शब्द	Technical term
पुनरावृत्ति	Improvisation
पुराण-कथा	Myth
पृथक्-भाषण	Aside
पृष्ठभूमि	Background
प्रकार-विशेष	Type

प्रकाश	Light effect
प्रकृति	Nature
प्रतिवर्तन	Revival
प्रतिवर्तनवाद	Revivalism
प्रतिवर्तनवादी	Revivalist
प्रतीकवाद	Symbolism
प्रबंध-काव्य	Narrative poetry
भाववाद	Impressionistic
प्रभावशालिता	Emphasis
प्रयोग	Experiment
प्रवाह	Flow
प्राकृतवाद	Naturalism
प्राकृतवादी उपन्यास	Naturalistic novel
प्राकृतवादी कहानी	Naturalistic story
प्रेमाख्यानक काव्य	Metrical romance
प्रेमाख्यान	Love romances
बुद्धिवाद	Intellectualism
बोली	Dialect
भाव	Idea
भाव-प्रधान उपन्यास	Novel of passion
भाषण-कला	Speaking
भाषा-शैली	Diction
भ्रमण-कहानी	Adventure
मनोनिवेश	Assimilation
महत् क्षण	High moment
महाकाव्य	Epic
महाकाव्य का गांभीर्य	Epic-grandeur
महाकाव्य-तत्त्व	Epic-element
महावीर	Hero
मानवीकरण	Personification
मासिक पत्र	Monthlies

मिश्र	Complex
यथार्थवाद	Realism
रहस्यपूर्ण कहानी	Mystery story
रहस्यवाद	Mysticism
रंगमंच	Stage
राष्ट्रीय कविता	National poetry
राष्ट्रीय रंगमंच	National stage
रूप	Form
रूपक कथा	Parable
रूपक गीति	Allegoricl lyric
रेखा चित्र	Sketch
रोमांच	Romance
रोमांचकारी नाटक	Sensational drama
लय	Rhythm
लाक्षणिकता	Significance
वक्तृता	Public speaking or Oratory.
वर्णनात्मक निबंध	Descriptive essay
वर्णनात्मक शैली	Narrative style
वातावरण-प्रधान कहानी	Atmosphere-story
वार्तालाप	Dialogue
विधान की एकता	Unity of design
विशेषण-विपर्यय	Transferred epithet
वीर	Hero
वृत्ति	Mood
वेदनामय विकलता	Painful Melancholy
व्यक्तिवाद	Individualism
व्यक्तीकरण	Individualisation
व्यंग्य-काव्य	Satire
व्यंग्य चित्र	Caricature
व्यंजना	Suggestiveness

व्याख्यात्मक निबध	Expository essay
शब्द-भडार	Vocabulary
शैली	Style
शोक गीति	Elegy
सत्य	Fact
समाज-शास्त्र	Sociology
समानुपात बोध	Sense of proportion
समालोचना-सिद्धात	Principles of literary criticism.
सर्वचेतनवादी कविता	Pantheistic poetry
सक्रमण-बिन्दु	Turning point
सक्राति	Crisis
सघर्ष	Conflict
सबोध-गीति	Odes
सभाषण	Dialogue
सयोग	Coincidence
सलाप	Dialogue
सलाप शैली	Conversational style
साप्ताहिक पत्र	Weeklies
सामान्य भाषा	Lingua-Franca
साहसिक उपन्यास	Picaresque novel
साहसिक कहानियाँ	Adventurous story
साहसिक वीर	Adventurer
साहित्य-समीक्षा	Literary review
सृजनात्मक कल्पना	Creative imagination
सैद्धातिक स्वच्छदवाद	Theoretical Romanticism
स्तभ	Column
स्थान-चलन	Local-colour
स्वगत-भाषण	Soliloquy
स्वच्छदवाद	Romanticism
स्वच्छद प्रेम	Romantic love
स्वच्छदवादी समालोचना	Romantic criticism

अनुक्रमणिका

(क) लेखक-सूची

प० ५१

व्याख्यात्मक निबंध	Expository essay
शब्द-भंडार	Vocabulary
शैली	Style
शोक गीति	Elegy
सत्य	Fact
समाज-शास्त्र	Sociology
समानुपात बोध	Sense of proportion
समालोचना-सिद्धांत	Principles of literary criticism.
सर्वचेतनवादी कविता	Pantheistic poetry
संक्रमण-विन्दु	Turning point
संक्रांति	Crisis
संघर्ष	Conflict
संबोध-गीति	Odes
संभाषण	Dialogue
संयोग	Coincidence
संलाप	Dialogue
संलाप शैली	Conversational style
साप्ताहिक पत्र	Weeklies
सामान्य भाषा	Lingua-Franca
साहसिक उपन्यास	Picaresque novel
साहसिक कहानियाँ	Adventurous story
साहसिक वीर	Adventurer
साहित्य-समीक्षा	Literary review
सृजनात्मक कल्पना	Creative imagination
सैद्धांतिक स्वच्छंदवाद	Theoretical Romanticism
स्तंभ	Column
स्थान चलन	Local-colour
स्वगत-भाषण	Soliloquy
स्वच्छंदवाद	Romanticism
स्वच्छंद प्रेम	Romantic love
स्वच्छंदवादी समालोचना	Romantic criticism

अनुक्रमणिका

(क) लेखक-सूची

(ख) पुस्तक-सूची

कारों ने सम्राट् के लिए आभूषण बनाए, कवियों ने उनके वैभव का गान गाया, गवैयों और नर्तकों ने उनका मन बहलाया। काव्य कला में एक महान् परिवर्तन हुआ। ऋषियों के स्थान पर राजसभासदों ने कवि और दार्शनिक का उच्च आसन ग्रहण किया। वाल्मीकि और व्यास का स्थान कालिदास और बाण, चंद और नरपति नाल्ह, बिहारी और पद्माकर ने ले लिया। काव्य की नैसर्गिक-अनुष्टुप् धारा के स्थान पर कलापूर्ण महाकाव्य, खंडकाव्य, नाटक इत्यादि की रचनाएँ होने लगीं, जिसमें आर्य-सभ्यता के स्थान पर आर्य-सम्राटों के वैभव गान गाये गये। अँगरेजी राज्य के आविर्भाव से वैश्यों की प्रभुता स्थापित हुई और साहित्य एवं कला के दृष्टिकोण में महान् परिवर्तन हुआ। शिक्षा-प्रसार के कारण जनता अधिक संख्या में शिक्षित होने लगी। अँगरेजी राज्य से पहिले शिक्षित जनता का अभाव था, काव्य और साहित्य राज सभा की वस्तु थी जिसमें साधारण मनुष्य की भावनाओं और विचारों के लिए स्थान न था। अँगरेजी राज्य में राजसभात्मक साहित्य का लोप होने लगा। एक ओर स्कूलों और कॉलेजों ने शिक्षा का प्रचार किया, दूसरी ओर मुद्रण-यन्त्र से सस्ती पुस्तकें छपने लगीं, जिन्हें निर्धन व्यक्ति भी खरीद कर पढ़ सकता था। पत्र पत्रिकाओं के द्वारा सामयिक साहित्य सरलता-पूर्वक जनता के पास पहुँचने लगा कला और साहित्य का केन्द्र राजसभाओं से उठ कर शिक्षित जनता में आ गया और साधारण जनता के व्यक्ति कवि और दार्शनिक रूप में अवतरित होने लगे।

साहित्य के जन-साधारण की वस्तु होने पर उसमें अनेक परिवर्तन हुए, जिनमें मुख्य दो हैं: काव्य की भाषा का ब्रज से खड़ी बोली होना और गद्य-साहित्य तथा उपयोगी साहित्य का विस्तार और प्रगति।

शिक्षा-प्रसार मुद्रण-कला और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से जब साहित्य का केन्द्र राजसभा से उठकर शिक्षित जनसमाज में आ गया, तब काव्य की ब्रजभाषा और शिक्षित जनता की भाषा, खड़ी बोली, के बीच एक महान् अंतर जनता को असह्य हो उठा। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर अयोध्या प्रसाद खत्री और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ब्रजभाषा के विरुद्ध झंडा उठाया, और ब्रजभाषा कवियों और साहित्यिकों के भीषण विरोध करने पर भी काव्य की भाषा खड़ी बोली हो गई। उनकी सफलता का कारण जनता की इच्छा थी। इस आंदोलन के अतिरिक्त स्वयं ब्रजभाषा-कविता में भी विनाश के अंकुर थे। बदरीनाथ भट्ट के शब्दों में, "भाषा

के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है, जब असली कवित्व-शक्ति न रहने पर भी लोग बनावटी भाषा में कुछ भी भला बुरा लिखकर शब्दों की खींचातानी दिखाते हुए अपनी लियाकत का इज़हार करते हैं और चाहे जैसी अश्लील या अनर्गल बात को छंद के खोल में छिपा हुआ देख, लोग उसी को कविता समझने और समझाने लगते हैं।"* उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रजभाषा-कविता इसी अवस्था को पहुँच गई थी। कविगण अनुप्रास और यमक का जाल फैलाकार 'दूर की कौड़ी' लाने का प्रयास करते थे। काव्य परंपरा और रूढ़ियों की सहायता से वे शाब्दिक इन्द्रजाल की रचना करते थे। उदाहरण के लिए प्रतापसाहि का एक प्रसिद्ध सवैया लीजिए :

> सीख सिखाई न मानति है, बर ही बस संग सखीन के आवै,
> खेलत खेल नए जल में, बिना काम, वृथा कत जाम बितावै।
> छोड़ि कै साथ सहेलिन को, रहि कै कहि कौन सवादहि पावै ?
> कौन परी यह बानि, अरी ! नित नीरभरी गगरी ढरकावै।

नायिका-भेद की दुरूह रूढ़ियों और काव्य-परंपरा से अपरिचित पाठकों के लिए यह सवैया एक पहेली मात्र है। रूढ़िगत अलंकारों के भार से लदी हुई यह काव्य की भाषा प्रगति के मार्ग पर बढ़ने में असमर्थ थी। परिवर्तन अत्यावश्यक हो गया था और यह परिवर्तन खड़ी बोली के रूप में उपस्थित हुआ। गद्य की भाषा बहुत पहले से खड़ी बोली हो गई थी। अस्तु, बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की प्रगति और विकास खड़ी बोली-साहित्य का इतिहास है।

शिक्षित जनसमाज की भाषा और साहित्यिक भाषा के एक होने से हमारे साहित्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। रीतिकालीन पर्वत वृद्धि के स्थान पर आधुनिक वृक्ष-वृद्धि से साहित्य के सभी अंगों की पुष्टि हुई। हमारे साहित्य में कालिदास के समय से ही साहित्यिक भाषा और जनसमाज की भाषा में महान् अंतर पाया जाता है। मध्यकालीन राजपूत-काल में, जब कि जनता की भाषा प्राकृत अथवा अपभ्रंश थी, साहित्य में देवभाषा संस्कृत का ही मान था। शायद इसी कारण संस्कृत में प्रबंध-काव्य और

*वर्तमान हिन्दी-काव्य की भाषा—सरस्वती, फरवरी १९१२

गीति-काव्यों का अभाव-सा मिलता है। कालिदास, भारवि, माघ के काव्य नदी की धारा के समान प्रवाहित नहीं होते। प्रबंध तथा गीति-काव्यों में जिस गति-वेग, लघुता, मधुरता और सरलता की आवश्यकता होती है वह कृत्रिम संस्कृत भाषा में मिलना असम्भव है। भक्ति के उत्थान काल में हमारी साहित्यिक भाषा और जनसमाज की भाषा का संयोग बन पड़ा था और उसी समय साहित्य की सर्वतोमुखी वृद्धि हुई थी। तुलसी और जायसी ने अवधी भाषा में सफल काव्यों की रचना की, सूर, मीरा और अष्टछाप के अन्य कवियों ने कृष्ण-लीला के मधुर पद गाये, केशव, रहीम और गंग ने मुक्तक-काव्य की रचना की और गद्य साहित्य भी वार्त्ताओं के रूप में विकसित हुआ। परन्तु जब काव्य की ब्रजभाषा जनता की भाषा से दूर हट गई, तब मुक्तक छंदों का पहाड़ सा खड़ा होने लगा। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब शिक्षित जनसमाज की खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा का पद प्राप्त हुआ तब साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति और विकास का मार्ग वाधारहित हो गया।

साहित्य के जनसाधारण की वस्तु होने से गद्य साहित्य की भी विशेष उन्नति हुई। उन्नीसवीं शताब्दी ने पहले पहल गद्य की परंपरा चलाई और गद्य-शैली को जन्म दिया, परंतु गद्य साहित्य की प्रधानता उपन्यास और उपयोगी साहित्य के कारण हुई जिनका वास्तविक विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ। मध्यकाल में जब विद्याध्ययन और शिक्षा केवल कुछ श्रीमानों तक ही सीमित थी, (साधारण जनता मौखिक कथा-वार्ता तथा उपदेशों से ही संतोष कर लेती थी, परंतु जब शिक्षा का प्रचार बढ़ने लगा तब पान की दूकान पर बैठे हुए दूकानदारों, रेलगाड़ी में आधे ऊँघते हुए यात्रियों तथा काम-काज से छुट्टी पाए हुए शिक्षित नर-नारियों को समय काटने के लिए कथा कहानियों की आवश्यकता हुई। इस प्रकार उपन्यासों की रचना होने लगी और 'चन्द्रकांता' से प्रारंभ होकर क्रमशः साहित्यिक उपन्यासों की सृष्टि होने लगी।

आधुनिक काल में उपयोगी साहित्य का भी महत्व बढ़ने लगा। पश्चिमी सभ्यता के विस्तार से लेखकगण ऐसे नवीन विचारों से अवगत होने लगे जो केवल छंदों में व्यक्त नहीं हो सकते थे। विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान साधारण जनता की सम्पत्ति हो चले थे और प्रतिदिन लोग अधिक संख्या में इनके सीखने का प्रयत्न कर रहे थे। ये विद्याएँ हमारे यहाँ पहले भी थीं, परंतु इन्हें लोग संस्कृत के माध्यम से ही सीखते थे और वह भी केवल अपने

ही लिए; जनता में प्रचार करने की प्रवृत्ति उनमें न थी। पश्चिम के संसर्ग से हमने ज्ञान और सत्य का प्रचार करना सीखा। इस उदारता ने हमें भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान पुस्तकों के रूप में प्रकट करने को वाध्य किया, जिसके फलस्वरूप उपयोगी साहित्य का निर्माण हुआ, परतु जब इन नवीन विचारों को अपनी भाषा में लिखने की आवश्यकता पड़ी, तब हमें अपनी भाषा का अभाव ज्ञात हुआ। हिन्दी का शब्द-भडार इतना अपर्याप्त था कि विचार स्पष्टतापूर्वक व्यक्त नहीं किए जा सकते थे और हमें विवश हो कर संस्कृत, बॅगला और ऑगरेज़ी से शब्द लेने पड़े।

आधुनिक साहित्य में महान् परिवर्तन उपस्थित करने वाला दूसरा कारण पश्चिमी भावों और विचारों का प्रभाव तथा पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। आधुनिक शिक्षा की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—यह आलोचनात्मक और वैज्ञानिक है। यह सदेह का पोषण करती है और गुरुडम की विरोधी है; प्रकृति की भौतिक सत्ताओं पर विश्वास करती है और अतिभौतिक अथवा अभौतिक सत्ताओं का अविश्वासी है; व्यक्तिगत स्वाधीनता की घोषणा करती है और रूढ़ियों, परपराओं तथा अधविश्वासों की शत्रु है। यह बुद्धिवाद, अध-भक्ति का ठीक उलटा है और इससे हमारे दृष्टिकोण में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ गया है। भारत का सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि हमारे यहाँ बाह्य आचारों और उपकरणों ने वास्तविक धर्म और साहित्य को ढँक सा लिया। हम छुआछूत, खानपान और विवाह-संबंध में बड़ी पवित्रता रखते हैं, परतु सत्य और अहिंसा का उतनी परवाह नहीं करते। हमारी कविता में छदों की गति और यति मिलती है, उत्तम, मध्यम और अधम अत्यानुप्रास हैं, अलकारों की भरमार है, रूढ़ियों और परपराओं का अध अनुसरण है, परतु वास्तविक कवित्व का पता नहीं। परतु जब पश्चिमी सभ्यता के सपर्क से नया ज्ञान, नए आदर्श, नए विश्वास और नए सदेह जहाज़ों से लदकर हमारे देश में आने लगे, तब हमारी ऑखे खुली, हमने देखा कि मोतियों के बदले हमारे हाथ में कॉच ही रह गये हैं।

अस्तु, प्राचीन परपरावाद के स्थान पर इस युग में आधुनिक वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण का स्वागत किया गया। बुद्धिवाद पहले प्राचीन अध-विश्वासों का विनाश करता है और फिर प्रस्तुत उपकरणों से प्रयोगात्मक रीति पर चलकर नवीन सिद्धातों का प्रतिपादन करता है। आधुनिक साहित्य में भी ठीक ऐसा ही हुआ। पहले-पहल साहित्यिक भाषा की परपरा का विरोध हुआ और फिर प्राचीन साहित्यिक विधानों, विकृत और अप्रचलित शब्दों

तथा व्याकरण की प्राचीन रूढ़ियों पर कुठाराघात किया गया। प्राचीन नियमों, रूढ़ियों और विधानों की तीव्र आलोचना हुई और नए नियमों और सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ। बिहारी के जिन दोहों पर रीति कवियों को अभिमान था वे अब उपहास की सामग्री बन गए। इस विरोध के पश्चात प्रयोग (Experiment) का युग आता है जिसमें छंद, भाषा और शब्द के संबंध में अनेक प्रयोग हुए।

इस प्रयोग-प्रवृत्ति से साहित्य के सभी प्रस्तुत उपकरणों को अनेक रूप-रूपांतरों में मिलाकर विविध साहित्यिक रूपों का प्रचार हुआ। उपन्यास में महाकाव्य-तत्व (Epic element) के सम्मिश्रण से घटना-प्रधान, नाटक तत्व (Dramatic element) के सम्मिश्रण से चरित्र-प्रधान, और गीति तत्व (Lyric element) के योग से भाव प्रधान उपन्यासों की रचना हुई। इसी प्रकार कविता में आख्यानक काव्य, गीति, प्रेमाख्यानक, काव्य, प्रबंध-मुक्तक, महाकाव्य, खंडकाव्य इत्यादि विविध रूपों का प्रचार हुआ। सभी प्रकार के वर्णिक, मात्रिक और मुक्तक छंद और साथ ही साथ ग़ज़ल, क़व्वाली, उमर खैयाम के रुबाइयात और अँगरेज़ी 'सॉनेट' के अन्त्यानुप्रास-क्रम (Rhyming-scheme) का भी प्रयोग किया गया। गद्य-रचना में काव्य के सभी गुणविशेष और अलंकारों का आरोप हुआ और गद्य में 'लय' (Rhythm) लाने का सफल प्रयत्न किया गया। शैली के भी विविध प्रयोग हुए। सारांश यह कि इस प्रयोग-प्रवृत्ति से साहित्य को सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिला और विविध प्रकार के नवीन साहित्यिक रूपों का आविष्कार और विकास हुआ।

बुद्धिवाद का दूसरा प्रभाव आधुनिक साहित्य का यथार्थवाद की ओर झुकाव है। प्राचीन कवि अधिकांशतः भावों की व्यंजना करते थे, सत्यों की नहीं। उदाहरण के लिए सेनापति का एक कवित्त लीजिए :

दूरि जदुराई 'सेनापति' सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियो,
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी सौ
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियों।
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियो,
बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियो।

यहाँ कवि ने इतनी नाप-तोल तो कर ही डाली थी कि विरहिणियों के लिए सावन की रात बावन के डग से किसी प्रकार छोटी नहीं है, परंतु उन्हें यह स्वप्न में भी ध्यान न आया होगा कि भोजन पकाने वाली नायिका की गीली लकड़ियों से कितनी दुर्दशा होती है। सत्यों की ओर उन कवियों का ध्यान ही न जाता था। परंतु बुद्धिवाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रभाव से आधुनिक कवि यथार्थवाद की ओर झुके। देखिए सत्यनारायण कविरत्न हेमंत का कितना यथार्थ चित्रण करते है:

> **रबी जहाँ सींची जावे, तहँ गेहूँ जौ लहराँय।**
> **सरसों सुमन प्रफुल्लित सोहैं, अलि माला मँडराय।**
> **प्रकृति दुकूल हरा धारण कर, आनन अपना खोल,**
> **हाव भाव मानहुं बतलावै; ठाढ़ी करै कलोल।**
> **बरहा खोदत श्रमी कृषक वर, जल नहिँ कहुँ कढ़ि जाय,**
> **सुरपी और फावरा कर गहि, क्यारी काटहिँ धाय।**
> **चरसा गहैं 'राम आये' कहि, गाय गीत ग्रामीन,**
> **जीवन हेत देत खेतन कहँ, जीवन नित्य नवीन। इत्यादि।**

[सरस्वती, जनवरी १९०४]

इस यथार्थवाद का विशेष प्रभाव नाटक, उपन्यास और कहानियों में मिलता है। यथार्थवाद ने क्रमशः आदर्शवाद को पीछे छोड़ दिया। नाटकीय-विधानों (Dramaturgy) में यथार्थवादी परिवर्तन तथा अतिभौतिक सत्ताओं का साहित्य से निराकरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

परंतु बुद्धिवाद की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन स्वच्छंदवाद (Romanticism) की प्रवृत्ति का विकास थी। इसका आरंभ साहित्यिक रूढ़ियों और पांडित्य-प्रदर्शन के विरोध से हुआ। जनता ने इस नवीन प्रवृत्ति का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। इस विरोध के फल-स्वरूप जिस खड़ी बोली-कविता के दर्शन हुए उसमें काव्यत्व नाम मात्र को भी नहीं था। कई वर्षों तक टूटी-फूटी भाषा में केवल इतिवृत्तात्मक छंदों की भरमार रही, फिर भी उनके प्रति जनता का उत्साह निरंतर बढ़ता ही गया, क्योंकि उनमें रीति-कवियों की रूढ़िगत-परंपरा और साहित्यिक पांडित्य की गंध न थी। इसके अतिरिक्त उनमें प्रेम का विशुद्ध रूप और भावनाओं की उच्चता भी मिलती है। रीतिकालीन प्रेम इन्द्रियजन्य था। बिहारी के जिन दोहों पर गजा

जयसिंह ने एक एक स्वर्णमुद्रा पुरस्कार में दी थी, वे आधुनिक साहित्यिकों को सतुष्ट न कर सके वरन् उपहास का सामग्री बन गए। किन्तु पश्चिमी सभ्यता के ससर्ग से दीन और दलितों के प्रति उदार भावना का उदय हुआ। समाज में स्त्रियों का आदर बढ़ने लगा। वे नायिका-भेद की प्रोषितपतिका और अभिसारिका न रहीं, वरन् उनमें सीता और द्रौपदी के उच्च चरित्र और पवित्र भावना की अवतारणा होने लगी।

पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव ने जिस स्वच्छन्दवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला, अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन से वह और भी अधिक पुष्ट और शक्तिमान् हो गया। शेक्सपियर के नाटक, स्कॉट के उपन्यास तथा शेली और कीट्स की कविताएँ स्वच्छन्दवाद की भावना से ओत-प्रोत थीं। शेक्सपियर की नायिकाओं—ऑफीलिया, मारांडा, पोर्शिया और जूलियट—ने भारतीय मस्तिष्क पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। अँगरेज़ी कविता, नाटक और उपन्यासों में नारीत्व की भावना रीतिकाल के नायिका-भेद से कहीं अधिक उच्च और पवित्र है। अगरेज़ी साहित्य के अध्ययन से रीतिकालीन परपरा और भावना के प्रति विरोध का भाव उदय होने लगा और प्राचीन साहित्यिक नियमों, विधानों और आदर्शों की अवहेलना होने लगी। हमारी रुचि प्राचीन सस्कृत साहित्य और अँगरेज़ी साहित्य की ओर मुड़ चली।

स्वच्छदवाद की प्रवृत्ति को पुष्ट करने के अतिरिक्त अँगरेज़ी साहित्य का प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य की शैली, काव्य-शास्त्र, रूप और उपादानों पर भी यथेष्ट मात्रा में पड़ा। उसने नवीन साहित्यिक रूपों के लिए नमूने और आदर्श उपस्थित किए, नए विषयों की ओर सकेत किया, हमारे शब्द भडार की वृद्धि की, समालोचना के लिए नए-नए सिद्धात दिए और कला की भावना को प्रोत्साहन प्रदान किया। परन्तु साथ ही उसने हिन्दी का अहित भी किया। कितने उत्साही युवक अँगरेज़ी साहित्य पढ़ पढ़ कर अनगिनती 'वादों' के दल-दल में फँस गए। कला कला के लिए' वाद ने तो हिन्दी में 'घासलेटी' साहित्य की सृष्टि की जिससे हिन्दी जनता और साहित्य दोनों का अहित हुआ। फिर इसी के प्रभाव से हमारा सयम का बाँध टूट गया और उच्छृंखलता तथा प्रलाप की धारा में सारा साहित्य बह चला।

अँगरेज़ी साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी पर बँगला साहित्य का भी विशेष ऋण है। वास्तव में यह ऋण भी अँगरेजी साहित्य का ही है क्योंकि बँगला साहित्य ही अँगरेज़ी साहित्य से प्रभावित हुआ। अतर केवल इतना ही है कि वह ऋण अँगरेज़ी सिक्कों में नहीं वरन् भारतीय सिक्कों में था जिसके

कारण हमें विनिमय की झंझटों से छुटकारा मिल गया। विदेशी भावों तथा विचारों के अनुकरण के लिए उन विचारों का पूर्ण रूप से नोनिवेश (Assimilation) और अपने वातावरण में रूपांतरित करना अत्यावश्यक होता है। बँगला साहित्य से हमें पाश्चात्य विचार मनोनिवेशित और रूपातरित होकर मिले। द्विजेन्द्रलाल के नाटकों में हमें पाश्चात्य नाटकीय विधानों का भारतीय वातावरण के अनुरूप रूपातर मिला, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीति-काव्यों में पाश्चात्य काव्य-कला का समावेश था और बकिम चद्र के उप-न्यासों में स्कॉट की कला भारतीय भूषा में मिली। इससे हिन्दी के लिये अनु-करण का मार्ग बहुत ही सुगम हो गया और हमारे लेखक बँगला का अनुकरण और अनुसरण करने लगे। इसी कारण हिन्दी इतने थोड़े समय मे इतनी उन्नति कर सकी।

परिवर्तन की प्रक्रिया

आधुनिक काल का प्रारंभ १८३७ ईसवी से होता है जब कि दिल्ली में एक लिथोग्रैफिक प्रेस (Lithographic Press) की स्थापना हुई। इससे पहले भी कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज से कुछ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुई, परतु वे सख्या में बहुत कम थीं और उनका महत्त्व भी विशेष न था। १८३७ से हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन अबाध गति से चलता है। १८३७ के पश्चात् और भी कितने प्रेस खुले जिनमें धार्मिक ग्रंथों के साथ ही साथ संस्कृत साहित्य के काव्य और नाटक भी सस्ते दामों निकलने लगे। अँगरेजी स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षित युवकों की संख्या भी क्रमशः बढ़ती जा रही थी। इस प्रकार एक ओर हमारी प्राचीन शिक्षा और साहित्य का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के सपर्क से सामा-जिक और राजनीतिक स्वातत्र्य की भावना जड़ जमा रही थी। ज्ञान के उदय से लोगों में चेतना आ रही थी और फलतः परिवर्तन की भावना जाग्रत होने लगी। प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति को अपनी वर्तमान दशा का अनुभव होने लगा और वह जीवन तथा साहित्य के प्रत्येक विभाग में परिवर्तन और विकास के लिए व्याकुल हो उठा।

इन नवीन परिस्थितियों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य मूलतः एक गोष्ठी-साहित्य (Drawing-room-Literature) था जिसे कुछ इने-गिने साहित्यिक ही समझ सकते थे। कवि